बीसवी सदी की सौ कहानियाँ

सं० सुरेन्द्र तिवारी

किसी भी कालखंड की रचनाधर्मिता को, रचनात्मक शक्ति को, विकास को समझने के लिए जरूरी होता है कि उस कालखंड की कुछ विशिष्ट रचनाओं को एकसाथ देखा जांचा-परखा जाये। बीसवीं सदी हिन्दी कहानी के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण सदी रही है। हिन्दी कहानी की शुरुआत, उसका उत्थान-पतन अनेकानेक आन्दोलनों-नारों-वादों के बीच से उसका उभरता मिटता चेहरा और सब कुछ से छनकर बची हुई आज की कहानी। **'बीसवीं सदी की सौ कहानियां'** में संकलित एक सौ कहानियों के माध्यम से बीती शताब्दी के कथा-साहित्य को समग्रता से समझने की कोशिश है। कुछ खास कहानियों को अलग-अलग पढ़ना और बहुत सारी कहानियों को एक साथ पढ़ना अलग-अलग अर्थ रखता है। और फिर यह भी कि गुजरी सदी के साथ-साथ ही हिन्दी कहानी भी अपनी शतायु पूरी कर चुकी है और अब वह इस स्थिति में है कि उसका पुनः आकलन, पुनरावलोकन, पुनर्मूल्यांकन हम कर सकें।

'बीसवीं सदी की सौ कहानियां' चार खंडों में विभाजित है और हर खंड में ऐसी कहानियां संकलित हैं जो अपने प्रकाशन काल में और उसके बाद भी पाठकों-लेखकों-आलोचकों के लिए विचार-बिन्दु रही हैं, जो हिन्दी कहानी के विकास में मील का पत्थर सिद्ध हुई हैं और जिनकी चर्चा के बिना हिन्दी कथा-साहित्य के इतिहास को हम अधूरा ही मानेंगे।

सुपरिचित कथाकार सुरेन्द्र तिवारी द्वारा संपादित एक ऐसा विशिष्ट संकलन जो बीसवीं सदी की कहानी के पूरे परिदृश्य को कहानियों के माध्यम से हमारे सामने रखता है।

बीसवीं सदी की सौ कहानियाँ

बीसवीं सदी की सौ कहानियाँ

खण्ड-1

संपादक

सुरेन्द्र तिवारी
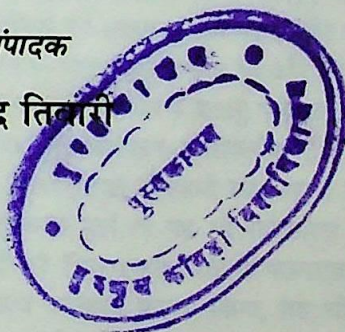
नमन प्रकाशन

नई दिल्ली-110002

नमन प्रकाशन

प्रथम संस्करण 2001
ISBN 81-87368-66-7

नितिन गर्ग द्वारा नमन प्रकाशन 4378/4B अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-2 के लिए प्रकाशित। के० के० ग्राफिक्स, प्रशांत विहार द्वारा शब्द संयोजन तथा तरुण आफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली-53 में मुद्रित।

BEESVEEN SADI KI SAU KAHANIYAN *edited by Surendra Tiwari*

अपनी बात

अपनी बात एक प्रश्न से ही शुरू करना चाहूंगा कि बीसवीं सदी की सौ कहानियों को संकलित करने का प्रयोजन क्या है? न जाने कितने-कितने संग्रहों और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से कितनी-कितनी बार ये कहानियां पाठकों तक पहुंची हैं, फिर पुनः उन्हें प्रस्तुत करने का कारण?

कारण है इन कहानियों के माध्यम से बीसवीं सदी के कथा साहित्य को समग्रता से समझने की कोशिश। कुछ खास कहानियों को अलग-अलग पढ़ना और बहुत सारी खास कहानियों को एक साथ पढ़ना अलग-अलग अर्थ रखता है। और फिर यह भी कि गुजरी सदी के साथ-साथ ही हिन्दी कहानी भी अपनी शतायु पूरी कर चुकी है– और अब वह इस स्थिति में है कि उसका पुनः आकलन, पुनरावलोकन, पुनर्मूल्यांकन हम कर सकें। सन् 1900 में प्रकाशित किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती' से अगर हम समकालीन कहानी की शुरुआत मानें तो यह भी स्वीकारना होगा कि बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ होते ही हिन्दी की जिस रचना विधा ने परम्परावादी सृजन अवधारणाओं को तोड़ते हुए अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम किया, वह थी कहानी। काव्य का वर्चस्व तो हमेशा रहा है, पर कहानी, जो सन् 1900 से पहले अपने रूपरंग की खोज में थी, 'इन्दुमती' तक आकर आकार पा गई थी। यह अलग बात है कि इसकी मूलकथा पर शेक्सपीयर के 'टेम्पेस्ट' की छाया देखी गई है, इसलिए यह मौलिक कहानी नहीं मानी जाती। अगर इस दृष्टि से आज की कहानियों पर हम विचार करें तो न जाने कितनी सारी कहानियां अमौलिक सिद्ध हो जायेंगी। आज का अधिकांश हिन्दी लेखक विदेशी साहित्य पढ़ता है और वहां से वह कितना माल अपने लिए चुराता है, यह खोज का विषय है। कई तो अपने ही देश की दूसरी भाषाओं की 'चीजों' को अपना बताकर प्रस्तुत कर देते हैं। 'इन्दुमती' पर तो शेक्सपीयर की सिर्फ 'छाया' पड़ी थी, यहां आज तो लोग पूरे थीम का ही कायाकल्प कर देते हैं। खैर! यहां मेरा उद्देश्य किसी कहानी या कहानीकार की सत्यता या मौलिकता की खोज करना नहीं है। मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि हिन्दी कहानी का स्वरूप 'इन्दुमती' से ही उभरा। यह ऐतिहासिक सच्चाई है कि उससे पहले भी कहानी लिखने की

कोशिश की गई। मसलन इंशाअल्लाह खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' जो 'इन्दुमती' से भी सौ साल पहले लिखी गई थी और सन् 1803 में प्रकाशित हुई थी, किंतु कथा-तत्वों के अभाव के कारण, साथ ही चमत्कारिक घटनाओं और वस्तु-वर्णन की पारम्परिक शैली के कारण आधुनिक अर्थ में वह 'कहानी' नहीं कही जा सकती। इसके अलावा भी कथा रूप में लिखी गई कुछ अन्य रचनाएं हैं—'एक जमींदार का दृष्टांत' (रेवरेंड न्यूटन), 'प्रणयिनी परिणय' (किशोरीलाल गोस्वामी), 'सुभाषित रत्न' (माधवराव सप्रे) आदि।

तात्पर्य यह कि हिन्दी कहानी का कोई बहुत लंबा इतिहास नहीं है, विश्व की कई भाषाओं की तरह, पर इन एक सौ सालों में ही हिन्दी कहानी में जितने उतार-चढ़ाव आए, जितनी तेजी से इसका उत्थान-पतन हुआ, जितने नारों-आन्दोलनों, वाद-विवादों के बीच यह घिरी-उभरी, इसका एक रोचक इतिहास है। और इस इतिहास को रेखांकित करनेवाली अनेक कृतियां—लेख, निबंध, आलोचनाएं आदि उपलब्ध हैं। इसलिए उन्हीं तथ्यों और सत्यों का यहां दुहराना निरर्थक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और श्यामसुन्दर दास से लेकर समकालीन अनेक चिंतकों, आलोचकों, लेखकों ने कहानी पर खूब लिखा है, खूब चिंतन किया है और आज भी कर रहे हैं। इसलिए यहां मेरा उद्देश्य न तो कहानी के इतिहास को दोहराना है न ही कोई आलोचनात्मक पृष्ठभूमि तैयार करना, बल्कि बीती सदी में लिखी गईं कई हजार कहानियों में से कुछ कालजयी रचनाओं का चयन ही मेरा मूल उद्देश्य रहा है, जिसके माध्यम से आज का पाठक कहानी के रचनात्मक विकास को समझ सके, उसका रसास्वादन कर सके।

कहानी को समझने-परखने के लिए लेखकों-आलोचकों ने इसे अलग-अलग काल खंडों में विभाजित किया है—कइयों ने युगों में बांटा है, कुछेक ने स्वतंत्रता पूर्व और स्वतंत्रता पश्चात के रूप में विवेचित किया है, तो कुछ लोगों ने इसे दशकों में बांटकर देखा है, तो कुछ ने आंदोलनों से जोड़ा है। अपना-अपना नजरिया है अपनी-अपनी दृष्टि है मूल्यांकन करने की। किंतु मुरली मनोहर प्रसाद सिंह की यह बात ज्यादा सही प्रतीत होती है कि, 'हर युग अपने ढंग से और अपनी सीमाओं के अन्दर यथार्थ की चुनौतियों का सामना करता है। सृजनात्मक कलाओं के द्वारा भी ठोस रूप से हर समाज अपनी विशेष ऐतिहासिक मंजिलों पर यथार्थ के प्रकृत और संभाव्य पक्षों के जटिल रिश्तों के भीतर से गुजरता है।' अगर हम हिन्दी कहानियों को इस दृष्टि से विश्लेषित करें, जांचें-परखें, समय के साथ-साथ बदलते मनुष्य-स्वभाव, मानव-वृत्तियों, संवेदनाओं, सामाजिक प्रवृत्तियों और देशीय राजनीतिक स्थितियों-परिस्थितियों का आकलन करें तो पायेंगे कि हिन्दी कहानी भी समय के साथ, मनुष्य के साथ बदलती रही है। यही कारण है कि बीसवीं सदी की प्रारंभिक कहानियों में जहां आदर्शवादिता और मध्यकालीन कहानियों में प्रगतिशीलता नजर आती है वहीं समकालीन कहानियों में जनवादी रूझान।

'बीसवीं सदी की सौ कहानियां' चार खंडों में विभाजित है पर किसी काल-खंड या रचनात्मक आंदोलन के हिसाब से यह विभाजन नहीं है बल्कि प्रकाशन-सुविधा के तहत पच्चीस-पच्चीस कहानियों को एक-एक खंड में समेटा गया है। इसके बावजूद इन खंडों की कहानियां अपने-अपने स्तर पर एक विशेष काल-खंड से भी हमारा परिचय करवाती हैं।

खंड एक की शुरुआत किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती' से ही मैंने की है। हालांकि यह कहानी सन् 1900 में छपी थी पर मुझे लगता है कि साहित्य के लिए, साहित्य के इतिहास के लिए, उसके विकास को जानने-परखने के लिए एक वर्ष के समय का अन्तराल कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। जैसा कि मैंने पहले ही कहा, आधुनिक कहानी की शुरुआत 'इन्दुमती' से ही होती है, यही कहानी भविष्य की कहानी का पथ-निर्धारण करती है, लेखकों को कथा-तत्वों से परिचित कराती है, इसलिए यह कहानी हिन्दी कहानी के लिए 'मील का पत्थर' सिद्ध होती है। इस कारण मुझे लगा कि इस कहानी का यहां होना आवश्यक था। जब 'इन्दुमती' लिखी गई तब कहानी की कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं बनी थी। अपने-अपने हिसाब से लोग इसके रूप-निर्धारण में लगे थे। परन्तु तब भी जूलियन कॉवलॉक का यह कथन सर्वत्र स्वीकार्य था कि "कहानी अपनी सम्पूर्णता में, रचाव के स्तर पर ऐसी हो कि उसे पढ़कर कोई यह न पूछे कि उसमें जो चरित्र शामिल थे, उनका क्या हुआ? या जो स्थिति उठाई गई थी वह अपनी नियति किस दिशा में खोज पायी?" इसी तरह तब 'प्लाट' कहानी के लिए अनिवार्य शर्त होता था। किंतु कॉवलॉक ने इस धारणा को भी तोड़ते हुए कहा था—"प्लाट से कहानी नहीं बनती, न ही जानबूझकर प्लाट को नष्ट करके कहानी बनती है। मूल बात है कि रचना में आप नैतिक संवेदना को विचार से कितने रचना-कौशल के साथ घुला-मिलाकर रख सकते हैं।" अगर बीसवीं सदी की प्रारंभिक कहानियों को हम देखें तो पायेंगे कि तब अधिकांश कथाकार इस रचना-कौशल की खोज में ही थे, हालांकि 'प्लाट' पर आधारित कहानियों का ही ज्यादा जोर था, प्लाटहीन कहानी की बात तब कोई सोच भी नहीं सकता था। ऐसी कहानियों का प्रचलन बहुत बाद में छठे-सातवें दशक में हुआ था।

× × ×

उस प्रारंभिक अवस्था में भी कला और विचार की टकराहटें हमें देखने को मिलती हैं। लेखकों में विभाजन नजर आता है। प्रेमचंद स्कूल और प्रसाद स्कूल की बुनियाद यहीं पड़ी थी। इसी तथ्य को रेखांकित करते हुए भवदेव पांडे ने अपने एक लेख में लिखा है, "हिन्दी कहानी वर्ग-चेतना के साथ पैदा हुई, इसी के दरम्यान उसका विकास हुआ। स्वाभाविक था कि रचना की अन्य पुरानी विधाओं की तरह इसमें भी

कलात्मक तथा पुरोहिती आदर्शों और भारतीय जीवन के कटु यथार्थों के बीच द्वंद्व छिड़ता। यहां उच्च संस्कृति वर्ग और निम्न संस्कृति वर्ग के बीच चलनेवाले द्वंद्व को तार्किक आधार पर समझने के लिए कुछ कहानियों के साक्ष्य प्रस्तुत करना ज्यादा प्रासंगिक होगा। अगर एक तरफ 'इन्दुमती' और 'गुलबहार' (किशोरीलाल गोस्वामी), 'प्रेम का फुहार' (गिरीजाकुमार घोष), 'ग्यारह वर्ष का समय' (रामचन्द्र शुक्ल), और दूसरी तरफ 'विश्वास का फल' (माधवप्रसाद मिश्र), 'पंडित और पंडितानी' (गिरिजादत्त वाजपेयी), 'तीक्ष्ण छुरी' (लक्ष्मीदत्त वाजपेयी), 'चन्द्रदेव से मेरी बातें' (बंगमहिला) को समानांतर रखकर जांच-पड़ताल की जाय तो अस्पष्ट नहीं रह जायेगा कि पहले वर्ग की कहानियों में रूढ़ परंपरा और पौराणिक आदर्शवाद तथा दूसरे वर्ग की कहानियों में आधुनिकता और सामाजिक यथार्थवाद की संस्कृतियां टकराती हुई मिलेंगी।

इसी तरह प्रेमचंद और उनके समकालीन सम-विचार वाले लेखकों की कृतियों को देखें तो पायेंगे कि प्रेमचंदीय पात्र 'वर्ग' पात्र हैं। प्रेमचंद, प्रसाद और सुदर्शन तीनों के ही पात्र किसी विशेष समाज या विशेष वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन लोगों का जोर 'व्यक्ति' पर न होकर 'समाज' या 'वर्ग' के चरित्रांकन पर होता था। 'कफन' के बाद से ही इस दृष्टिकोण में परिवर्तन नजर आता है। 'घीसू' और 'माधव' जहां एक तरफ एक 'वर्ग' का प्रतिनिधित्व करते हैं वहीं उनके 'व्यक्तित्व' को भी लेखक उभारने में चूकता नहीं।

स्वतंत्रता प्राप्ति से कुछ पूर्व कहानी में रूप परिवर्तन नजर आता है। या यों कहें कि प्रेमचंदोत्तर कहानी के प्रारंभ के साथ ही 'वर्ग पात्रों' की समाप्ति और 'व्यक्ति पात्रों' का उदय होता है। इस काल में तीन तरह के लेखक हमें नजर आते हैं। पहले वर्ग में वे लेखक हैं जिन्होंने प्रेमचंद की परंपरा को ही आगे बढ़ाया। किंतु यह भी सच है कि प्रेमचंद या सुदर्शन की अपेक्षा इन कथाकारों में दृष्टि की सूक्ष्मता तथा घटनाक्रम के चुनाव का कौशल अधिक उत्कृष्ट रूप में मिलता है। उपेन्द्रनाथ अश्क, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, यशपाल, राधाकृष्ण, विष्णु प्रभाकर आदि कथाकार इसी श्रेणी में आते हैं। इनका आग्रह शिल्प और भाषा के स्तर पर किसी प्रकार की नवीनता लाने का नहीं था, सामाजिक स्थितियों के गहन और मनोवैज्ञानिक चित्रण की ओर था। दूसरी श्रेणी में वे लेखक थे जिन्होंने 'व्यक्ति' को ज्यादा महत्व दिया और मनोवैज्ञानिक समस्याओं को ही अपनी कहानियों में प्रधानता दी। इलाचंद्र जोशी, जैनेन्द्र तथा अज्ञेय ऐसे ही कथाकार थे। तीसरे वर्ग में 'उग्र' जैसे कथाकार थे, जिन्हें किसी पूर्ववर्ती परिपाटी के अन्तर्गत मूल्यांकित नहीं किया जा सकता। 'उग्र' की परंपरा में चतुरसेन शास्त्री, पहाड़ी तथा ऋषभचरण जैन आते हैं। इन लोगों का विशेष आग्रह समाज में व्याप्त नग्न सत्यों को बिना किसी प्रकार के आडंबर के प्रस्तुत करने का था। संदर्भ के रूप में इस काल की कुछ विशिष्ट रचनाओं का अध्ययन-आकलन

किया जाय तो यह अन्तर और स्पष्ट हो उठेगा। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की 'पिंजरा', 'खिलौने', 'डाची', 'पलंग'; राधाकृष्ण की 'एक लाख सत्तानवें हजार आठ सौ अठासी', 'मैना', 'रामलीला', 'कोयले की जिंदगी', 'इन्सान का जन्म'; चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की 'डाकू', 'तीन दिन', 'कामकाज'; विष्णु प्रभाकर की 'अभाव', 'धरती अब भी घूम रही है', 'मेरा वतन'; यशपाल की 'शर्त', 'कर्मफल', 'दुख' 'मक्रील', 'वर्दी' 'चार आने'; इलाचंद्र जोशी की 'खंडहर की आत्माएँ', 'रोगी', परित्यकता'; अज्ञेय की 'शत्रु', 'रोज', 'त्रिपथगा', 'जयदोल', 'खितीन बाबू'; जैनेन्द्र की 'नीलम देश की राजकन्या', प्रियव्रत', तत्सम', 'खेल'; उग्र की 'दोजख की आग', 'बलात्कार', 'चाकलेट', 'इन्द्रधनुष' आदि सैकड़ों कहानियां हैं जो उस काल की सोच, मानसिकता और सामाजिक स्थितियों के साथ लेखकीय विचार-भिन्नता को दर्शाती हैं। इन लेखकों के साथ ही ऐसे अनेक लेखक उस काल में हुए जिनकी दर्जनों कहानियां ऐसी हैं जिनके कारण हिन्दी कहानी का स्वरूप निर्धारण और विकास हुआ। यह संभव नहीं था कि उन तमाम कहानियों को इस संकलन में लिया जा सकता, पर उनका यहां उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि साहित्य के जिज्ञासुओं और शोधकर्त्ताओं की दृष्टि भविष्य में इनपर रहे। 'वीर बालक' (ईश्वरी प्रसाद शर्मा), 'तीज की साड़ी' (छबीले लाल गोस्वामी), 'भाग्यवती' (जोगेन्द्रपाल सिंह), 'निशाकाल' (कौशिक) 'ग्राम' (जयशंकर प्रसाद), 'बांदी' (कालीचरण त्रिवेदी), 'हीरा और लाल की कहानी' (रामजी दास वैश्य), 'ईश्वर का अस्तित्व' (राजवती सेठ), 'एक गणितज्ञ की आत्मकथा' (बनारसीदास चतुर्वेदी), 'वीरांगना' (बावली बहू), 'विदीर्ण हृदय' (विश्वंभरलाल 'जिज्जा') 'पतिहत्या में पतिव्रता' (ठकुरानी शिवमोहिनी), 'धोखा' (परशुराम शर्मा), 'हृदय की शांति' (विश्वेश्वर दयाल चतुर्वेदी), 'रूपरानी' (प्यारेलाल गुप्त), 'मिलन' (ज्वालादत्त शर्मा), 'प्लेग की चुड़ैल' (मास्टर भगवानदास), 'मुंसिफ साहब की मरम्मत' (बदरीनाथ भट्ट) आदि अनेक कहानियां हैं जिनके बल पर ही आज की कहानी का अस्तित्व है। जैसा कि हर काल में होता है, तब भी हुआ कि बहुत सारी अच्छी कहानियां (और कहानीकार भी) किसी न किसी कारण उपेक्षा की शिकार हो गईं और उनसे हल्के दर्जे की कहानियां चर्चा में आ गईं।

प्रथम खंड में संकलित पच्चीस कहानियां और कहानीकार निश्चित रूप से उस काल का प्रतिनिधित्व करते हैं।

× × ×

'बीसवीं सदी की सौ कहानियां' के खंडों का विभाजन किसी विशेष कालखंड के आधार पर नहीं किया गया है फिर भी हर खंड में एक विशेष समय का प्रतिनिधित्व है। जहां पहले खंड में प्रारंभिक युग का प्रतिनिधित्व है, वहीं दूसरे खंड

में स्वतंत्रता-पूर्व उभर कर आ चुके लेखकों से हमारा परिचय होता है। प्रेमचंद और प्रसाद के बाद कहानीकारों की एक ऐसी सशक्त पीढ़ी सामने आयी थी, जिसने हिन्दी कहानी के पूरे इतिहास और स्वरूप को ही बदल दिया था। जैनेन्द्र, यशपाल, उग्र, निराला, अश्क, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव, विष्णु प्रभाकर, द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण', भैरवप्रसाद गुप्त आदि कहानी की कला में निखार तथा विकास के स्पष्ट संकेत देते हुए सामने आ चुके थे। यह समय हिन्दी साहित्य के लिए सबसे ज्यादा उथल-पुथल का रहा। एक तरफ स्वाधीनता के लिए लड़ते-मरते लोग, क्रांति, अंग्रेजी सरकार का बढ़ता दमन-चक्र, लेखन पर लगता प्रतिबंध, प्रेस और कलम पर बढ़ता सरकारी कोप, दूसरी तरफ प्रेमचंद के बाद से ही प्रगतिशील आन्दोलन का बढ़ता प्रभाव, मार्क्सवाद या कहें साम्यवाद के प्रति बढ़ता लेखकों का रूझान! भारतीय बुद्धिजीवियों के लिए यह एक अजीब उलझन का समय था। एक ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ उसे संघर्ष करना था तो दूसरी तरफ फासीवाद के खिलाफ भी विश्वव्यापी संघर्ष में उसे अपनी भूमिका निभानी थी। यशपाल, रांगेय राघव, जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि ने जहां अपने को प्रगतिशील दृष्टि से जोड़ा और कहानियां लिखीं वहीं उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर, अमृत राय, चन्द्रकिरण सोनरिक्सा आदि ने सामाजिक और पारिवारिक कहानियों तक अपने को समेटे रखा।

स्वतंत्रता प्राप्त होने तक हिन्दी कहानी काफी समृद्ध हो चुकी थी और उस काल के सैकड़ों लेखकों ने कहानी को एक नई ऊंचाई तक पहुंचा दिया था। दूसरे खंड में संकलित अधिकांश कहानियां उस काल की रचना-शक्ति, रचनात्मक विविधता को प्रतिबिंबित करती हैं। तब तक यह सत्य भी लेखकों के समक्ष आ चुका था कि श्रेष्ठ साहित्यकार इतिहास का मात्र अनुगामी नहीं होता बल्कि उसका निर्माता भी होता है। "सत्य तो यह है कि इतिहास को नई दिशा देनेवाली साहित्यिक चेतना केवल साहित्यिक प्रतिभा के बल पर स्वरूप नहीं पाती, उसके लिए कुछ प्रेरक परिस्थितियों की अपेक्षा होती है। वे प्रेरक परिस्थितियां स्वतंत्रता के बाद हमारे जीवन में बड़ी तीव्रता से प्रकट हुई हैं। स्वतंत्रता पूर्व का कहानी साहित्य कुछ पूर्व-आदर्शों तथा मान्यताओं के आधार पर निर्मित हुआ है। प्रेमचंद एवं सुदर्शन का मूल्यपरक बाह्य सुधारवाद, प्रसाद का रूमानी सुधारवाद, जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी आदि का मनोवैज्ञानिक आग्रह सभी कुछ सामाजिक प्रचलित आग्रहों से प्रभावित साहित्य है। इस साहित्य के माध्यम से किसी स्वतंत्र जीवन-दृष्टि का निर्माण नहीं हुआ जबकि स्वातंत्र्योत्तर कहानी साहित्य मुख्य रूप से एक नई जीवन दृष्टि की तलाश है।" (बटरोही)

तीसरे और चौथे खंड में स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी का पूरा फलक विद्यमान है। इस काल की कहानियों की मुख्य विशेषता है-जीवन के यथार्थ से सीधे टकराने, रू-ब-रू होने की चाह। प्रसिद्ध आलोचक नरेन्द्र मोहन इस काल की कहानियों को

विश्लेषित करते हुए कहते हैं, "समकालीन कहानी में यथार्थ के उस पक्ष को उभारा गया है जो मानवीय नियति के भयावह संदर्भों में अस्तित्व की बुनियादी समस्याओं से जुड़ा हुआ है। मुक्तिबोध की कहानियां पहली बार यथार्थ के इस पक्ष से सीधे टकराती हैं। प्रगतिशील और मनोवैज्ञानिक मताग्रहों में रूढ़िग्रस्त और ओढ़ी हुई मानसिकता का शिकार हुई हिन्दी कहानी को जिंदगी की वास्तविकताओं के करीब लाकर मुक्तिबोध ने कहानी को अनुभूति का नया आयाम और नया कथा-मुहावरा दिया।" यथार्थ चित्रण के अलावा जो दूसरी विशिष्टता स्वातंत्र्योत्तर कहानियों में दिखती है वह है, जीवन और समाज के बदलते हुए रूप का अध्ययन करते हुए कहानीकारों ने कुछ ऐसी विशिष्टताएं सामने रखीं जिनके माध्यम से हम उस समाज की संपूर्णता को जान सकें। कहानियों की यह विशिष्टता, यह परिवर्तित रूप अनेक कहानियों में मिलता है—राजेन्द्र यादव की 'जहां लक्ष्मी कैद है', कमलेश्वर की 'खोई हुई दिशाएं', ऊषा प्रियंवदा की 'वापसी', फणीश्वरनाथ 'रेणु' की 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम', मोहन राकेश की 'एक और जिंदगी', कृष्ण बलदेव वैद की 'उसका दुश्मन', महीप सिंह की 'उलझन', मन्नू भंडारी की 'यही सच है', रामदरश मिश्र की 'सीमा', शैलेश मटियानी की 'मोहभंग', काशीनाथ सिंह की 'आखिरी रात', बल्लभ सिद्धार्थ की 'महापुरुषों की वापसी', धर्मेन्द्र गुप्त की 'याचक', इसरायल की 'आंख पत्थर की' आदि ढेरों कहानियां हैं जो अपने समाज के यथार्थ से हमारा साक्षात्कार कराती हैं। यहां यह कहना भी गलत न होगा कि आज की कहानियों के साथ न तो संप्रेषणीयता की कोई समस्या है, न शिल्प और शैली की कोई विवशता। इस काल की अधिकांश कहानियों ने नए-नए शिल्प को जन्म दिया है। समर्थ रचना की पहचान भी यही है कि वह अपने लिए नया शिल्प, नई भाषा, नया मुहावरा खोजती है। शायद चेखव ने इसी तथ्य को ध्यान में रखकर कहा था कि 'एक रचना नये विचारों के वैभव से परिपूर्ण होनी चाहिए। वह इतनी समर्थ होनी चाहिए कि वह सत्यान्वेषण की उत्कट इच्छा को जिन्दा रख सके।

वैसे तो जीवन और समाज में आये परिवर्तनों के साथ-साथ कहानी में भी परिवर्तन आ रहा था, पर सबसे बड़ा परिवर्तन आया सन् 1950-55 के बीच। इसी समय में 'नई कहानी' आन्दोलन की शुरुआत हुई, जिससे अनेक समर्थ कथाकार जुड़े हुए थे। 'नई कहानी' आंदोलन ने हिन्दी कहानी के स्वरूप और सोच को ही बदल दिया। इससे पूर्व कहानी जहां सामाजिक थी, अब आकर 'वैयक्तिक' हो गई। व्यक्तिनिष्ठ ज्यादा सही शब्द होगा। इस आन्दोलन से जुड़े अनेक कथाकारों ने 'व्यक्ति' को 'समाज' से ऊपर माना, सामाजिकता से अधिक मानसिकता पर ध्यान दिया। 'नई कहानी' के पक्ष-विपक्ष में न जाने कितनी-कितनी बातें कही गईं। यहां उन सबका उल्लेख करना मेरा अभिप्राय नहीं है, उल्लेखनीय सिर्फ यह है कि इस आन्दोलन ने लेखकों को नई सोच, नई जमीन से जोड़ा और ढेरों ऐसी कहानियां लिखी गईं जो

हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, अमरकांत, कृष्णा सोबती, काशीनाथ सिंह, निर्मल वर्मा, रामकुमार, मुक्तिबोध, भीष्म साहनी, मन्नू भंडारी, धर्मवीर भारती, शेखर जोशी, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह फणीश्वरनाथ रेणु, रामदरश मिश्र, महीप सिंह, राजेन्द्र अवस्थी, अमृत राय आदि अनेक कथाकार इस काल में अपने पूर्ण सामर्थ्य के साथ सामने आये। यह भी नहीं कि ये सभी 'नई कहानी' से ही जुड़े थे बल्कि अलग-अलग विचारों तथा कथा-आन्दोलनों से ये जुड़े थे। जैसे महीप सिंह 'सचेतन कहानी' से जुड़े थे।

'नई कहानी' को तरह-तरह से आलोचित-विश्लेषित किया गया है परंतु सूर्यप्रसाद दीक्षित के विचार मुझे ज्यादा समीचीन और नई कहानी को समझने में सहायक लगते हैं कि "नई कहानी नए युग की सृष्टि है, इसलिए उसमें संक्रमणकालीन चेतना का स्वर सबसे तीव्र है। इसे 'आधुनिक युगबोध' का नाम दिया जाता है। आधुनिकता एक मूल्य है, जिसमें समसामयिकता का ऐतिहासिक संदर्भ भी है। इसके अन्तर्गत परम्परावहेलना, प्रयोगधर्मिता, वैज्ञानिक दृष्टि, यांत्रिक सभ्यता, बौद्धिक जटिलता, कर्म निरपेक्षता, अन्तर्राष्ट्रीयता, व्यक्तिवादी जीवन पद्धति, मनोविश्लेषण, प्रकृतवाद, युग संत्रास, अस्तित्वादी विचारणा, आदिम जीवन स्थिति, नये नैतिक मान, निम्न मध्यवर्ग बोध और विभिन्न ऊहापोह द्रष्टव्य है। 'नई कहानी' के भावबोध को व्यष्टि-समष्टि के नये मानदंडों पर घटित करके देखा जाय तो इसके वैचारिक धरातल का सस्पर्श हो सकता है। समग्र रूप से 'नई कहानी' में चित्रित जीवन-बोध को आस्था-अनास्था, नये जीवन मूल्य, विघटन-विद्रोह, व्यक्ति-समुदाय, सैक्स-प्रेम, विवाह-दाम्पत्य, परिवार-संस्था, परिवेश और मनःस्थिति, निम्न, मध्य, युवा वर्ग, नवांचल-नगर बोध अर्थात नूतन कथ्य और कथन आदि रूपों में विभक्त करके परखा जा सकता है।" साथ ही यह भी कि 'नई कहानी' में जिस व्यग्रता, घुटन, कुंठा, आस्था-अनास्था, आत्महीनता, बौद्धिक ऊहापोह, जैविक जटिलता और अनर्गलता से भरे जन-मानस की अभिव्यक्ति हुई है उसे देखते हुए यह प्रकट है कि यह विधा ह्रासोन्मुखी प्रक्रिया, विघटन तथा जीर्णशीर्ण परंपरा के प्रति संक्षोभ व्यक्त कर रही है।

किंतु उसी काल के लेखक मुक्तिबोध की नजर में 'नई कहानी' की सत्यता कुछ और ही थी। इस आंदोलन के बारे में उनके विचार सिक्के के दूसरे पहलू को दर्शाते हैं। वे कहते हैं "नई कहानी में आधुनिक आदमी की जो विचित्र मनोदशा है उसको अगर आप उसके सन्दर्भों से काटकर—उस मनोदशा को मात्र अधर में लटकाकर—चित्रित करेंगे तो मनोदशा के नाम पर कहानी में एक धुंध समा जायेगी। कहानी में अगर सिर्फ भीतरी धुंध हो और सिर्फ वही रहे और इसी की इतनी प्रधानता हो कि वस्तु सत्यों के संवेदनात्मक चित्रों का प्रायः लोप हो जाए तो आप वही गलती करेंगे जो नई कविता ने की। मैं यह चाहता हूं कि साहित्य में मानव की पूर्ण मूर्ति (वह फिर जैसी भी हो) स्थापित की जाए।"

सिर्फ मुक्तिबोध ही नहीं, उनके कई समकालीन और बाद में उभरे अनेक लेखक भी 'नई कहानी' के संदर्भ में मुक्तिबोध से मिलते-जुलते विचार रखते थे, तभी 'नई कहानी' की व्यक्तिवादिता के खिलाफ 'सचेतन कहानी' आन्दोलन की शुरुआत हुई। इस आन्दोलन से जुड़े कहानीकारों का मानना था कि उनका आन्दोलन एक वैचारिक आन्दोलन है। सचेतन कथाकार निष्क्रिय तटस्थता, जो 'नई कहानी' की देन थी, को छोड़कर भीषण असंगतियों के बीच जिजीविषा उत्पन्न करना चाहते थे। इस आन्दोलन से जुड़े कथाकारों में धर्मेन्द्र गुप्त, मनहर चौहान, हिमांशु जोशी, बलराज पंडित, जगदीश चतुर्वेदी, ममता अग्रवाल, कमल जोशी, आनन्द प्रकाश जैन, योगेश गुप्त, सुदर्शन चोपड़ा, कुलभूषण आदि प्रमुख हैं। इन कहानीकारों का कहना था कि 'नई कहानी' के पात्र प्राय: 'खंडित व्यक्तित्व के लघु मानव' हैं जबकि सचेतन कहानियों में व्यक्ति को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करने की कोशिश है। इनका यह भी कहना था कि सचेतना एक दृष्टि है, जिसमें जीवन जिया भी जाता है और जाना भी जाता है। सचेतन दृष्टि जीवन से नहीं जीवन की ओर भागती है। इसमें नैराश्य, अनास्था और बौद्धिक तटस्थता का प्रत्याख्यान किया जाता है और मृत्युभय, व्यर्थता एवं आत्मपराभूत चेतना का परिहार भी। सचेतन आन्दोलन मानवता के टूटते-उभरते मूल्यों, जीवन की ढहती पनपती मान्यताओं और व्यक्ति समाज की अपराजेय आस्थाओं को वाणी देनेवाला आन्दोलन था।

इन्हीं आन्दोलनों के साथ ही 'अकहानी' की भी चर्चा खूब रही। सन् 1960 के बाद उभरे अनेक नये कथाकार 'अकहानी' से जुड़े। गंगाप्रसाद विमल ने इन कहानियों को आन्दोलन तथा रूप विधान से भिन्न घोषित किया था परंतु साथ ही इसे नई 'कथा धारा' भी स्वीकार किया था। उनके अनुसार, 'अकहानी' कहानी की धारणागत प्रतीति से अलग एक अस्थापित कथाधारा है जो कहानी के सभी वर्गीकरणों, मूल्यांकन आधारों और पूर्व समीक्षाओं को अस्वीकार करती है। हालांकि इस आन्दोलन से भी राजकमल चौधरी, श्रीकांत वर्मा, दूधनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, रमेश बक्षी, विजय चौहान, प्रयाग शुक्ल जैसे समर्थ लेखक जुड़े थे पर इनका 'अकहानी' के प्रति मोह (या भ्रम) बहुत जल्दी समाप्त हो गया और यह आन्दोलन ज्यादा स्थायित्व प्राप्त नहीं कर सका क्योंकि इस आन्दोलन ने कहानी के मूल तत्व 'कथ्य' को ही नकार दिया था और कथ्यहीन कहानियों को पाठकों ने। 'अकहानी' के रचनाकारों ने 'कथा रस' तो भुला ही दिया साथ ही कहानी के ललित कला का साज-श्रृंगार तथा भाषा-भाव की अर्थवेत्ता, प्रेरणाधार्मिता आदि को भी समाप्त प्राय कर दिया। शिल्प की दृष्टि से 'अकहानी' फैंटेसी, डायरी, मोनोलाग, संस्मरण और असंबद्ध आत्म प्रलाप के अधिक निकट थी। सूक्ष्म सांकेतिक प्रतीकों के नाम पर यह कहानी परंपरा-अवहेलना, शिल्प विघटन, आडम्बरपूर्ण शैली, आत्मरति और अराजकता की साक्ष्य है। इस कारण हिन्दी कथा-साहित्य पर इसका प्रभाव भी सामान्य है।

इनके बाद नगरीय और ग्रामीण कथाओं की भूलभुलैया में भटकती हिन्दी कहानी, सक्रिय कहानी, जनवादी कहानी, सार्थक कहानी, जैसे नये किंतु प्रभावहीन आन्दोलनों से गुजरती आज फिर उस मुकाम पर पहुंच गई है जहां कहानी सिर्फ 'कहानी' है। सौ सालों में कहानी के विभिन्न रूपों को दर्शाती ये सौ कहानियां हिन्दी साहित्य की धरोहर तो हैं ही उसके सतत विकास के प्रमाण भी। यहां इन कहानियों के माध्यम से पिछली शताब्दी में होते परिवर्तनों को, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थितियों-परिस्थितियों को समझने की कोशिश ही ज्यादा है और यह कोशिश कितनी सफल है, सार्थक है इसका निर्धारण पाठक और समय के हाथों में है।

वरिष्ठ-कनिष्ठ, अग्रज-अनुज, आगे-पीछे आदि कई तरह की उलझनों से बचने के लिए कहानियों का क्रम लेखकों के जन्म वर्ष के अनुसार ही रखा गया है और ऐसे संग्रह के लिए यही न्यायसंगत भी लगता है।

इस संकलन की कहानियों को विभिन्न संकलनों और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से उपलब्ध कराने में डॉ. रामदरश मिश्र, डॉ. महीप सिंह एवं डॉ. ज्ञान चन्द गुप्त का सहयोग अगर न मिला होता तो यह कार्य शायद और कठिन हो उठता। कृतज्ञता ज्ञापन करना महज औपचारिकता नहीं, एक भाव है और उस भाव को प्रकट करने में मैं कोई कृपणता नहीं दिखाना चाहता। इस संकलन के सभी लेखकों का भी मैं आभारी हूं जिन्होंने अपनी कहानियों के प्रकाशन की अनुमति देकर मुझे अतुलनीय सहयोग दिया है। और अंत में 'नमन प्रकाशन' के प्रबंधक श्री नितिन गर्ग को भी धन्यवाद देना चाहूंगा जिनकी निष्ठा और लगन के बिना यह संकलन 'पुस्तक' का रूप नहीं पा सकता था।

अनुक्रम

इन्दुमती

किशोरीलाल गोस्वामी
(जन्म : सन् 1865 ई.)

इन्दुमती अपने बूढ़े पिता के साथ बिंध्याचल के घने जंगल में रहती थी। जब से उसके पिता वहाँ पर कुटी बनाकर रहने लगे, तब से वह बराबर उन्हीं के साथ रही, न जंगल के बाहर निकली, और न किसी दूसरे का मुंह देख सकी। उसकी अवस्था चार वर्ष की थी जबकि उसकी माता का परलोकवास हुआ और जब उसके पिता उसे लेकर बनवासी हुए। जब से वह समझने योग्य हुई तब से नाना प्रकार के बनैले पशु-पक्षियों, वृक्षावलियों और गंगा की धारा के अतिरिक्त यह नहीं जानती थी कि संसार व संसारी सुख क्या है और इसमें कैसे-कैसे विचित्र पदार्थ भरे पड़े हैं। फूलों को बीन-बीन कर माला बनाना, हरिणों के संग कलोल करना, दिन भर वन-वन घूमना, और पक्षियों का गाना सुनना, बस यही उस का काम था। वह यह भी नहीं जानती थी कि "मेरे बूढ़े पिता के अतिरिक्त और भी कोई मनुष्य संसार में है।"

एक दिन वह नदी में अपनी परछाई देख कर बड़ी मोहित हुई, पर जब उसने जाना कि यह मेरी ही परछाई है, तब बहुत ही लज्जित हुई, यहाँ तक कि उस दिन से फिर कभी उसने नदी में अपना मुख नहीं निहारा।

गरमी की ऋतु-दोपहर का समय-जब कि उसके पिता अपनी कुटी में बैठे हुए गीता की पुस्तक देख रहे थे, वह नदी किनारे पेड़ों की ठंडी छाया में घूमती फूलों को तोड़-तोड़कर नदी में बहाती हुई कुछ दूर निकल गई थी, कि एकाएक चौंक कर खड़ी हुई। उसने एक ऐसी वस्तु देखी कि जिसका उसे स्वप्न में भी ध्यान न था और जिस के देखने से उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने क्या देखा कि एक बहुत ही सुन्दर बीस बाईस वर्ष का युवक नदी किनारे पेड़ की छाया में घास पर पड़ा सो रहा है। इन्दुमती ने आज तक अपने बूढ़े पिता को छोड़ किसी दूसरे मनुष्य की सूरत तक नहीं देखी थी। वह अभी तक यही सोचे हुए थी कि यदि संसार में और भी मनुष्य होंगे तो वे भी मेरे पिता की भाँति ही होंगे और उन की भी दाढ़ी मूछें पकी हुई होंगी। उसने जब अच्छी

तरह आँखें फाड़-फाड़ कर उस परम सुन्दर युवक को देखा तो अपने मन में निश्चय किया की "मनुष्य तो ऐसा होता नहीं, हो न हो यह कोई देवता होंगे क्योंकि मेरे पिता जब देवताओं कि कहानी सुनाते हैं तो उन के ऐसे ही रूप रंग बतलाते हैं।" यह सोच कर वह मन में कुछ डरी और कुछ दूर हट पेड़ की ओट में खड़ी हो टकटकी बांध उस युवक को देखने लगी। मारे डर के युवक के पास तक न गई और उसकी सुन्दरता से मोहित हो कुटी की ओर भी अपना पैर न बढ़ा सकी। यों ही घंटों बीत गये, पर इन्दुमती को न जान पड़ा कि मैं कितनी देर से खड़ी-खड़ी इसे निहार रही हूं। बहुत देर पीछे वह अपना जी कड़ा करके वृक्ष की ओट से निकल युवक के आगे बढ़ी। दो-चार ही डग चली होगी कि एकाएक युवक की नींद खुल गई और उसने अपने सामने एक परम सुन्दरी देवी-मूर्ति को देखा, जिसके देखने से उसके आश्चर्य की सीमा न रही। वह मन ही मन सोचने लगा कि "इस भयानक घनघोर जंगल में ऐसी मनमोहिनी परम सुन्दरी स्त्री कहाँ से आई। ऐसा रूप रंग बड़े-बड़े राजाओं के रनिवास में भी दुर्लभ है, सो इस वन में कहाँ से आया? या तो मैं स्वप्न में स्वर्ग की सैर करता होऊँगा, या किसी देव कन्या या वन देवी ने मुझे छलने के लिए दर्शन दिया होगा"। यही सब सोच विचार करता हुआ वह भी पड़ा-पड़ा इन्दुमती की ओर निहारने लगा। दोनों की रह-रह कर आँखें चार हो जातीं, जिनसे अचरज के अतिरिक्त और कोई भाव नहीं झलकता था। योंही परस्पर देखा-भाली होते-होते एकाएक इन्दुमती के मन में किसी अपूर्वभाव का उदय हो आया, जिस से वह इतनी लज्जित हुई कि उसकी आँखें नीची और मुख लाल हो गया। वह भागना चाहती थी कि चट युवक उठकर उसके सामने खड़ा हो गया और कहने लगा "हे सुन्दरी, तुम देव कन्या हो या वनदेवी हो? चाहे कोई हो, पर कृपाकर तुमने दर्शन दिया है तो जरा सी दया करो, ठहरो मेरी बातें सुनो, घबराओ मत। यदि तुम मनुष्य की लड़की हो तो डरो मत। क्षत्री लोग स्त्रियों की रक्षा करने के सिवाय बुराई नहीं करते। सुनो, यदि तुम सचमुच वनदेवी हो तो कृपा कर मुझे इस वन से निकलने का सीधा मार्ग बता दो। मैं विपत्ति का मारा तीन दिन से इस वन में भटक रहा हूं, पर निकलने का मार्ग नहीं पाता। और जो तुम मेरी ही भाँति मनुष्य जाति की हो तो मैं तुम्हारा 'अतिथि' हूं, मुझे केवल आज भर के लिए टिकने की जगह दो और अधि क मैं कुछ नहीं चाहता।"

युवक की बातें सुनकर इन्दुमती ने मन में सोचा कि "तो क्या ये देवता नहीं हैं? हम लोगों की ही भाँति मनुष्य हैं? हो सकता है, क्योंकि जो ये देवता होते तो ऐसी मीठी-मीठी बातें बनाकर अतिथि क्यों बनते। देवताओं को कमी किस बात की है, और वे क्या नहीं जानते जो हम से वन का मार्ग पूछते! तो यह मनुष्य ही होंगे, पर क्या मनुष्य इतने सुन्दर होते और ऐसी मीठी बात करते हैं? अहा! एक दिन में जल में अपनी सुन्दरता देख कर ऐसी मोहित हुई थी, किन्तु इनकी सुन्दरता के आगे तो मेरा रूप रंग निरा पानी है। इस तरह सोचते विचारते उसने अपना सिर ऊँचा किया, और देखा कि युवक अपनी

बात का उत्तर पाने के लिए सामने एकटक लगाए खड़ा है। यह देख वह बहुत ही अधीनताई और मधुर स्वर से बोली कि "मैं अपने बूढ़े पिता के साथ इसी घने जंगल के भीतर एक छोटी सी कुटी में, जो एक सुहावनी पहाड़ी की चोटी पर बनी हुई है, रहती हूं। यदि तुम मेरे अतिथि हुआ चाहते हो तो मेरी कुटी पर चलो, जो कुछ मुझ से बनेगा, कन्दमूल, फलफूल और जल से तुम्हारी सेवा करूँगी, मेरे पिता भी तुम्हें देख कर बहुत प्रसन्न होंगे।" इतना कह कर वह युवक को अपने साथ ले पहाड़ी पगडंडी से होती हुई अपनी कुटी की ओर बढ़ी।

उसने जो युवक से यह कहा था कि "मेरे पिता भी तुम्हें देखकर बहुत प्रसन्न होंगे" सो केवल अपने स्वभाव के अनुसार ही कहा था, क्योंकि वह यही जानती थी कि ऐसी सुन्दर मूर्ति को देख मेरे पिता भी मेरी ही भाँति आनंदित होंगे। परन्तु कुटी के पास पहुंचते ही उसका सब सोचा-विचारा हवा हो गया, उस के सुख का सपना जाता रहा और वह जिस बात को ध्यान में भी नहीं ला सकी थी वही आगे आई। अर्थात् वह बूढ़ा अपनी लड़की को पराए पुरुष के साथ आती हुई देख कर मारे क्रोध के आग हो गया, और अपनी कुटी से निकल युवक के आगे खड़ा हो यूँ कहने लगा "अरे दुष्ट। तू कौन है? क्या तुझे अपने प्राण का मोह नहीं है जो तू बेधड़क मेरी कन्या से बोला और मेरी कुटी पर चला आया? तू जानता नहीं कि जो मनुष्य मेरी आज्ञा के बिना इस वन में पैर रखता है उस का सिर काटा जाता है? अच्छा ठहर अब तुझे भी प्राण दण्ड दिया जायेगा।" इतना कह वह क्रोध से युवक की ओर घूरने लगा। विचारी इन्दुमती की विचित्र दशा थी। उसने आज तक अपने पिता की ऐसी भयानक मूर्ति नहीं देखी थी। वह अपने पिता का ऐसा अनूठा क्रोध देख पहले तो बहुत डरी, फिर अपने ही लिए एक युवा बटोही विचारे का प्राण जाते देख जी कड़ा कर बूढ़े के पैरों पर गिर पड़ी और रो-रो गिड़गिड़ा-गिड़गिड़ा कर युवक के प्राण की भिक्षा मांगने लगी। और उसने अपने पिता को अच्छी तरह समझा दिया कि "इस में युवक का कोई दोष नहीं है, उसे मैं ही कुटी पर ले आई हूँ। यदि इसमें कोई अपराध हुआ हो तो उसका दण्ड मुझे मिलना चाहिए।" कन्या की ऐसी अनोखी विनती सुनकर बुड्ढा कुछ ठंडा हुआ और युवक की ओर देख कर बोला "कि सुनो जी, इस अज्ञान लड़की की विनती से मैंने तुम्हारा प्राण छोड़ दिया, परन्तु तुम यहाँ से जाने न पाओगे। कैदी की तरह जन्म भर तुम्हें यहाँ रह कर हमारी गुलामी करनी पड़ेगी, और जो भागने का मन्सूबा बाँधोगे तो तुरन्त मारे जाओगे।" इतना कह कर जोर से बूढ़े ने सीटी बजाई, जिसकी आवाज दूर-दूर तक वन में गूँजने लगी और देखते-देखते बीस पच्चीस आदमी हट्टे-कट्टे यमदूत की सूरत, हाथ में ढाल तलवार लिए बुड्ढे के सामने आ खड़े हुए। उन्हें देखकर उसने कहा, "सुनो वीरो, इस युवक को (अंगुली से दिखाकर) आज से मैंने अपना बँधुआ बनाया है। तुम लोग इस पर ताक लगाये रहना, जिसमें यह भागने न पावे। और इसकी तलवार ले लो। बस जाओ।" इतना सुनते ही वे सब के सब युवक से तलवार छीन सिर झुका कर चले गये,

पर इस नये तमाशे को देख इन्दुमती के होश हवाश उड़ गये। जब से उसने होश संभाला तब से आज तक बुड्ढे को छोड़कर किसी दूसरे मनुष्य की सूरत तक नहीं देखी थी, पर आज एकाएक इतने आदमियों को अपने पिता के पास देख वह बहुत ही सकपकाई, पर डर के मारे कुछ बोली नहीं। बुड्ढे ने युवक की ओर आँख उठाकर कहा कि "देखो अब तुम मेरे बँधुवे हुए, अब से जो जो मैं कहूंगा तुम्हें करना पड़ेगा। उनमें पहला काम तुम्हें यह दिया जाता है कि तुम इस सूखे पेड़ को (दिखलाकर) काट-काट कर लकड़ी को कुटी के भीतर रक्खो। ध्यान रक्खो, यदि जरा भी मेरी आज्ञा टाली तो समझ लेना कि तुम्हारे धड़ पर विधाता ने सिर बनाया ही नहीं। और अरी इन्दुमती! तू भी कान खोल कर सुन ले। इस युवक के साथ किसी तरह की भी बातचीत करेगी तो तेरी भी वही दशा होगी।" इतना कहकर बुड्ढा कुटी के भीतर चला गया और फिर गीता की पुस्तक को ले पढ़ने लगा।

बुड्ढे का विचित्र रंग-ढंग देखकर हमारे युवक के हृदय में कैसे-कैसे भावों की तरंगें उठी होंगी इसे हम लिखने में असमर्थ हैं। पर हाँ, इतना तो उसने अवश्य निश्चय किया होगा कि "यदि सचमुच यह सुन्दरी इस बुड्ढे की लड़की हो तो विधाता ने पत्थर से नवनीत पैदा किया है।"

निदान बिचारा युवक अपने भाग्य पर भरोसा रख कर कुल्हाड़ा हाथ में ले पेड़ काटने लगा और इन्दुमती पास ही खड़ी-खड़ी टकटकी लगाये उसे देखने लगी। दो ही चार बार के टांगा चलाने से युवक के अंग-अंग से पसीने की बूँदें टपकने लगी और वह इतने जोर से सांस लेने लगा जिससे जान पड़ता था कि यदि यों ही घन्टे दो घन्टे यह टांगा चलावेगा तो अपनी जान से हाथ धो बैठेगा। उसकी ऐसी दशा देख इन्दुमती ने उसके लिए फल और जल ला, आँखों में आँसू भर कर कहा "सुनो जी, ठहर जाओ, देखो यह फल और जल मैं लाई हूँ, इसे खा लो, जरा ठंडे हो लो, तो फिर काटना, छोड़ो मान जाओ।" युवक ने उसकी प्रेमभरी बातों को सुनकर कहा-"सुन्दरी, मैं सच कहता हूँ कि तुम्हारा मुँह देखने से मुझे इस परिश्रम का कष्ट जरा भी नहीं व्यापता, यदि तुम यूँ ही मेरे सामने खड़ी रहो तो बिना अन्न जल किए सारे संसार के पेड़ काट कर रख दूँ। और सुनो तो सही, अपने पिता की बातें याद करो, क्यों नाहक मेरे लिए अपने प्राण संकट में डालती हो? यदि वे सुन लेंगे तो क्या होगा? और मैं जो सुस्ताने लगूँगा तो लकड़ी कौन काटेगा? जब वे देखेंगे कि पेड़ नहीं कटा तो कैसा उपद्रव करेंगे? इसलिए हे सुशीले! मुझे मेरे भाग्य पर छोड़ दो।"

युवक की ऐसी करुणाभरी बातें सुनकर इन्दुमती की आँखों से आँसू बहने लगे। उसने बरजोरी युवक के हाथ से कुठार ले लिया और कहा "भाई! चाहे कुछ भी हो, पर जरा तो ठहर जाओ, मेरे कहने से मेरे लाये हुए फल खाकर जरा दम ले लो, तब तक तुम्हारे बदले में लकड़ी काटती हूँ।" युवक ने बहुत समझाया कर वह न मानी और अपने सुकुमार हाथों से कुठार उठा कर पेड़ पर मारने लगी। युवक ने जल्दी-जल्दी उसके बहुत

कहने से कई एक फल खाकर दो घूँट जल पीया। इतने ही में हाथ में नंगी तलवार लिए बुड्ढा कुटी से निकल कड़क कर युवक से बोला–

"क्यों रे! नीच! तेरी इतनी बड़ी सामर्थ्य कि आप तो बैठा-बैठा सुस्ता रहा है और मेरी लड़की से पेड़ कटवाता है? रह, अभी तेरा सिर काटता हूं।" फिर इन्दुमती की ओर घूम कर बोला–"क्यों री ढीठ, तैने मेरे मना करने पर भी इस दुष्ट से बातचीत की! रह जा तेरा भी वध करता हूं।"

बुड्ढे की बातें सुन युवक उसके पैरों पर गिर पड़ा और कहने लगा "महाशय, इस बिचारी का कोई अपराध नहीं है, इसे छेड़ दीजिए, जो कुछ दंड देना हो वह मुझे दीजिए।"

इन्दुमती भी उस के पैर पर गिर कर कहने लगी "नहीं नहीं, इन का कोई दोष नहीं है, मैंने बरजोरी इन से कुठार ले ली थी, इसलिए हे पिता! अपराधिनी मैं हूं, मुझे दंड दीजिए, इन्हें छोड़ दीजिए।"

उन दोनों की ऐसी बातें सुन कर बुड्ढे ने कहा "अच्छा आज तो मैं तुम दोनों को छोड़ देता हूं पर देखो फिर मेरी बातों का ध्यान न रखोगे तो मारे जाओगे।" इतना कह बूढ़ा कुटी में चला गया और दोनों एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। इन्दुमती बोली कि "घबराओ मत, मेरे रहते तुम्हारा बाल भी बांका न होगा और युवक ने कहा "प्यारी, क्यों व्यर्थ में मेरे लिए कष्ट सहती हो? जाओ कुटी में जाओ।" पर इन्दुमती उसके मुँह की ओर उदास हो देखने लगी और वह कुठार उठाकर पेड़ काटने लगा। इतने ही में फिर बाहर निकल कर बुड्ढा बोला "ओ छोकरे! संध्या भई अब रहने दे। पर देख कल दिन भर में जो सारा पेड़ न काट डाला तो देखियो मैं क्या करता हूं। और सुनती है री इन्दुमती! इसे कुटी में लेजा कर सड़े गले फल खाने को और गदला पानी पीने को दे। परन्तु सावधान! मुख से एक अक्षर भी न निकलने पावे। और सुन बे लड़के! खबरदार, जो इससे कुछ भी बातचीत की तो जीता न छोड़ूँगा।" यह कर बुढ़ा पहाड़ी पगडंडी से गंगा तट की ओर उतरने लगा और उसके जाने पर इन्दुमती मुसका कर युवा का हाथ थामे हुई कुटी के भीतर गई और वहाँ जा कर उसने पिता की आज्ञा को मेटकर सड़े गले फल और गदले पानी के बदले अच्छे-अच्छे मीठे फल और सुन्दर साफ पानी युवक को दिया। और युवक के बहुत आग्रह करने पर दोनों ने साथ फलाहार किया। फिर दोनों बुड्ढे के आने में देर समझ बाहर चाँदनी में एक साथ ही चट्टान पर बैठ बातें करने लगे।

आधी रात जा चुकी थी, वन में चारों ओर भयानक बनैले जन्तुओं के गरजने की ध्वनि फैल रही थी। चार आदमी हाथ में तलवार और बरछा लिए कुटी के चारों ओर पहरा दे रहे थे। कुटी से थोड़े ही दूर पर एक ढलुआं चोटी पर दस बारह आदमी बैठे बातें कर रहे थे। चलिए पाठक! देखिए ये लोग क्या-क्या बातें करते हैं। अहा! यह देखिए! इन्दुमती का पिता एक चट्टान पर बैठा है और सामने दस बारह आदमी हाथ बांधे जमीन पर बैठे हैं। थोड़ी देर सन्नाटा रहा, फिर बूढ़े ने कहा–

"सुनो भाइयो! इतने दिनों पीछे परमेश्वर ने हमारा मनोरथ पूरा किया। जो बात एक प्रकार से अनहोनी थी सो आप से आप ही हो गई। यह परमेश्वर ने ही किया। नहीं तो बेचारी इन्दुमती का बेड़ा पार कैसे लगता? देखो, जिस युवक की रखवाली के लिए आज तीसरे पहर मैंने तुम लोगों से कहा था, वह अजयगढ़ का राजकुमार या यों कहो कि अब राजा है। इसका नाम चन्द्रशेखर है। इसके पिता राजशेखर को उसी बेईमान काफ़िर इब्राहीम लोदी ने दिल्ली में बुला, विश्वासघात कर मार डाला था, तब से यह लड़का इब्राहीम की घात में लगा था। अभी थोड़े दिन हुए जो बाबर से इब्राहीम की लड़ाई हुई है इसमें चन्द्रशेखर ने भेष बदल और इब्राहीम की सेना में घुसकर उसे मार डाला। यह बात कहीं एक सेनापति ने देख ली और उसने चन्द्रशेखर का पीछा किया। निदान यह भागा और कई दिन पीछे उसे द्वन्द्व-युद्ध में मारा और अपने घोड़े को गवां राह भूल कर अपने राज्य की ओर न जा कर इस ओर आया और कल मेरी कन्या का अतिथि बना। (इब्राहीम लोदी सिकंदर लोदी का बेटा था। वह 5 ज़िकाद सन् 856 हिजरी में पैदा हुआ और 59 वर्ष सोलह दिन का था जब दिल्ली के तख्त पर 21 ज़िकाद सन् 915 हिजरी को बैठा था। उसके सिक्के पर एक ओर कलमा और दूसरी ओर उसका नाम था। बाबर की लड़ाई में 7 रज्जब सन् 932 हिजरी में (1526 ई०) मारा गया और उसकी लाश पानीपत में गाड़ी गई।) आज उसने यह सब ब्यौरा जलपान करते-करते इन्दुमती से कहा है, जिसे मैंने आड़ में खड़े सब सुना। वे दोनों एक-दूसरे को जी से चाहने लगे हैं। तो इस बात के अतिरिक्त और क्या कहा जाये कि परमेश्वर ने ही इन्दूमती का जोड़ा भेज दिया है और साथ ही उस दयामय ने मेरी भी प्रतिज्ञा पूरी की।" इतना सुनकर सभी ने जयध्वनि के साथ हर्ष प्रकट किया, और बूढ़ा फिर कहने लगा-मेरी इन्दुमती सोलह वर्ष की हुई, अब उसे कुआरी रखना किसी तरह उचित नहीं है और ऐसी अवस्था में जबकि मेरी प्रतिज्ञा भी पूरी हुई और इन्दुमती के योग्य सुपात्र वर भी मिला। उस ने इन्दुमती से प्रतिज्ञा की है "कि प्यारी मैं तुम्हें प्राण से बढ़कर चाहूंगा और दूसरा विवाह भी न करूँगा। जिसमें तुम्हें सौत की आग में जलना न पड़े।" "भाइयो! देखो स्त्री के लिए इस से बढ़कर और कौन बात सुख देने वाली है? मैं जो चन्द्रशेखर को देखकर इतना क्रोध प्रकट किया था उसका आशय यही था कि यदि दोनों में सच्ची प्रीति का अंकुर जगेगा तो दोनों का ब्याह कर दूँगा और जो ऐसा न हुआ तो युवक आप डर के मारे भाग जायेगा। परंतु यहाँ तो परमेश्वर को इन्दुमती का भाग्य खोलना था और ऐसा ही हुआ! बस! कल ही मैं दोनों का ब्याह करके हिमालय चला जाऊँगा और तुम लोग वर कन्या को उनके घर पहुंचा कर अपने-अपने घर जाना। बारह वर्ष तक जो तुम लोगों ने तन मन धन से मेरी सेवा की, इसका ऋण सदा मेरे सिर पर रहेगा और जगदीश्वर इसके बदले में तुम लोगों के साथ भलाई करेगा।" इतना कहकर बुड्ढा उठ खड़ा हुआ और वे लोग भी उठे। बुड्ढा कुटी की ओर घूमा और वे लोग पहाड़ी के नीचे उतर गये।

अहा! प्रेम! तू धन्य है!!! जिस इन्दुमती ने आज तक देवता की भाँति अपने पिता की सेवा की, और भूल कर भी उसकी आज्ञा न टाली, आज वह प्रेम के फन्दे में फंस कर उस का उलटा बर्ताव करती है। वृद्ध ने लौट कर क्या देखा कि दोनों कुटी के पिछवाड़े चाँदनी में बैठे बातें कर रहे हैं। यह देख वह प्रसन्न हुआ और कुटी में जाकर सो रहा। पर हमारे दोनों नये प्रेमियों ने बातों ही में रात बिता दी। सबेरा होते ही युवक कुठार ले लकड़ी काटने लगा और इन्दुमती सारा काम छोड़ कर खड़ी-खड़ी उस के मुख की ओर देखने लगी। थोड़ी ही देर में युवक के शरीर से पसीना टपकने लगा और चेहरा लाल हो गया। इतने ही में वृद्ध ने जाकर गर्ज कर कहा–"ओ लड़के! बस, पेड़ पीछे काटियो, पहले जो लकड़ियां कटी हैं, उन्हें उठाकर कुटी के पिछवाड़े ढेर लगा दे।" इतना कह कर बुड्ढा चला गया और युवक लकड़ी उठा-उठा कर कुटी के पिछवाड़े ढेर लगाने लगा। उसका इतना परिश्रम इन्दुमती से न देखा गया और बड़े प्रेम से वह उस का हाथ थाम कर बोली "प्यारे, ठहरो, बस करो, बाकी लकड़िया मैं रख आती हूं। हाय, तुम्हारा परिश्रम देखकर मेरी छाती फटी जाती है। प्यारे, तुम राजकुमार होकर आप लकड़ी काटते हो? ठहरो, तुम सुस्ता लो।"

युवक ने मुसकरा कर कहा–"प्यारी, सावधान, ऐसा भूलकर भी न करना अपने पिता का क्रोध याद करो, अब की उन्होंने तुम्हें लकड़ी उठाते या हमसे बोलते देख लिया तो सर्वनाश हो जायेगा।"

इतना सुनकर इन्दुमती की आँखों में आँसू भर आए। वह बोली–"प्यारे मेरे पिता का तो बहुत अच्छा स्वभाव था, सो तुम्हें देखते ही एकदम से ऐसा बदल क्यों गया? वह तो ऐसे नहीं थे, अब उन्हें क्या हो गया? आज तक मैंने उन्हें कभी क्रोध करते नहीं देखा था। खैर, जो होय, पर तुम जरा ठहरो, दम ले लो, तब तक मैं इन लकड़ियों को फेंक देती हूं।"

युवक ने कहा "प्यारी, क्या राक्षस हूं कि अपनी आँखों के सामने तुम्हें लकड़ी ढोने दूँगा? हटो, ऐसा नहीं होगा। सच जानो तुम्हें देखने से मुझे कुछ भी कष्ट नहीं जान पड़ता।"

इन्दुमती ने उदास होकर कहा "हाय प्यारे, तुम्हारा दुख देखकर मेरे हृदय में ऐसी वेदना होती है कि क्या कहूं, जो तुम इसे जानते तो ऐसा न कहते।"

पीछे लता मंडप मैं खड़े-खड़े वृद्ध ने दोनों की बातें सुनकर बड़ा सुख माना, पर अंतिम परीक्षा करने के अभिप्राय से हाथ में नंगी तलवार ले, सामने आ, गरज कर कहा–"इन्दुमती, कल से आज तक तैंने मेरी सब बातों का उलटा बर्ताव किया। फल और जल की बात याद कर, और तू फिर इससे बातें करती है? देख अब तेरा सिर काटता हूं। यह कहकर ज्योंही वह इन्दुमती की ओर बढ़ा कि चट युवक उसके पाँव पकड़कर कहने लगा–"आप अपने क्रोध कौ दूर करने के लिए मुझे मारिये, सब दोष मेरा है, मैं ही दण्ड के योग्य हूं, यह सब तरह निरपराधिनी है। मेरा सिर आपके पैरों पर है, काट लीजिए, पर मेरे सामने एक निरपराध लड़की का प्राण न लीजिए।"

वृद्ध ज्योंही अपनी तलवार युवक की गर्दन पर रखना चाहता था कि इन्दुमती पागल की तरह उसके चरणों पर गिर बिलख-बिलख कर रोने और कहने लगी–"पिता, पिता, जो मारना ही है तो पहले मेरा सिर काट लो तो फिर पीछे जो जी में आवे सो करना।"

इतना सुन बुड्ढे ने तलवार दूर फेंक दी और दोनों को उठा गले लगा कर कहा–"बेटी इन्दुमती! धीरज धर; और प्रिय वत्स! चन्द्रशेखर! खेद दूर करो। मैंने केवल तुम दोनों के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए इस प्रकार क्रोध का भाव दिखलाया था। यदि तुम दोनों का सच्चा प्रेम न होता तो क्यों एक-दूसरे के लिए जान पर खेल कर क्षमा चाहते। और सुनो, मैंने छिप कर तुम्हारी सब बातें सुनी हैं। तुमसे बढ़कर संसार में दूसरा कौन राजकुमार है जो इन्दुमती के वर बनने योग्य होगा। सुनो, देवगढ़ मेरे पुरुखाओं की राजधानी थी। जब कि इन्दुमती चार वर्ष की थी, पापी इब्राहिम ने मेरे नगर को घेर यह कहलाया कि, "या तो अपनी स्त्री (इन्दुमती की माँ) को भेज दो या जंग करो।" यह सुन कर मेरी आँखों में खून उतर आया और उसके दूत को मैंने निकलवा दिया। फिर क्या पूछना था? सारा नगर यवन हत्यारों के हाथ से श्मशान हो गया। मेरी स्त्री ने आत्महत्या की, और मैं उस यवन-कुल-कलंक से बदला लेने की इच्छा से चार वर्ष की अबोध लड़की को ले इस जंगल में आकर रहने लगा। मेरे कृता सरदारों में से पचास आदमियों ने सर्वस्व त्यागकर मेरा साथ दिया और आज तक मेरे साथ हैं। उन्हीं लोगों में से कई आदमियों को कल तुमने देखा था। बेटा चन्द्रशेखर! बारह वर्ष हो गये पर ऐसी सावधानी से मैंने इस लड़की का लालन-पालन किया और इसे पढ़ाया-लिखाया कि जिसका सुख तुम्हें आगे चलकर इसकी सुशीलता से जान पड़ेगा और, देखो, मैंने इसे ऐसे पहरे में रक्खा कि कल के सिवा और कभी मुझे छोड़कर किसी दूसरे मनुष्य की सूरत न देखी। मैंने राजस्थान के सब राजाओं से सहायता माँगी और यह कहलाया कि जो कोई दुष्ट इब्राहिम का सिर काट लावेगा उसे अपनी लड़की ब्याह दूँगा। पर हां! किसी ने मेरी बात न सुनी और सभी मुझे पागल समझ कर हंसने लगे। अन्त में मैंने दुखी होकर प्रतिज्ञा की कि जो कोई इब्राहिम को मारेगा उसी से इन्दुमती ब्याही जायेगी, नहीं तो यह जन्म भर कुआरी ही रहेगी। सो परमेश्वर ने तुम्हारे हृदय में बैठकर मेरी प्रतिज्ञा पूरी की। अब इन्दुमती तुम्हारी हुई। और आज मैं बड़े भारी बोझ को उतार कर आजन्म के लिए हल्का हो गया।

इतना कह बुड्ढे ने सीटी बजाई और देखते-देखते पचास जवान हथियारों से सजे घोड़ों पर सवार आ खड़े हुए। उनके साथ एक सजा हुआ घोड़ा चन्द्रशेखर के लिए एक सुन्दर पालकी इन्दुमती के लिए थी। उसी समय बुड्ढे ने दोनों का विवाह कर उन वीरों के साथ विदा किया और आप हिमालय की ओर चला गया।

अहा! जो इन्दुमती इतने दिनों तक बनबिहंगिनी थी, वह आज घर के पिंजरे में बंद होने चली। परमेश्वर की महिमा का कौन पार पा सकता है। □

मालगोदाम में चोरी

पं. गोपालराम गहमरी

(जन्म : सन् 1866 ई.)

आज डुमराँव स्टेशन से राजप्रासाद तक बड़ी धूम है। ट्राफ़िक् सुपरिंटेंडेंट के दफ्तर से तार-पर-तार चल रहा है। दीनापुर से डुमराँव तक सिग्नेलरों का नाकों दम है। एक खबर (मेसेज) फारवर्ड होते देर नहीं कि दूसरी के लिए तारबाबू टेलीग्राफ-इन्स्ट्रूमेण्ट पर रोल करते हैं। डी० टी० एस० के आफ़िस से एक को मंसूख करने वाला दूसरा, फिर उसको कैंसल करनेवाला, तीसरा, इसी तरह लगातार आर्डरों का तार लग रहा है। होते-होते कोई बीस घन्टे के बाद ट्राफ़िक सुपरिंटेंडेंट के यहाँ से स्टेशन-मास्टर को तार आया कि मालगोदाम जैसा का तैसा बंद रखो, जासूस जाता है। बस अब सब लोग अपने मन की घबराहट मन ही में दबाये जासूस की राह देखने लगे।

इधर नगर में कोलाहल मचा है। बिसेसर हलवाई अपनी दूकान पर बैठा पंखे से मदगल की मक्खी हाँकता हुआ कहने लगा–"दादा, इसी टेसन में मिठाई बेचत बाल पके, लेकिन ऐसी चोरी किसी बड़े बाबू के बखत में नहीं हुई। ताला-चाभी सब बन्द-का-बन्द और भीतर से गाँठ गायब।"

मगदल ख़रीदने वाला कहता है–"कहो बिसेसर! जब चाभी बाबू के पास रही, तब दूसरा कौन चुरा सकता है?"

हलवाई–"चाभी रहती है तो क्या बाबू पहरा देते हैं? अरे, जब गाड़ी आई, पसिंजर से पार्सल उतरा, तभी खलासी चाभी उनसे माँग लाता है और आप खोलकर पार्सल रखता और बन्द करके चाबी बाबू के हवाले करता है। खलासी अगर निकाल ले, तो बाबू लोग क्या करेंगे?

ग्राहक–"लेकिन भई, लोग कहते हैं मन भर से भी कम की गठरी थी, तब उसमें पाँच हजार के कपड़े कैसे बंद थे!"

दूकान के सामने ही कड़ाही मलता हुआ मुसवा कहार आँख बदलकर और हाथ मटकाकर कहता है–"अरे तुम भी घच्चू हो कि आदमी। गाँठ में हमारे-तुम्हारे वास्ते

खारुआँ मारकीन थोड़े रहा। महाराज के घर सादी है, कलकत्ता से रेशमी कपड़ा, साल दुसाला, लोई अलुयान उसमें चलान हुआ रहा कि खेल है। कितने ही हजार का तो उसमें रेसम भरा रहा।"

हलवाई–"अरे हज़ार-लाख पर कुछ अचरज नहीं न चोरी जाना अचरज है। बात यह कि बाहर ताला बन्द-का-बन्द और भीतर गाँठ नदारद है! उस रोज़ बाबू कहते हैं रात की पसिंजर से एक सन्दूक और गाँठ दो ही तो उतरा था। उस घर में कोई माल नहीं था। लेकिन सबेरे देखा गया तो उसमें से कपड़े की गाँठ नदारद है और सन्दूक जैसी की तैसी जहाँ की तहाँ पड़ी है। जहाँ गाँठ थी वहाँ कुछ खर, कुछ ईंट और एक लम्वा पत्थर पड़ा मिला!"

इतने में एक दाई माथे पर जल भरा घड़ा लिये हलवाई की दूकान में आई और सिर से उतारते-उतारते बोली–"ए दादा, कवन सा पुलुसवाला बड़ा साहब आया है। सब सिपाही दरोगा उसके आगे हाथ जोड़कर सलाम करने गये हैं। कुलदिपवा कहत रहा कि कलकत्ता से पुलिस का बड़ा साहब आया है। यही सब का मालिक है। उधिर महल में मारे अमला फैला के खमखम हो रहा है।"

बिसे०–"अरे नहीं रे पगली! जासूस आने को रहा वही आया होगा। अभी मालगाड़ी गई है न, उसी में आया होगा। कल सवेरे ही उसके आने की खबर आई रही।"

ग्राहक–"जासूस कैसा?"

बिसे०–"जासूस लोग यही पुलिसवाले होते हैं। यहाँ की यह पुलिस जैसी वरदी पहनती है वह लोग वैसा नहीं पहनते। वह बिलकुल सीधे सादे रहते हैं। उनका चपरास भी कमर में होता है! कोई देखकर नहीं पहिचान सकता कि वह लोग पुलिसवाले हैं। देख रे सुखना ज़रा दूकान देख, तो मैं भी देख आऊँ।"

इतना कहता हुआ हलवाई अपने लड़के सुक्खन को दूकान सौंपकर स्टेशन को चला। वहाँ मालगोदाम के दरवाज़े पर लोगों की बड़ी भीड़ देखी। दो कानिस्टबल बाहर के लोगों को अलग करने में लगे हैं। मालगोदाम का दरवाज़ा खुला है। स्टेशन-मास्टर, चौकीदार और चार खलासियों के साथ भीतर एक बाबू को सब दिखा रहे हैं।

वह बाबू मालगाड़ी से अभी उतरा है। गाड़ी से उतरते ही मालगोदाम में जाकर देखा तो वहाँ एक ओर कुछ पयार पड़ा है, कुछ ईंट और एक पत्थर की पटिया पड़ी है।

मालगोदाम भीतर बहुत साफ़ है। अभी दो ही रोज़ हुए, ऊपर सफेदी की गई है। कमर से ऊपर ऊँचाई तक चारों ओर की दीवारों में काला अलकतरा पोता गया है। अब वह सूख चला है। धरती पर खूब साफ़ है, लेकिन जहाँ पत्थर, ईंट और खर पड़ा है वहीं सफ़ाई नहीं है। बाबू ने कमरे को अच्छी तरह देखकर स्टेशनमास्टर से कहा–"अच्छा आप अपने आदमियों के साथ बाहर जाइए। मैं थोड़ी देर तक इस गोदाम का दरवाज़ा बन्द करके भीतर बैठूँगा।"

यही बाबू ट्राफिक सुपरिंटेंडेंट के भेजे हुए जासूस हैं। जैसा उन्होंने कहा, स्टेशनमास्टर

ने वैसा ही किया। सब खलासी और चौकीदारों के साथ वह बाहर हो गए। बाबू ने दरवाजा लगाकर भीतर देखना शुरु किया। मकान की एक-एक ईंट पर सनीचर की दीठ से देखने लगे।

देखते-देखते दीवार पर एक ज़गह नज़र पड़ी। जान पड़ा कि वहाँ का रंग किसी ने पोंछ लिया है। बाबू ने पास जाकर देखा तो मालूम हुआ कि थोड़ी जगह का रंग किसी ने कपड़े से पोंछा है। उसके दहिने-बायें भी पाँचों उँगलियों के दो जगह निशान मिले। बाबू ने अकचकाकर देखा। चेहरे का रंग बदल रहा था, थोड़ी देर बाद आप-ही आप बोल उठे-"चोर शाला जल्दी में दीवार पर गिरा है। पीठ उसका रंग में चफ़न गया है। उसको सँभालने के वास्ते उसने दोनों हाथ से दीवार का सहारा लिया है, इसी से उँगलियों के साथ हथेली दीवार पर जोर से पड़ी है और दोनों हाथों का निशान बीच में कमर के दहिने-बागें उखड़ आया है। वहीं बड़ी देर तक खड़े-खड़े बाबू साहब देखते रहे। खूब अच्छी तरह देखने पर मालूम हुआ कि उसके बायें हाथ की सबसे छोटी उँगली टूटी है या कट गई है। उसका निशान बहुत छोटा है। बाकी सब उँगलियों का निशान ठीक है।

बाबू ने जेब से एक पाकिटबुक निकालकर यह बात नोट कर ली। फिर उनकी नज़र आगे-पीछे दहिने-बायें चलने लगी। दरवाजे के सामने ही की दीवार में दूसरा दरवाजा है। स्टेशनमास्टर से मालूम हुआ कि वह सदा बन्द रहता है। इस वक्त रोशनी आने के लिए बाबू ने उसी को खोल रखा है। उसी की रोशनी में बाबू यह सब देख रहे हैं। नोट करने वाली पैंसिल एक हाथ में और नोटबुक दूसरे हाथ में अभी मौजूद है। बाबू की नज़र बन्द दरवाजे पर पड़ी, तो एकदम चेहरा खुश हो गया। किवाड़ के पास जाकर देखा तो एक पर दो जगह पाँच उँगलियों का अलकतरा पोंछा गया है। दूसरे पर धोती का रंग घिसा गया है। कितना ही घिसा जाये लेकिन छूटा नहीं है; तो भी बायें हाथ की उँगलियों का निशान देखने से बाबू का चेहरा खिल उठा। उसने देखा तो उसमें भी छोटी (कनिष्ठका) उँगली का छोटा-सा निशान है।

डिटेक्टिव ने मन में कहा-"चोर चाहे जो हो, लेकिन जो वहाँ दीवार पर गिरकर दोनों हाथों से सँभला है उसी ने अपनी धोती और दोनों हाथ का अलकतरा बिगाड़ पर पोंछा है। और उसके हाथ की उँगली कटी या टूटी है।"

बस, इसके सिवा उस गोदाम में और कुछ भी काम की चीज जासूस ने नहीं पाई। ईंट पर कोई खास निशान नहीं, न पत्थर से चोर का कुछ पता चलने वाला था। खर जो बहुत-सा पड़ा था उसको इधर-उधर उलटा तो उसमें दो कागज पाया। एक पोस्टकार्ड और एक हिन्दी अख़बार।

अख़बार का नाम "भारतमित्र" देखकर डिटेक्टिव ने आप ही आप कहा-"यह ख़बर का कागज कलकत्ते का है।" और पोस्ट कार्ड पढ़ा तो हिन्दी में लिखा था। लिखनेवाले ने बनारस शिवाला डाकघर से छोड़ा था। उस पर डाकखाने की मुहर थी। कलकत्ता पहुँचने की तारीख जब मुहर में डिटेक्टिव ने देखी तब उसने कहा-"चिट्ठी

देखने में जैसी पुरानी मालूम होती है, तारीख से वैसी नहीं है।" पते की तरफ पढ़ा तो "लच्छन कहार, C/o सुगनचन्द सोहागचन्द, नं० 37, काटन स्ट्रीट, कलकत्ता" लिखा था, लेकिन चिट्ठी मुड़िया (मारवाड़ी) से लिखी थी, बंगाली बाबू से पढ़ी नहीं गई। अब उसे जेब में रखकर उस बड़े कागज़ को देखने लगे। ऊपर ही बड़े-बड़े अक्षरों में 'भारतमित्र' छपा देखा। उसी के नीचे हाथ से किसी ने लाल रोशनाई से 'भारतमित्र' छोटे-छोटे हरफ़ों में लिखा था। डिटेक्टिव ने उलट-पुलटकर अच्छी तरह देखा, लेकिन और कुछ भी काम की बात उसमें नहीं पाई। निराश होकर चाहता था कि मोड़कर उसे भी जेब के हवाले करे, लेकिन मोड़ने से पहले ही कागज़ पर एक ऐसी जगह जासूस की नज़र गई जहाँ हाथ से अंग्रेजी में कुछ लिखा हुआ दीख पड़ा। मालूम हुआ कि किसी ने उस पर भी "सुगनचन्द सोहागचन्द, नं० 37, काटन स्ट्रीट, कलकत्ता" लिखा है। "जिसकी चिट्ठी है उसी का अख़बार भी है। लेकिन अंग्रेजी जिसकी लिखी है वह अभी हरफ़ बनाना सीखता है।" कहते हुए जासूस ने कागज़ भी जेब के हवाले किया। अब गोदाम में और कुछ काम की चीज़ न पाकर वह बाहर आया।

2

बाहर स्टेशनमास्टर बेंच पर बैठे डिटेक्टिव की राह ताकते थे। जासूस ने उनको पाकर पूछा–"आप कहते हैं कि रात को गोदाम में दो पारसल थे; सो सन्दूक कहाँ है।"

स्टेशनमास्टर–"संदूक तो जिसकी थी वह ले गया।"

जासूस–"उसकी डेलीवरी आप ही ने की है?"

स्टेशनमास्टर–"नहीं, असिस्टेण्ट स्टेशनमास्टर ने की है। लेकिन उसमें कुछ सन्देह की बात नहीं है। जैसा ताला बन्द था, वैसा ही पाया गया है। चाभी स्टेशनमास्टर-आन-ड्यूटी के पास ही थी। उसी सन्दूक की डेलीवरी देने के लिये गोदाम खोला तो सन्दूक मिली, लेकिन कपड़े की गाँठ नहीं थी। उसकी जगह पर ईंट-पत्थर मिला। न जाने गाँठ को कोई भूत उठा ले गया, या जिन उड़ा ले गया।"

जासूस–"हाँ, उस जिन को तो मैं समझ चुका हूँ। आप अपने स्टेशन के सब नौकरों को बुलाइए, मैं सब की सूरत देखूँगा।"

तुरन्त ही स्टेशनमास्टर ने हुक्म दिया; खलासी, सिंगनलमैन, चौकीदार, असिस्टेण्ट, सब जासूस के सामने हाजिर हुए। सब के कपड़े और उँगली देखने पर उस टूटी उँगली वाले का पता नहीं चला। तब सब को छोड़कर जासूस स्टेशनमास्टर को अलग ले गए और पूछा–"आपके स्टेशन में ऐसा कोई आदमी आता है जिसके बायें हाथ की उँगली टूटी हो।"

स्टेशनमास्टर ने कहा–"नहीं साहब, ऐसा कोई आदमी यहाँ नहीं आता।"

जासूस ने उनसे अपने मतलब की कोई बात पाने का भरोसा न देखकर असिस्टेण्टों का पीछा किया। जिसकी ड्यूटी में पार्सल आए थे और जिसने डेलीवरी दी, उनसे

अलग-अलग दो बार मिलकर सब बातें पूछने से मालूम हुआ कि कपड़े की गाँठ पार्सल में और सन्दूक लगेज में आई थी। सन्दूक बड़ी लम्बी-चौड़ी और खूब ऊँची थी। लगेज-रसीद लेकर दूसरे दिन जो आदमी माल छुड़ाने आया था वह एक भले आदमी की सूरत का था। उसको बाबू ने पहले कभी डुमराँव में देखा था सो याद नहीं है! कभी की मुलाकात न होने पर भी बड़ी भलमनसाहत और नरमी से बोलता था। एक बैलगाड़ी पर कई कुलियों से अपना माल चढ़ाकर ले गया। 'सन्दूक बहुत लम्बी-चौड़ी है' कहने पर कुलियों से उसने बयान किया-"मुसाफिर आदमी है। सब कपड़ा-लत्ता, अरतन-बरतन इसी में रखता है। इसी से इतनी बड़ी सन्दूक है।"

जिन कुलियों ने सन्दूक गोदाम से लेजाकर बैलगाड़ी पर चढ़ाई थी, उनसे घुमा-फिराकर पूछने पर मालूम हुआ कि-

वह सन्दूक वाला डुमरांव में पहले-पहल आया था। राजा साहब के यहां नौकरी करने के इरादे से दूसरे रोज दरबार में जायेगा। अभी कोई किराये का मकान लेकर ठहरेगा। सन्दूक बहुत बड़ी है। सब सामान साथ में रखता है। अगर जल्दी कोई किराये का मकान भी नहीं मिले तो बस्ती में किसी पेड़ के नीचे ठहरकर दो-एक दिन काट सकता है। कुलियों ने यह भी कहा कि नहीं, ऐसी तकलीफ़ नहीं होगी। यहां लोगों को ठहरने के वास्ते सराय बनी है। वह वहाँ चाहे तो ठहर सकता है।

इतना हाल मालूम करने पर जासूस मन-ही-मन सब बातों पर विचार करने लगा। उसके मन में इतनी बातें उठीं-

1. बड़ा पेचदार मामला है। गोदाम के दोनों दरवाजे बन्द हैं, कहीं कोई खिड़की-जंगला भी नहीं है फिर चोर कहाँ से आया?
2. चोर नहीं आया तो क्या छोटे ही बाबू ने चुराया? लेकिन उस गोदाम की चाभी उसी के पास थी। जो उसका मालिक है, जिस पर उसकी जवाबदेही है, जिसके पास उसकी चाभी है, वह तो कभी चुरा नहीं सकता।
3. चोर तो भीतर ज़रूर घुसा है। उसके बायें हाथ की छोटी उँगली टूटी थी, यह भी मालूम हुआ। लेकिन किधर से घुसा और किधर से गया! फिर गाँठ-की-गाँठ उड़ा ले गया!
4. और अकचकाहट की बात यह है कि गाँठ के बदले ईंट-पत्थर और खर रख गया। यह अजब गोरखधन्धा की बात है। चोर अपने साथ ईंट-पत्थर और पयार कहाँ से और क्यों लाया था? और माल चुराकर यहाँ रख जाने का क्या सबब है?
5. पचार में दो कागज मिले। दोनों सुगनचन्द सोहागचन्द से मतलब रखते हैं। लेकिन कार्ड पर 'लच्छनलाल, केअर आफ सुगनचन्द सोहागचन्द' लिखा है। क्या जाने, यह महाजन कुछ इसका भेद जानता हो। लेकिन इस गाँठ का भेजने वाला यही सुगनचन्द सोहागचन्द है, तब वह चोर हो नहीं सकता।

6. अगर सुगनचन्द सुहागचन्द ही चोर हो, तो गाँठ क्या जादू की थी जो यहाँ तक आई और मालगोदाम से गायब हो गई? इसका भेद कुछ नहीं मिलता।
7. सन्दूक का मालिक तो इसमें कुछ चालाक नहीं मालूम देता। कुली से लेकर बाबू तक उसकी बड़ाई करते हैं। वह पहले पहल डुमराँव में आया है, इतनी बात कुछ सन्देह की है। लेकिन इसके वास्ते इस सुगनचन्द महाजन को हाथ से छोड़ना ठीक नहीं है।
8. पहले उस महाजन को देखना और फिर लच्छनलाल की चिट्ठी पढ़ाना चाहिए। क्या जाने उससे कुछ काम बने।
9. यह काम महाजन का तो नहीं है, क्योंकि भेजनेवाला वही है। अगर गाँठ में ईंट-पत्थर भेजकर महाराज को ठगना चाहता, तो मालगोदाम से गाँठ ग़ायब होने का क्या मतलब है? किसी तरह महाजन पर सन्देह नहीं जाता। लेकिन लच्छन अलबत्ते लच्छनदार मालूम होता है।
10. चोर चाहे कोई हो, वह भेदू है। गाँठ का हाल जानता था। बाहर का चोर हरग़िज नहीं आया।
11. लेकिन जानिबकार चोर बाबू के सिवाय और किसी को नहीं कह सकते और ऐसी हालत में बाबू को चोर समझते भी कलेजा काँपता है।
12. जो हो, बात बड़ी पेचदार है, चोर बड़ा ही चालाक है। उसने अपनी चतुराई से मामले के चारों ओर ऐसी मोरचेबंदी की है कि बुद्धि को घुमाने की साँस नहीं दीखती।

इसी तरह आगे-पीछे दहिने-बायें सब सोच-विचार करके पीछे जासूस स्टेशनमास्टर से मिला और उसने मन ही मन में दबाकर कहा–"अब हम जावेंगे।"

स्टेशनमास्टर ने कहा–जाने के वास्ते तो डाकगाड़ी बक्सर छोड़ा है। आप उसी में जा सकते हैं। लेकिन इस चोरी का कुछ कूलकिनारा, आपने पाया या अंधेरे का अंधेरे ही में रहेगा।"

जा०–"अभी आप इसकी कुछ बात मत पूछिए। एक जरूरी काम के वास्ते मैं कलकत्ते जाता हूं। वहाँ से लौटकर आपसे मिलूँगा।"

स्टे० मा०–"अच्छा आप जाइए। लेकिन बाबूसाहब! इतना हम कहेंगे कि स्टेशनमास्टरी में मैं बूढ़ा हो गया। अब मरने का दिन पास आया है, लेकिन ऐसी चोरी कभी नहीं देखी न सुनी।"

जा०–"हमको यह चोरी कुछ चक्करदार मालूम होती. है, लेकिन इतना हम कहते हैं कि चोरी करने वाला कोई पक्का खिलाड़ी है। वह भेदी है। भीतर का हाल जानता था। बाहर से चोर नहीं आया।"

स्टे० मा०–"लेकिन गाँठ की जगह ईंट-पत्थर कहाँ से रख गया। वह भी ऐसे कि इस तरफ की ईंटों से नहीं मिलतीं। पत्थर पर भी पेटेण्टस्टोन खुदा है। ऐसा पत्थर भी

हमने कभी नहीं देखा था।"

जा०–"आप कभी कलकत्ते नहीं गए?"

स्टे० मा०–"नहीं कलकत्ते तो नहीं गया। कई पुश्त से मैं मेमारी ही में रहता हूँ।"

जा०–"इसी से पत्थर आपके लिये नया मालूम हुआ। ऐसी ईंट भी कलकत्ते में बहुत काम आती है।"

स्टे० मा०–"तो कलकत्ते से क्या गाँठ में बन्द करके यही सब आया था।"

जा०–"यह सब अभी आप मत पूछिए। लौटकर मैं सब बतलाऊँगा।"

स्टे० मा०–"अच्छा, आप और सब लौटकर बतलाइएगा, लेकिन यह जो कहा कि चोर बाहर से नहीं आया, इसका मतलब मैंने नहीं समझा। बाहर से आपका क्या मतलब? चोर स्टेशन के आदमियों से बाहर का नहीं है या गोदाम के बाहर से नहीं आया?"

जा०–"यह भी गूढ़ बात है। अब गाड़ी आती है। बाकी बात लौटने पर।"

इतने में घंटी बजी। गाड़ी इन-साइट हुई उसी पर सवार होकर जासूस कलकत्ते को रवाना हुआ।

3

कलकत्ता पहुँचकर जासूस सुगनचन्द सोहागचन्द से मिला। महाजन से मालूम हुआ कि वह अखबार 'भारतमित्र' मँगाया करता है। लेकिन उसको पढ़ लेने के बाद कौन कहाँ ले गया, इसकी खबर नहीं रखता। पोस्टकार्ड भी कब आया, किसके पास आया इसका कुछ हाल मालूम नहीं है। लच्छन नाम का एक कहार उस कोठी में नौकर है। वह कई रोज से बीमार होकर अपने चाचा के यहाँ गया है। उसका चाचा कहाँ रहता है, इसका पता महाजन से नहीं मालूम हुआ।

जासूस ने मन में कहा कि लच्छन को जो डुमराँव ही में मैंने लच्छनदार समझा था सो सचमुच यही चोर है क्या! फिर थोड़ी देर तक कुछ सोचकर महाजन से पूछा–"तो उस कहार का काम कौन करता है?"

महा०–"काम के वास्ते तो उसी ने अपने जान-पहचान के एक आदमी को यहाँ कर दिया है। यह भी उसका कोई नातेदार ही है। लेकिन आप यह सब क्यों पूछते हैं, सो तो कहिए!"

जा०–"मेरे पूछने का मतलब आप नहीं जानते। आपके यहाँ से कुछ माल डुमराँव को चालान हुआ है?"

महा०–"हाँ, चालान तो हुआ है। लेकिन सुनते हैं वह तो गाँठ-की-गाँठ ही किसी ने चुरा ली है।"

जा०–"हाँ, चुरा तो ली है। और उसकी जगह पर ईंट-पत्थर रख गया है।"

महा०–"यह तो बड़े अचरज की बात है। डुमराँव में भी कलकत्ते के बदमाश पहुँच

गए हैं क्या?"

जा०–"देखिए, कहाँ का बदमाश गया है, सो तो मालूम ही हो जायेगा। लेकिन चोर बड़ा चालाक है।"

महा०–"हम भी इस चोरी का सब हाल सुनकर अकचका गए। ताला बन्द-का-बन्द और गाँठ गायब। डुमराँव का स्टेशन भी तो कलकत्ता हो रहा है।"

अब पोस्टकार्ड पढ़ाने से मालूम हुआ कि लच्छन के बाप का लिखा है। पन्द्रह दिन में रुपया भेजने को कहता है।

"अच्छा, अब जाता हूँ। फिर जरूरत होने पर मिलूँगा", कहकर जासूस कोठी से उतरकर चलता हुआ।

डेरे पर पहुँचकर जासूस ने चिट्ठी बाँटने वाले पोस्ट-पियून का रूप बनाया। कमर में चपरास और सिर पर दुरंगी पगड़ी रखी। कन्धे में तोबड़ा लटकाकर खासा डाकपियून बन गया। हाथ में छाता लिये ग्यारह बजते-बजते सुगनचन्द सोहागचन्द की कोठी पर जा पहुँचा। इस बार ऊपर न जाकर नीचे ही रहा। पानी के नल पर वह कहार बरतन मलता मिला। सामने दो कनस्तरों में पानी भरा था।

चिट्ठी बाँटनेवाले का रूप बनाये हुए जासूस ने उस कहार से पूछा–"क्यों जी, लच्छन कहार तुम्हारा ही नाम है?"

"कहार–"काहे को, कोई चिट्ठी है?"

डाक० पि०–"चिट्ठी तो नहीं है, रुपया उसके नाम बनारस से आया है।"

क०–"तो दीजिए न?"

डा० पि०–"तेरा ही नाम लच्छन है?"

क०–"नहीं, वह हमारा ही छोटा भाई है। बनारस में उसका बाप रहता है। वह हमारा चाचा होता है, उसी ने भेजा होगा।"

डा० पि०–"उसका नाम क्या है?"

क०–"नाम बुधई है। हमारे बाप और वह सगे भाई हैं।"

डा० पि०–"तुम्हारे बाप का क्या नाम है?"

क०–"हमारे बाप का तो खेमई नाम है।"

डा० पि०–"अच्छा, तो वह लच्छन कहाँ है?"

क०–"वह तो बीमार होकर डेरे पर पड़ा है।"

डा० पि०–"कहाँ डेरा है?"

क०–"डेरा तो मछुआ बाज़ार में है।"

डा० पि०–"अच्छा, अगर तुम चल सको, तो साथ चलो। नहीं तो हम रुपया लौटा देंगे तो फिर नहीं मिलेगा।"

"अच्छा जी, रुपया मत लौटाओ, हम चलते हैं।"–कहकर कहार ने झटपट बरतन धो डाला और चट अपने एक साथी को सौंपकर डाक-पियून के साथ चलता हुआ।

जब दोनों मछुआ बाज़ार में पहुंचे, तो एक मकान में जाकर कहार ने एक आदमी को दिखा दिया। उसको देखते ही डाक-पियून ने कहा—"क्यों लच्छन, डुमराँव से कब आया?"

लच्छन ने कहा—"मैं तो डुमराँव गया ही नहीं। चाचा से कई बार कहा, वह नहीं जाने देते। जब से जनम हुआ तब से एक बार भी बाप-दादे का डीह नहीं देखा।"

डा॰ पि॰—"अरे यार, हमसे क्यों छिपाते हो? अभी परसों ही डुमराँव में देखा था और कहते हो गए नहीं।"

ल॰—"तुम भी अच्छे गप्पी मिले। हम सात-आठ दिन से तो इसी चारपाई पर पड़े हैं, परसों तुमने हमको डुमराँव में कैसे देखा था?"

अड़ोस-पड़ोस वालों से भी जासूस को पता चला कि लच्छन एक अठवाड़े से बीमार पड़ा है। बीमार भी ऐसा कि चारपाई से किसी तरह उठे तो उठे, लेकिन बाहर नहीं जा सकता। कमजोरी के मारे दस कदम चलने के लायक भी नहीं है।

अब जासूस के अकचकाने की बारी आई। बात क्या है, कुछ जान नहीं पड़ता। यह लच्छन तो इस लायक नहीं है कि डुमराँव जा सके। तब कुछ देर तक यही मन में विचारकर जासूस ने लच्छन का कार्ड निकालकर कहा—"अच्छा लो, यह तुम्हारी चिट्ठी आई है।"

लच्छन ने हाथ में लेकर देखा और पढ़कर कहा—"अरे, यह तो पुरानी चिट्ठी है। इसी महीने में आई थी।"

डा॰ पि॰—"क्या पहले भी तुमको यह मिल चुकी थी।"

'हाँ, यह तो बहुत दिन की आई है' अब लच्छन को अकचकाते देखकर डाक-पियून ने कहा—'तुमको मिली थी, तो तुमने किसको दे दिया था? यह तो हमको डाक में मिली है।'

ल॰—'डाक में मिली है, तो क्या रुपचन मामा ने कहीं डाक के बम्बे में तो नहीं छोड़ दिया।'

डा॰ पि॰—'रुपचन मामा कौन?'

ल॰—'एकठो आए थे। हम लोग तो नहीं जानते, हमारे काका भी नहीं पहचानते, लेकिन कहते थे कि मामा हैं। हमारी माँ तो मर गई, इसलिए पहचान नहीं सका।'

'यह कागज़ भी तुमने उसी को दिया था?' जासूस ने 'भारतमित्र' दिखाकर पूछा।

लच्छन ने कहा—'हमने तो नहीं दिया था। हमारी कोठी में आता है। खबर का कागज़ है। यहीं हमारे डेरे में रखा था, लेकिन मालूम नहीं इसको आपने कहाँ से पा लिया?'

डा॰ पि॰—'वह मामा क्या इसी जगह ठहरे थे?'

ल॰—'हाँ, ठहरे तो यहीं थे, लेकिन कोठी में बराबर जाते थे। रात को यहीं रहते थे। दिन को न जाने कहाँ-कहाँ जाते थे। मालूम नहीं है।'

डा॰ पि॰—'वह कब से तुम्हारे यहाँ ठहरे रहे?'

ल॰—'हमारे बीमार पड़ने से सात दिन पहले ही आए थे।'

डा॰ पि॰—'तुम्हारे बीमार पड़ने पर भी वह कोठी में बराबर जाते रहे?'

ल०–'हाँ, कोठी में तो बराबर ही जाते रहे।'

डा० पि०–'यहाँ से कब गए?'

ल०–'यहाँ से तो हमारे बीमार पड़ने के दो ही दिन बाद चले गए।'

डा० पि०–'तुमने उनको और भी पहले कभी देखा था?'

ल०–'नहीं, और तो पहले कभी नहीं देखा था।'

डा० पि०–'तुम घर चलोगे? अगर चलो तो मैं तुमको बेखर्चा के ले चलूँगा।'

ल०–'हम से चला कहाँ जाएगा। चारपाई से उतरने में तो दम फूलने लगता है।'

डा० पि०–'हम तुमको यहाँ से बग्घी पर ले चलेंगे। वहाँ से बराबर गाड़ी पर डुमराँव चलना होगा। तुमको पैदल तो चलना नहीं होगा।'

ल०–'सो तो है, लेकिन चाचा नहीं जाने देंगे।'

इतने में एक आदमी उसी कमरे में आया। उसको देखते ही लच्छन ने कहा–'चाचा तो आ गए।' फिर चाचा ने कहा–'काहे चाचा! घर जायें।'

चाचा–'अरे, अभी खरचा कहाँ है।'

ल०–'खरचा यह देते हैं।'

चा०–'इनको क्या काम है?'

अब डाक-पियून ने लच्छन के चाचा को अलग ले जाकर बहुत कुछ समझाया और दस रुपये का एक नोट देकर कहा–'तुम इसको जाने दो, घर जायेगा तो वहाँ बीमारी भी दूर हो जायेगी। देश का हवा-पानी लगेगा तो सब रोग भाग जायेगा।'

जब खेमई ने लच्छन से सब हाल सुना, तब उसे डाक-पियून को सौंप दिया। अब डाक-पियून उसे अपने साथ बग्घी में बिठाकर वहाँ से चलता हुआ।

4

दूसरे दिन डुमराँव से कोस-डेढ़-कोस की दूरी पर दह में धोबी आछोः आछो; करके कपड़े धो रहे थे। किनारे पर दूर तक सुन्दर सुथरे कपड़े फैले पड़े थे। एक बूढ़ा धोबी हाथ में कपड़ा सरियाकर गा रहा था–

जेहि दिन राम के जनमवाँ ए भाई जी,
बाजेला अवधवा में ढो–ओ–ल।
थर थर काँपेला गरवी खनवाँ पा–
मुंदई जनमलन भो–ओ–र।

बिरहा खत्म होते-होते दो आदमी एक्के पर सवार दह के पास पहुँच गए। किनारे से थोड़ी दूर पर एक्का खड़ा हुआ। दोनों सवार उतरकर किनारे पर टहलने और कपड़ा देखने लगे।

एक सवार कद का न बड़ा है न बहुत छोटा है। बदन का हट्टा-कट्टा जवान है। सिर पर टोपी नदारद है, बदन में कमीज के ऊपर काले सर्ज की कोट है। बड़ी-बड़ी

मुरेरदार मूँछों से चेहरा वीर का जान पड़ता है। चौड़े ललाट और शांत गम्भीरता-व्यंजक नेत्रों से बुद्धिमानी की आभा फूटी पड़ती है। काली किनारी की साफ-सुथरी धोती बादामी बूटे पर शोभा दूनी कर रही है। हाथ में चाँदी मढ़ा मल्लाका बेत की छड़ी है। उमर इस बाबू की 40 बरस की होगी। दूसरा कद में उससे लम्बा, बदन का दुबला है, उमर कोई 50 बरस की होगी। दाढ़ी और मूँछ के एक बाल भी क़ाले नहीं हैं। सिर ऊँचे और घेरदार मुरेठे से ढका है। भाव से बाबू का पुराना नौकर मालूम देता है। बात-बात में 'हुजूर' कहकर उस बाबू की ताज़ीम करता है।

धोबी-धोबन अकचकाने लगे कि यह दो आदमी कौन एक्के पर आए हैं, न दह के पार जाते हैं, न पीछे लौटते हैं। इसी की भावना में सब सिर झुकाये अपना कपड़ा पाट पर पीटने लगे। बिरहा गाने-वाले ने अपने बगलवाले से कहा-'मालूम होता है डुमरी के साहु के कोई हैं, वहीं जाते हैं।'

उसने कहा-'डुमरी जाते हैं तो अवेर काहे करते हैं?'

तीसरे ने कहा-'नहीं, कहीं जाना नहीं है। कोई बड़े आदमी हैं, टहलने आए होंगे। मालूम होता है, भोजपुर में किसी के घर पाहुने आए हैं।'

इतने में एक्केवान उनके पास आ गया। उससे धोबियों ने पूछा-'डमरी जावोगे भैया?' एक्केवान ने कहा-"नहीं हो, हियें तक घूमे आए हैं। हवा खा के टेसन को लौट जाहें।'

बस सबके मन की उकताहट मिट गई। उधर दोनों आदमी चेहलकदमी करते और किनारे का एक-एक कपड़ा देखते जाते थे। एक जगह एक धोती फैली पड़ी थी, उसे दिखाकर टहलने वाले ने कहा-'क्यों लच्छंन! वह काले दागवाली धोती तुम पहचान सकते हो, किसकी है?'

लच्छन ने कहा-'हाँ, यह तो हमारे मामा की ही है। यह पहनकर वह कलकत्ते गए थे, लेकिन इसमें जो काला दाग है सो नहीं था।'

चतुर पाठक पहचानते होंगे, यह वही जासूस है जो डाक-पियुन बनकर मछुआ बाजार में लच्छन के घर गये थे और उसे साथ लेकर डेरे पर आए। वहाँ से एक भले आदमी का रूप बनाया और साथ में लच्छन को बूढ़े के रूप में लेकर उसी दिन हबड़ा आए। गाड़ी में सवार होकर दूसरे दिन सवेरे डुमराँव पहुँचे और एक्के पर सवार होकर वहाँ से दह देखने को आए हैं। उसके पीछे जो हो रहा है सो पाठक जानते हैं।

लच्छन की बात सुनकर जासूस ने कहा-'तुमने अपने मामा का बाँया हाथ अच्छी तरह देखा था।'

ल॰-'अच्छी तरह देखा तो था। कानी (कनिष्ठका) उँगली सदा बाँधे रहते थे। जब तक रहे, तब तक उनकी उँगली में दरद रहा।'

जासूस ने मन में कहा-ठीक है। वही बदमाश यहाँ तक आया है। फिर पूछा-'यह तुम कैसे जानते हो कि यह धोती वही है?'

लच्छन-'यही है साहब। इसकी किनारी में बँगला लिखा है। एक ओर का आँचर

फटा हुआ है। देखिए, इसमें भी आँचर एक ही ओर है लेकिन यह काला दाग नहीं था। हम बराबर उनकी धोती फींचते रहे; लेकिन काला दाग कभी नहीं देखा।'

'अच्छा ठीक है'—कहकर जासूस वहाँ से धोबी के पास आया। उसी बिरहा गानेवाले बूढ़े से पूछा—'क्यों जी, वह कपड़े किसके हैं?'

धोबी—'आप भी अच्छा पूछते हैं। वह कपड़े क्या एक आदमी के हैं?'

जासूस—'अरे वह उधरवाली किनारीदार धोती, जिस पर काला दाग लगा है और एक ओर का आँचर नहीं है।'

धोबी—'वह एक मुसाफिर की है। पहचानते हैं, लेकिन नाम नहीं जानते।'

जासूस—'अच्छा नाम नहीं जानते तो घर पहचानते हो?'

धोबी—'घर भी नहीं पहचानते। आज ही कपड़ा देने का वादा है। यहीं वह कपड़ा दे गया था और यहीं से ले भी जायेगा।'

जासूस—'कब ले जायेगा?'

धोबी—'अब आता ही होगा। दोपहर के बाद आने को बोला था।'

जासूस—'अच्छा भाई, जाने दो। उससे कुछ मत कहना। यह धोती बहुत बढ़िया है। इसी से हम मालिक का नाम जानना चाहते थे। उससे पूछते कि ऐसी बढ़िया धोती कितने दाम पर कहाँ से खरीदी गई है। मालूम होता तो हम भी लेते। इसकी किनारी पर बड़े रसीले दोहे लिखे हुए हैं?'

धोबी—'क्या लिखा है बाबू, हमको भी बतला दीजिए तो वह रसीला दोहरा याद कर लें। हमको भी इन बातों से शौक है। कवित्त, चौपाइयाँ हम बहुत याद करते हैं।'

जासूस—'अच्छा तुमको चाह है तो लो, बतलाए देते हैं उस पर दोहे लिखे हैं।'

और जासूस ने मैथिल कवि विद्यापति के पद सुना दिये।

धोबी—'वाह बाबूजी, वाह! यह तो खूब रसीला दोहा है।' इतने में सामने से एक अकड़बेग आता हुआ दिखाई दिया। धोबी ने कहा—'देखो बाबू, वही आदमी धोतीवाला आता है।'

बस, इतना सुनते ही दोनों टहलने वाले वहाँ से दूर हट गए—मानों मुसाफिर हैं धोबी से कुछ बातचीत नहीं है। उधर वह आदमी भी पास आ गया। उसका पहनाव-पोशाक भले आदमी का है। मलमल की खूब बढ़िया कमीज है। बूताम चाँदी के लगे हैं। कड़कड़ाते हुए चिकने कफ और प्लेट देखने से विलायती माल मालूम देता है। कमर से नीचे आस्मानी रंग की लहर मारती हुई फरस-डांगा की काली किनारीवाली धोती है। पाँव में काला वार्निश का चमचमाता लैसदार जूता है। हाथ में सींग की काली छड़ी है। सिर पर रेशमी मुरेठा है। आबताब से एक बड़े घर का जवान मालूम देता है। पास आ जाने पर जासूस ने देखा तो उसकी दसों उँगलियाँ सही सलामत हैं। लच्छन ने भी जासूस के कान में कहा—"यह तो हमारे मामा नहीं हैं।"

जासूस ने 'चुप रहो' कहकर उसका मुँह बन्द किया और टहलते-टहलते धोबी के

पास आए। अकड़बेग ने भी धोबी से आते ही कहा—'क्यों बे धोबी! धोती तैयार है?'

धोबी—'हाँ, सरकार सूखती है।'

अक॰—'अरे सूरज डूबता है तो भी सूखती ही है?'

धोबी—'का करें बाबू, तैयार तो बड़ी देर से है। आजकल का घाम ही तेज़ नहीं, नहीं तो अब तक कभी की सूख गई होती।'

अक॰—'हम तो स्टेशन पर से आते हैं। गाड़ी आने का वक्त हो गया। फिर कैसे बनेगा?'

धोती—'तो बाबूजी! आप ले न जाइए, सूख भी तो गया। गाड़ी के वास्ते तो आप ही देर करके आए हैं। आते ही हम अगर आपको हाथ में दे देते तो भी आप गाड़ी नहीं पा सकते थे।'

धोबी इतना कहता हुआ पानी में से निकला और उसकी धोती सरियाकर दे दी। उसने देखकर कहा—'अजी तुमने यह दाग छुड़ाया ही नहीं।'

धोबी—'वह तो बाबूजी अलकतरा का काम है। हम धोते-धोते थक गए, लेकिन नहीं छूटा।'

अक॰—'तो फिर तुम्हें इनाम कैसे दें?'

धोबी—'कोई धोबी इस दाग को छुड़ा दे बाबूजी, हम टाँग की राह से निकल जायें। हम लोग राजदरबार का कपड़ा धोने वाले हैं, दूसरे का तो काम ही नहीं करते।'

अक॰—'तो लो, दो पैसे अपनी धुलाई ले लो। अगर दाग छुड़ा देते तो हम इनाम भी देते। तुमने दाग नहीं छुड़ाया, इसी से हमारी तबीयत खुश नहीं हुई।'

इतने में जासूस ने घड़ी निकालकर देखी और कहा—'देखो जी लच्छन! चलो जल्दी, अब गाड़ी आया चाहती है।'

लच्छन एक्केवाले को पुकारने गया। इधर जासूस से अकड़बेग ने कहा—'क्यों जनाब, आप लोग भी गाड़ी ही पर जावेंगे क्या?'

जा॰—'हाँ साहब, गाड़ी ही पर जाना है।'

अक॰—'मैं भी तो साहब, गाड़ी ही पर जाने वाला था। हमारा एक साथी स्टेशन पर बैठा है। हम दोनों आदमी तैयार होकर स्टेशन पर आए, तब धोबी की याद आई। वहां से एक्के पर आता था। भोजपुर के नाले में आकर घोड़े ने ठोकर ली। एक्का भी गिरा, पहिया टूट गया। एक्के वाले को भी बड़ी चोट आई। भगवान की दया से मुझे चोट नहीं आई। जब देखा कि एक्का काम का नहीं रहा, तब उस नाले पर से पैदल आया हूं। आप अपने एक्के पर मुझे बिठा लें तो बड़ी दया करें। मैं पैदल चलकर गाड़ी नहीं पा सकूँगा।

जासूस तो चाहता ही था। पहली बार मंजूर करके कहा—'कुछ परवाह नहीं। आप आइए। शरीफ़ की इज्ज़त शरीफ़ ही समझता है। फिर हमको भी तो उसी गाड़ी पर जाना है।'

इतना कहकर उसको भी उसी एक्के पर चढ़ा लिया। अब तीन आदमियों को बिठाकर एक्केवान ने घोड़ा हाँका। सड़क कच्ची लेकिन ठीक थी। बीच में दो तीन नाले पड़े; उनको पार करके कोई आधे घंटे में एक्का सब सवारों को लादे डुमराँव के स्टेशन आ

दाखिल हुआ।

एक्का ज्योंही स्टेशन के सामने खड़ा हुआ, अकड़बेग उतर पड़ा।

जासूस भी लच्छन के साथ उतरा। तीनों मुसाफिरखाने में गए। अकड़बेग ने अपने साथी ने कहा–'यार, बड़ी आफत में पड़ गए। एक्का बीच रास्ते ही में जाकर टूट गया। मैं तो वहाँ पैदल गया था। लेकिन लौटती बेर यह बाबू मिल गए; इन्हीं ने हमको अपने एक्के पर यहाँ पहुँचाया है। नहीं तो गाड़ी नहीं मिलती।'

लच्छन ने खूब घोपदार दाढ़ी-मूँछ पहना था। इसी से अकड़बेग के साथी ने उसको नहीं पहचाना। लेकिन लच्छन ने झट पहचानकर सिर हिलाया और जासूस से आँखों का टेलीग्राम करके कह दिया कि यही हमारे मामा साहब हैं।

अँधेरा हो चला था। सूर्य-देव पच्छिम में छिप चुके थे, सन्ध्या की तिमिर-वरणी छाया गहरी होती जाती थी। इतने में दूसरी घण्टी बजी। गाड़ी दीख पड़ी। हरहराती हुई पसिंजर डुमराँव के स्टेशन पर आ खड़ी हुई। लच्छन के मामा पहले से टिकट ले चुके थे, या क्या झट इन्टर-क्लास में दोनों जा बैठे। जासूस ने भी भीतर जाकर इन्टर-क्लास के दो टिकट लिए और उसी गाड़ी में उन दोनों के पास वाले कमरे में जा बैठे। टन टन टन, टन टन टन, टन टन टन, घंटा बजा। गाड़ी सीटी देकर चलती हुई।

5

गाड़ी दिलदारनगर में पहुँचकर कोई बीस मिनट खड़ी रही। इतने में एक लीला हुई। देखा तो मुसाफिरों की भीड़ में बाबू सबसे टिकट ले रहे हैं। रेलवे पुलिस का एक कानिस्टबल 'अरे कोई बैरन है, भाई, बैरन?' कहकर पुकारता है। बाबू–'यह बेरिंग है यह', कहकर गाँठ लादे और गोद में लड़का लिये हुए मुसाफिरों को उनके हवाले करते जाते हैं। अब सब मुसाफिर चले गए, चार रह गए; तीन हवड़े से आते हैं, एक के साथ एक छोटा-सा लड़का था। एक के पास बत्तीस सेर, दूसरे के पास अड़तीस सेर, तीसरे के पास साढ़े तैंतीस सेर माल है। सबसे तीन-तीन रुपये लेकर स्टेशनवालों ने छोड़ दिया। यह लड़केवाला हुगली से आता है। सो हुगली का पूरा महसूल उससे लिया गया। वह बारहा चिल्लाया किया–'बाबू जी दस बरस का लड़का है।' लेकिन बाबू ने कहा–'चुप रहो सुअर वहाँ बाबू को रुपया देकर बिना टिकट आया है।' मुसाफिर ने कहा–'तब तो बाबूजी, आप बड़ा धरम करते हैं, एक रुपया वहाँ भी दिया, पूरा महसूल आप लेते हैं, तो कितना पड़ गया।' बाबू ने कहा–'यह इस वास्ते है कि तुम फिर ऐसा नहीं करोगे।'

इतने में बाबू ने 'आलराइट सर' कहा। गार्ड ने झण्डी दी। गाड़ी सीटी बजाकर चलती हुई। पूछने पर मालूम हुआ कि सकलडीहा से कोई मालगाड़ी आती थी, इसी वास्ते पैसिंजर उसके आने तक ठहरी रही।

गाड़ी जब सकलडीहा स्टेशन पर पहुँची, मोगलसराय जब एक ही स्टेशन रह गया, लच्छन के मामा अपने साथी को जगाकर आप बेंच पर सो गए थे–जासूस ने घात

पाकर उसके जेब में हाथ डाला। उसमें दो रुपये छींट की एक रूमाल में बंधे रखे थे। जासूस ने उसको अपने जेब के हवाले किया। फिर हाथ दूसरी ओर के जेब में डाला। वह कुछ नीचे दबा था। हाथ डालते ही लच्छन के मामा अकचकाकर उठे और झट जासूस का हाथ पकड़ लिया। कहा–क्यों रे पाजी! चोर कहीं का, जेब में हाथ डालता है?'

जासूस ने कांपती जीभ से कहा–'नहीं सरकार, हम चोर नहीं है।' लच्छन के मामा–'ठीक है, ठीक। मैं समझ गया, तू चोर है। तभी डुमराँव के राह से पीछा किया है। मैंने ठीक पहचाना नहीं। एक्के पर चढ़के वहाँ तक आया, तूने घात नहीं पाया, यहाँ सो जाने पर जेब टटोलता है। तू कलकत्ते का गिरहकट है।'

जा०–'नहीं सरकार···'

इतने में मामा ने अपनी दूसरे जेब में हाथ डाला तो रुपया बंधी रूमाल नदारद? अब तो जकड़कर जासूस को पकड़ा। इतने में गाड़ी मोगलसराय के स्टेशन में जा खड़ी हुई। मामा जोर से 'चोर-चोर' चिल्लाने लगे। रेलवे पुलिस के कानिस्टबल आए, सब-इन्स्पेक्टर पहुँचे। देखा, तो गाड़ी में एक जवान भले आदमी की मोशाकवाले को दो आदमी पकड़े 'चोर-चोर' चिल्ला रहे हैं। एक चौथा बूढ़ा बगल में चुपचाप बैठा है। सबको पुलिस ने उतारा। पूछने पर बूढ़े ने कहा–'हाँ, साहब इन्होंने उसके जेब में हाथ डाला था।'

जामा तलाशी लेने पर उसके जेब से रुपचन मामा का माल मिला। अब पुलिसवालों ने उस गिरहकट को उसी दम पकड़ लिया और मुद्दई को भी दोनों गवाहों के साथ रोक रखा। जब कानिस्टबल चोर को गारद में बन्द करने के लिए ले गया तब भीतर जाकर चोर ने उससे कहा–'देखो जी हम चोर नहीं, पुलिस के आदमी हैं। चोर वही दोनों हैं। वह बूढ़ा मेरा साथी है। तुम जाकर दरोगा साहब को यहाँ भेज दो।'

कानिस्टबल ने कहा–'क्या खूब! आप चोर औरों को बनावें। दरोगा और हम तुम्हारे नौकर हैं रे बदमाश?'

इतना कहकर कानिस्टबल ने आँख बदली। कुछ और मुँह से बकना चाहता था कि चोर ने अपनी कमर में एक चीज दिखाई। कानिस्टबल ने उसे देखते ही पीछे हटकर सलाम किया। कमर में जासूस का निशान देखकर कानिस्टबल ने पहचान लिया और अदब से सलाम करके दरोगा साहब को बुलाया। दरोगा ने गारद में आकर कहा–'क्यों जनाब, क्या मामला है?'

उसने कहा–"मामिला ऐसा है कि दोनों डुमराँव के स्टेशन से पाँच हजार का माल चुराकर भागे जाते हैं। मैं अकेला इन दो-दो पहलवानों से पार नहीं पाता और इन्होंने रास्ते में सकलडीहा स्टेशन से ही उतरने का इरादा किया था। तब मैंने यही सोचा कि इसका कुछ चुराना चाहिये। बस, रूमाल चुरा ली। उसमें रुपये बँधे थे। जब नहीं जागा तब दूसरे पाकेट में हाथ डालकर जगाया, जो बूढ़ा बैठा था वह मेरा कहार है।'

'ओफ, तब तो आपने कमाल किया। माफ कीजिए, कहिए अब क्या करना चाहिए?'

'अब उन दोनों को हथकड़ी भर दो। माल जो दो गठरी में लिये हैं, वही माल

मसरूका है। उसमें शाल, दुशाले, लोई, अलवान और रेशमी कपड़े हैं। सब पाँच हज़ार की गठरी महाराज के वास्ते कलकत्ते से आई थी। उसी को गोदाम से इन्होंने उड़ा लिया है।'

दरोगा ने कहा–'हाँ, हाँ, कई रोज हुए तार आया था। वही माल तो नहीं कि ताला बन्द का बन्द ही था और गठरी गायब हो गई है?'

'हाँ, हाँ। वही है' कहकर चोररूपधारी जासूस ने कहा–'उनको जल्दी गिरफ्तार करो।' चोर बड़े मजबूत थे। दस कानिस्टबल दो हथकड़ी लिये उनके पास गए और सब-इन्सपेक्टर के आँख देते ही दोनों को हथकड़ी भर दी। गारद से चोर साहूकार बनकर बाहर आया, जो साहूकार बने थे वह चोर हुए। अपराध की ऐसी तुम्बाफेरी यहीं देखने में आई।

अब दोनों गिरफ्तार होकर गारद में बन्द हुए। दोनों की गठरी खोली गई तो दोनों में शाल, दुशाले और रेशमी कपड़े भरे थे। तार देकर सुगनचन्द सोहागचन्द को बुलाया गया। महाजन ने अपने गुमास्ते के साथ आकर माल पहचाना। एक कपड़ा भी नहीं गया था। सब फिहरिस्त के मुताबिक मिल गया।

अब जासूस ने गारद में अकेले जाकर पूछा–'देखो, अब तो सब माल मिल गया है। तुम लोग माल के साथ ही पकड़े गए। अब सच्चा हाल कह दो, कैसे चुराया था।'

कुछ भरोसा देने पर लच्छन के मामा ने कहा–'देखो बाबू, हमने जिस तरकीब से चोरी की उससे तो तुम्हारा पकड़ना और बढ़कर है। हम लोगों को सपने में भी पकड़े जाने का डर नहीं था। अगर ऐसा समझते तो और तरकीब कर डालते। लेकिन खैर, अब तो पकड़े ही गए। नहीं कहने से भी नहीं छूट सकते। सुनो हम सब हाल बयान करते हैं।'

6

अब लच्छन के मामा ने बयान किया–

हम लोग बनारस के रहने वाले हैं। चोरी ही का रोजगार करने कलकत्ते पहुँचे थे। सुना था कि वहाँ पुलिसवाले बड़े चतुर होते हैं। सो यही देखने गये थे। कलकत्ते जाकर लच्छन के यहाँ पहुँचे। लच्छन का बाप बनारस में रहता है। बनारस से चलते ही उससे लच्छन का हाल, उसका मशहूर महाजन सुगनचन्द सोहागचन्द के यहाँ नौकरी करना, मालूम हो गया था। बस, वहाँ जाकर लच्छन के मामा बन गए। सुगनचन्द सोहागचन्द की कोठी में बराबर आना जाना रहा। सब खबर नौकरों से मिलती रही। एक रोज मालूम हुआ कि डुमराँव के राजा ने पाँच हज़ार का शाल, दुशाला, लोई, अलवीन और रेश्मी कपड़े माँगे हैं। मैं बराबर भेद लगाता रहा। दो-दिन पहले से मालूम हो गया कि माल परसों जायेगा और माल वहाँ से आदमी बाली ले जायेगा, वहाँ से पार्सल में रवाना होगा। हम दो साथी थे। एक धर्मशाला में ठहरा था। उसी ने खूब लम्बी-चौड़ी सन्दूक तैयार कराई उसमें ऊपर से बंद करने का निशान था, लेकिन भीतर से बन्द होता था। मैं उसी में बैठ गया और दो-चार ईंट, एक पत्थर का टुकड़ा उसमें रखकर नीचे पयार बिछाकर

लेटा। ऊपर से भी साथी ने पयार भर दिया कि मुझे चोट न लगे। मेरे साथी ने बाबू को एक रुपया देकर उसी कपड़े के पार्सल के साथ अपना लगेज चढ़वा दिया। आप लगेज-रसीद लेकर उसी गाड़ी में सवार हुआ। रात को गाड़ी डुमराँव पहुँची। लगेज रात को नहीं लिया। गोदाम में सन्दूक और पार्सल (कपड़े की गाँठ) दोनों रखे गए; वहाँ अँधेरा था। बाहर से ताला बन्द था। भीतर से मैं सन्दूक खोलकर बाहर निकला और कपड़े की गाँठ उसमें रखकर ईंट, पत्थर, पयार सब निकाल दिया। फिर आप भीतर बैठकर अन्दर से चाभी बन्द कर ली। हमारा साथी सधा था ही। आकर उसने रसीद दी और पार्सल छुड़ा ले गया। बाबू लोगों ने कुछ नाह-नूह की, लेकिन उन्हें भी एक रुपया दिया। बोझा भारी कहकर बाबू ने वजन करने का बखेड़ा लगाना चाहा था, लेकिन मेरे साथी ने दो रुपया उसके वास्ते अलग नज़र किया। अब कुछ भी रोकटोक नहीं हुआ। कुलियों को मुँह माँगा देकर सन्दूक छुड़ा ले गया। बाहर भोजपुर के पास नाले में जाकर गाड़ीवाले को हम लोगों ने विदा कर दिया। जब वह अपनी आशा से दूना इनाम पाकर चला गया तब मैं बाहर हुआ और सन्दूक को वहीं तोड़-फोड़कर डाल दिया।

गठरी के दो हिस्से करके दोनों आदमी ने कन्धे पर लिया और डुमराँव की सराय में जा ठहरे। गोदाम में मेरी धोती अलकतरे से चफन गयी थी उसको धोबी को दे दिया। वह धोती हमारी समहुत की थी, इसी से उसके लिये डुमराँव में ठहरे रहे। किसी ने कुछ भेद तो नहीं पाया, लेकिन मैं मन में डरता था कि यहाँ कि देरी अच्छी नहीं है, सो ही हुआ। न जाने आपने कैसे पता पा लिया।

जा॰–'गोदाम में तुमने धोती का रंग और हाथ किवाड़ से पोंछा था?'

चो॰–'हाँ, जब मैं गिरा तब दोनों हाथ और पीठ में अलकतरा चफन गया था। हाथ भी किवाड़ से पोंछा था। जब छूटने का भरोसा नहीं दीखा, तब सन्दूक में जा बैठा था।'

बनारस के कोतवाल ने आकर देखा तो पहचाना और कई बार का सजा पाया हुआ पुराना चोर कहा।

जासूस माल के साथ दोनों को गिरफ्तार करके डुमराँव ले गया। डेलीवरी करने वाले बाबू ने चोर के साथी को पहचाना, फिर उसका बयान लेकर जासूस माल के साथ दोनों को कलकत्ते ले गया। वहाँ कानून के अनुसार इन दोनों पर मुकद्दमा हुआ। अदालत से अपराध उनका साबित होने पर पुराना चोर होने के कारण दोनों दस-दस बरस की कैद हुए। जासूस को महाजन की ओर से 500 रुपये इनाम और सरकार से प्रशंसापत्र मिला। अब जासूस खुश होकर दूसरे मुकद्दमे से तैनात हुआ। □

एक टोकरी भर मिट्टी

माधवराव सप्रे
(जन्म : सन् 1871 ई.)

किसी श्रीमान जमींदार के महल के पास एक गरीब अनाथ विधवा की झोंपड़ी थी। जमींदार साहब को अपने महल का हाता उस झोंपड़ी तक बढ़ाने की इच्छा हुई। विधवा से बहुतेरा कहा कि अपनी झोंपड़ी हटा ले। पर वह तो कई जमाने से वहीं बसी थी। उसका प्रिय पति और इकलौता पुत्र भी उसी झोंपड़ी में मर गया था। पतोहू भी एक पांच बरस की कन्या को छोड़कर चल बसी थी। अब यही उसकी पोती इस वृद्धाकाल में एकमात्र आधार थी। जब कभी उसे अपनी पूर्वस्थिति की याद आ जाती तो मारे दुख के फूट-फूटकर रोने लगती थी। और जबसे उसने अपने श्रीमान पड़ोसी की इच्छा का हाल सुना, तब से वह मृतप्राय हो गयी थी। उस झोंपड़ी में उसका मन लग गया था कि बिना मरे वहां से वह निकलना ही नहीं चाहती थी। श्रीमान के सब प्रयत्न निष्फल हुए। तब वे अपनी जमींदारी चाल चलने लगे। बाल की खाल निकालने वाले वकीलों की थैली गरम कर उन्होंने अदालत से झोंपड़ी पर अपना कब्जा कर लिया और विधवा को वहां से निकाल दिया। बिचारी अनाथ तो थी ही, पास-पड़ोस में कहीं जाकर रहने लगी।

एक दिन श्रीमान उस झोंपड़ी के आसपास टहल रहे थे और लोगों को काम बतला रहे थे कि इतने में वह विधवा हाथ में एक टोकरी लेकर वहां पहुंची। श्रीमान ने उसको देखते ही अपने नौकरों से कहा कि उसे यहां से हटा दो। पर वह गिड़गिड़ाकर बोली कि "महाराज, अब तो यह झोंपड़ी तुम्हारी ही हो गयी है। मैं उसे लेने नहीं आयी हूं। महाराज क्षमा करें तो एक बिनती है।" जमींदार साहब के सिर हिलाने पर उसने कहा कि "जब से यह झोंपड़ी छूटी है तब से मेरी पोती ने खाना-पीना छोड़ दिया है। मैंने बहुत कुछ समझाया पर वह एक नहीं मानती। यही कहा करती है कि अपने घर चल, वहीं रोटी खाऊंगी। अब मैंने सोचा है कि इस झोंपड़ी में से एक टोकरी भर मिट्टी लेकर उसी का चूल्हा बनाकर रोटी पकाऊंगी। इससे भरोसा है कि वह रोटी खाने लगेगी। महाराज, कृपा करके आज्ञा दीजिए तो इस टोकरी में मिट्टी ले आऊं।" श्रीमान ने आज्ञा दे दी।

विधवा झोंपड़ी के भीतर गयी। वहां जाते ही उसे पुरानी बातों का स्मरण हुआ और उसकी आंखों से आंसू की धारा बहने लगी। अपने आन्तरिक दुख को किसी तरह सम्हालकर उसने अपनी टोकरी मिट्टी से भर ली और हाथ से उठाकर बाहर ले आयी। फिर हाथ जोड़कर श्रीमान से प्रार्थना करने लगी कि "महाराज, कृपा करके इस टोकरी को जरा हाथ लगाइए जिससे कि मैं उसे अपने सिर पर धर लूं।" जमींदार साहब पहले तो बहुत नाराज हुए, पर जब वह बार-बार हाथ जोड़ने लगी और पैरों पर गिरने लगी तो उनके भी मन में कुछ दया आ गयी। किसी नौकर से न कहकर आप ही स्वयं टोकरी उठाने आगे बढ़े। ज्योंही टोकरी को हाथ लगाकर ऊपर उठाने लगे त्यों ही देखा कि यह काम उनकी शक्ति के बाहर है। फिर तो उन्होंने अपनी सब ताकत लगाकर टोकरी को उठाना चाहा, पर जिस स्थान पर टोकरी रखी थी वहां से वह एक हाथ-भर ऊंची न हुई। वह लज्जित होकर कहने लगे कि "नहीं, यह टोकरी हमसे न उठायी जावेगी।"

यह सुनकर विधवा ने कहा, "महाराज नाराज न हों, आप से तो एक टोकरी भर मिट्टी नहीं उठायी जाती और इस झोंपड़ी में तो हजारों टोकरियां मिट्टी पड़ी है। उसका भार आप जन्म भर क्यों कर उठा सकेंगे? आप ही इस बात पर विचार कीजिए!"

जमींदार साहब धन-मद से गर्वित हो अपना कर्तव्य भूल गये थे, पर विधवा के उपरोक्त वचन सुनते ही उनकी आंखें खुल गयीं। कृतकर्म का पश्चात्ताप कर उन्होंने विधवा से क्षमा मांगी और उसकी झोंपड़ी वापस दे दी। □

लड़की की बहादुरी

माधवप्रसाद मिश्र

(जन्म : सन् 1871 ई.)

1

बड़े बाजार के किरायेदार मारवाड़ियों में ऐसे कोई बिरले ही होंगे जो एक बार "मुंशी के छत्ते" की हवा न खा आये हों अथवा उसके दर्शन से अपने नेत्रों को सुशीतल और उसकी गन्ध से निज नासिका को सुगन्धित न कर चुके हों। इस तिमंजिले मकान में कितनी कोठरियां हैं और किस-किस चाल-चलन के कितने किरायेदार रहते हैं, इस बात का जवाब देना हमारे लिये ही नहीं, मालिक मकान के लिये भी शायद सहज न होगा। पर सुना गया है, इसमें सब किस्म के लोग रहते हैं।

इसमें सेठ साहूकार भी हैं, भूखे और गरीब भी हैं, धनवान भी हैं और दिवालिये भी हैं। पण्डित भी हैं। और मूर्ख भी हैं। इसके सिवा आढ़तिये भी हैं और दलाल भी हैं। वहाँ ऐसे लोग भी रहते हैं, जो अपनी नेकचलनी, ईमानदारी से इज्जतदार कहलाते हैं और ऐसे भी हैं जो इज्जत किस चिड़िया का नाम है, यह भी नहीं जानते। यहां पर ऐसे जमामार भी रहते हैं, जो ऐय्याशी में हज़ारों रुपये कङ्कर पत्थर की तरह फेंक देते हैं और ऐसे लोग भी रहते हैं जो दिनभर परिश्रम का शाम को बड़ी मुश्किल से पेट भरने पाते हैं। इसमें ऐसे गृहस्थों का भी निवास है, जो रात को कमरे के बाहर पैर ही नहीं रखते और ऐसे जीव भी हैं जो घर की औरतों को ग्वालों के भरोसे अकेली छोड़कर खुद बगीचों की हवा खाते रहते हैं। तात्पर्य यह, कि बड़े बाजार की विचित्र सृष्टि का एक निराले ढंग का मार्केट है। इसे मारवाड़ियों की सभ्यता का हास्पिटल और उनके प्रवास-चरित्र की "नुमायस-गाह" कहा जाये, तो अनुचित नहीं है। इसकी महिमा वर्णन करने की हममें सामर्थ्य नहीं है।

यों तो कलकत्ते के प्रायः सभी मकानों में मारवाड़ियों का सतनजा है, पर किराये के मकानों की सुमरनी में मुंशी का छत्ता सुमेरु की भांति सबसे ऊँचा और सबसे निराला

है इसीलिये हमने उसका जिकर किया है, कुछ इसलिये नहीं कि वह और मकानों से खराब है। अचरज तो यह है कि बड़े बाजार का बड़े से बड़ा इज्जतदार रईस भी थोड़े से लोभ के कारण अपने मकान में जिसमें उसकी पर्दानशीन बहू बेटियां भी रहती हैं, ऐसे आदमियों को जो उसके नजदीक बिल्कुल अज्ञात कुलशील हैं, बसाने में संकोच नहीं करता। फिर उन मकानों की बाबत क्या कहा जाये, जो खास इसी गर्ज से बनवाये गये हैं कि उनमें वन-वन की चिड़िया एक जगह इकट्ठी कर उनसे फायदा उठाया जाये?

दिन का एक बज चुका था जब मुंशी के छत्ते के सामने एक अव्वल दर्जे की गाड़ी गड़गड़ाती हुई आकर ठहरी। उससे एक चालीस पैंतालीस वर्ष की मारवाड़ी औरत नीचे उतरी, जिसके हाथ में मेवा और फलों का थाल था। वह कोचवान को कुछ आहिस्ते से कहकर सीधी सीढ़ियों पर चढ़ गयी और तितल्ले पर चढ़कर उसने एक कोने की कोठरी के सामने जाकर पूछा "झूंझुनू का पिरोत नारायण जी अठे ही रहें हैं के?"

अन्दर से एक कोमल कण्ठ ने जवाब दिया "हां, अठे ही, कूण है?" साथ ही एक चौदह वर्ष की लड़की कोठरी से निकल आयी, जिसने बरामदे में चटाई बिछाकर औरत को बैठने के लिये कहा।

2

कलकत्ते में आने पर चाहे औरतों को और कुछ न आता हो, पर छोटे से मकान में गुजारा करना उन्हें खूब आता है। देश में जिनका सामान बड़ी-बड़ी हवेलियों में भी नहीं समाता, यहां वे एक छोटी-सी कोठरी में राजरानी बनकर बैठ जाती हैं और "कुर्मोङ्गानीव सर्वश" को चरितार्थ करने लगती हैं किन्तु देवरानी-जिठानी के साथ एक बड़े स्थान में भी सन्तोष से मिलकर नहीं बैठती। जो हो, मुंशी के छत्त में हर एक गृहस्थ के पास रसोई घर के सिवा प्रायः एक-एक कमरा ही है, उसी में गृहस्थी के सब काम होते हैं। बाहर का बरामदा जिसमें पड़ोसियों का आना जाना लगा रहता है, प्रायः स्त्रियों के बैठने के भी काम आता है। यही कलकत्ते की गृहस्थी का सुख है।

नारायण पुरोहित के पास दुग्गे की दो कोठरी थी, जो एक बड़े कमरे की जरूरत पूरी करती और इसके सिवा लज्जा निवारण भी उनसे अच्छी तरह होता था। पर तो भी इस बात का दावा हम नहीं कर सकते कि यहां एक गृहस्थ का भेद दूसरे पर जाहिर हो ही नहीं सकता कारण, एक कमरे की बातें दूसरे में साफ-साफ सुनायी देती हैं। बीच में खाली टीन का पर्दा है!

आने वाली औरत ने एक भेद भरी निगाह बराबर की कोठरी में डाली, जिसमें एक विधवा स्त्री सोने के पातों का काला चूड़ा पहने हुए बैठी थी। उसकी आनेवाली के साथ चार आंखें होते ही दोनों के चेहरों पर क्षणमात्र के लिये मुस्कराहट हुई, जिसको दानाई के साथ दोनों ने किसी खास मतलब के लिये छिपा लिया, पर इस बात की ओर सरल लड़की का कुछ ध्यान न हुआ।

आनेवाली के बैठ जाने पर लड़की ने पूछा–"थे कठे सूं आया हो?"··· इसके जवाब में उसने कहा "अड़ीच्या सूं"।

अड़ीचे के नाम से लड़की एक बार प्रसन्न हो गयी। फिर मन ही मन सोच कर उसने एक लम्बी सांस लेकर कहा–"बठे तो मेरो नानेरो है। माजीकै मार्‌यां पाछै मैं बठै कई बरस रही हूँ।"

"हां धापली! हां, सै साची हैं, म्हें सै जाणा हां पण बिरा। तूं इब ह्याने भूल गी दीखे है? बालक पणामां घणी ईं खिलाई है। म्हें तेरी नानी की धर्म्म भाण हां।" आनेवाली ने धापली के जीमें घर करने के लिये कहा।

धापली "है" कहकर अचरज से उसकी ओर देखने लगी, पर उसे याद नहीं आया कि उसको उसने कहां देखा था। कई मिनट सोचने के बाद जब उसकी समझ में कुछ भी नहीं आया, तब वह खिसियानी सी हो रही। आनेवाली ने अपना मतलब गांठने के लिये कहा–"तेरो नानो और नानी जगन्नाथ जी जातरा करणै आया हैं, बीन्हा के सागै ही म्हें भी आया हां; बै धरमसाला मां पास ही उतर्‌या हैं तन्ने मिलणै खातर बुलाई है और यो थाल भेज्यो है, तेरी मावसी और जगनियों कठै हैं?"

"मेरी मावसी काकाजी कै साथ आज सवेरे ही सवेरे ताड़केसर गयी है और जगनियों विद्यालामां गयी है, च्यार बज्यां ताईं से जणां आ ज्यासीं, बीं बखत चालस्यूं।"

"ना बिरा। बीं बखत ताईं अठै ह्यांसू बैठ्यो कोनी जाय, च्यार बज्यां की रेल मा तो बै जगन्नाथ जी ही चल्या जासीं। आती बार कूण जाणे अठै होकर जाणू बणेक कोनी बणे? बीन्हा ने अैं ईं बातसूं जल्दीमां तेरी खातर गाड़ी भेजी थी। आछ्यो यो थाल तो राखले" यह कहकर "धर्म्मभाण" लापरहवाही से खड़ी हो गयी।

धापली बड़े धर्म्म संकट में पड़ी। जब वह चार वर्ष की थी उसकी मां मर गयी थी। उसका बाप नारायण कुछ दिनों तक तो उसकी गुणावली याद कर-कर रोता और दूसरे विवाह के नाम से चिढ़ता रहा, पर थोड़े ही दिनों बाद धीरे-धीरे वह स्नेह हवा हो गया और उसने दूसरा विवाह कर लिया! धापली और उसका भाई जगन, जो इस समय विशुद्धानन्द विद्यालय में शिक्षा पाता था, दोनों अड़ीचे नानी के पास भेजे गये। उस बेचारी बुढ़िया ने इनको पाल पोष कर बड़ा किया और धापली का विवाह भी अपनी गांठ के खर्च से खूब धूम-धाम के साथ कर दिया। बालकों की खुशनसीबी से नांवसी अच्छे स्वभाव की आ गयी इसलिये मां के मरने का दुःख उन्हें नहीं हुआ, पर जिस यत्न से उसे नानी रखती थी वैसा यत्न मां बाप की हजार चेष्टा में भी नहीं पाया। इससे वे दोनों कभी-कभी उदास भी हो जाते, पर किसी से कुछ कहते सुनते नहीं।

धापली के विवाह को तीन साल हो गये हैं, अब शीघ्र ही गौना होने वाला है, जिसके लिये उसके दरिद्र बाप के पास दो चार सादे कपड़ों की जोड़ी के सिवा और कुछ न था। कलकत्ते के मारवाड़ियों में "मुकलावे" और "चाले में" आजकल जितना कपड़ा लत्ता और जेवर दिया जाता है, दूसरे शहरों में उतना विवाह में भी नहीं दिया जाता। यहां

प्रायः लोग लेने-देने को देखते हैं, पर यह नहीं देखते कि उसका ढंग क्या है? उससे असली इज्जत बढ़ती है, कि बरबाद होती है।

धापली का नारायण लखपति यजमानों का पुरोहित होने पर भी गरीब ही है। उसे अपनी गरीबी की उतनी परवाह नहीं, जितना अपनी बात का घमण्ड है। वह अफीमची है, पर भगवान् पर भरोसा रखता है। हर रोज घण्टे दो घण्टे पाठ पूजन में खर्च करता है। बिना बुलाये न कभी किसी यजमान के यहां स्वयं जाता और न अपनी लड़की और स्त्री को किन्हीं के घर जाने देता। उसके बहुत से यजमान उसके इस बरताव पर नाराज थे और उसका हक दूसरे खुशामदी ब्राह्मणों को देने भी लग गये थे, पर दो तीन ऐसे भी वैश्य थे जिनकी दया दृष्टि से इस गरीब ब्राह्मण का काम चल जाता था इसको कलकत्ते में रहने से बड़ी नफरत थी पर क्या करता? जाता कहां? देश में दो रोटी का भी कहीं ठिकाना न था। वह खुद नहीं पढ़ा था, पर अपने लड़के को विद्यालय में पढ़ने के लिए भेजता था। विशेष कर जब से उसने "हरू बाबू की ठाकुरवाड़ी में" महामण्डल के महोपदेशकों के व्याख्यान सुने, तब से उसके विचार बहुत ही निर्मल और दृढ़ हो गये थे। उसको निश्चय हो गया था कि मारवाड़ी ब्राह्मणों की हीनता का कारण अनुचित लोभ और अविद्या है। वह तुलसीकृत रामायण का खाली पाठ कर लेता और उसी को घर में सुनाकर मस्त रहता। जब कभी उसकी नवोढ़ा ब्राह्मणी कहती कि "सो दोसो रुपयां बिना थे धापली को मुकलावो कइयां करस्यो।" तो उत्तर देता "थे विरथा सोच करो हो; भगवान आपही कर देसी-"

"नहिं विद्या नहिं वांह बल नहीं खर्चन को दाम।
तुलसीदास गरीब की तूंपति राखे राम।।"

धापली सूरजगढ़ विवाही गयी थी, पर अब वे आसाम के डिबरूगढ़ में रहते थे। दश रोज में वहीं इसको भी जाना था वह बड़ी मुश्किल में थी कि जावे या नहीं? न जाने में उसे इस बात का डर था कि फिर शायद नानी से मिलना हो या न हो? और जाने में उसके दयालु पिता की आज्ञा भङ्ग होती थी। वह यही कहा करता कि "ईं किलकत्तामां भला घरां की बहू बेटियां ने बाहर निकसणो चाहिये ही नहीं।"

थोड़ी देर के बाद "धर्म्मभाण ने" कुछ रुखाई से कहा-"छोरी। इतणी गुमान क्यूं करै है? चालणो है तो चाल। नहीं तो साफ जुबाब दे।"

"कइयां चालूं? काको जी आकर लड़सी।"

"ओहो। नानी सूं मिलणै मां भी काको जी आकर लड़सी? के देर लागै है? गाड़ी त्यार खड़ी है, बात की बात मां उलटी आ ज्यासी।"

"पण जब पूछैगा के म्हारे कह्यां बिना तू क्यूं गयी ही, जणा के जवाब देस्यूं?"

"जणां म्हें आपही सुलट लेस्यां?"

"थे तो च्यार बजे चल्या न जावोगा?"

"जो चल्या ही गया, तो यो मेवा को थाल और तेरा मुकलावा खातर जो इब कपड़ो

लत्तो गैणूं–वैणो मिलसी, वै जुबाब देदेसी।"

"या कइयां?"

"या अइयां–तेरा इण गोरा गोरा खाली हाथा मा जणा वे सुबरण का वन्द बंगड़ी देखसा बीन्हा को कालजो ठण्ढो हो ज्यासी।"

धापली और उस धर्म्मभाण (भगिनी) की बात एक दूसरी औरत भी चुपचाप सुन रही थी, जो पास की कोठड़ी में रहती थी और जिसकी ओर देखकर आनेवाली पहले कुछ मुस्कराई भी थी। वह मौका पाकर निकल आयी और उसने धापली को समझा बुझाकर उसके साथ कर दी। यदि पड़ोसन उसे जाने के लिये लाचार न करती तो वह कभी आगे को एक कदम भी न धरती। अस्तु, धापली चली और पड़ोसन आहिस्ते–आहिस्ते गाने लगी–

"पंछी पड्यो जालमां ढोला इब के लाग्यो दाव।"

3

चलते समय सामने ही एक औरत ने छींका, धापली का ध्यान उधर गया और वह ठिठक कर खड़ी हो गयी। उसको साथ ले जाने वाली ने कहा–

"क्यूं ए। आती–आती रुक कइयां गयी?"

"किसी ने छींक दियो।"

"फेर के हुयो? किसी दिसावर थोड़ी ही जाणूं है? घणूं बहम करणू आछ्यो नहीं।"

धर्म बहिन के इस तरह समझाने पर भी उसकी छाती धड़कने लगी, पर वह उसके कहने से पीछे–पीछे चल पड़ी। इतने बड़े मकान में किसी ने भी न पूछा कि वह कौन है और लड़की के माँ बाप की गैर हाजिरी में इस प्रकार उसे कहाँ लिये जाती है? पूछता भी कौन? कोई अपना होता तब न? कलकत्ते में कौन किसको पूछता है!

इनके गाड़ी में बैठते ही सईस ने खिड़कियाँ बन्द कर दीं और कोचवान ने चाबुक फटकार कर गाड़ी हांक दी। थोड़ी देर चलने के बाद गाड़ी हरिसन रोड पर श्यामदेव भौतीका की धर्म्मशाला के सामने ठहरायी गयी और धर्म्म बहिन यह कहकर उतर गयी कि "तू अठे ही बैठी रह, देखां बै अठैही हैं क कठै चल्या गया। सत्यनारायणजी की धर्म्मशाला मा चल्या गया हूंगा।"

"क्यूं बठैक्यूं चल्या गया हूंगा। थे तो कहो था ऐंही धरमसालामां ठहरया हां।"

"ठहरया तो अठेही था, पण जल्दी का मार्‌या यो विचार कर लियो होगो के बीमां जाणे सूं रेल को ठेसन नजीक पड़सी।"

"आछयो तो थे देख आओ, इबतक अठै ही हूंगा।"

वह धापली को गाड़ी में छोड़कर धर्म्मशाला में गयी और दो चार मिनट के पीछे लौटकर घबराहट के साथ बोली–"बै इबी गया, चाल बठे चालस्यां।" गाड़ी में बैठने से पहले उसने बनावटी गुस्से के साथ कोचवान से कहा–"राममार्‌या आगे हो घणी

उंआर हो गयी है–इब तो जल्दी सी गाड़ी ने ले चाल।"

"बहुत अच्छा हुजूर!" कहकर कोचवान ने घोड़ों की बाग सम्हाल ली। धापली ने पहले तो चलने से उजर किया बाद में उसके बहुत कुछ समझाने बुझाने पर उसकी राय से मुत्तफिक हो गयी। गाड़ी हवड़े के पुल को पारकर श्रीसत्यनारायणजी की धर्म्मशाला के सामने से निकल गयी, पर अचरज की बात यह कि वहाँ ठहरी नहीं। वह जल्दी-जल्दी सलकिये का कलेजा चीरती हुई लिलुवे की तरफ दौड़ने लगी। दस पन्द्रह मिनट तक तो धापली चुपचाप रही पर फिर वह उकता कर धर्म्मशाला का ठिकाना पूछने लगी, जिसके जवाब में वह "वा आयी, वा आयी" कहकर उसको धीरज बंधाने लगी।

धर्म्म बहिन ने इस समय धापली को बातों में लगाना जरूरी समझा और उनमें इस तरह बातें होने लगी–

"हाँ ए! धापली! किलकत्तामां आयां कितणा दिन हुया?"

"दो बरस।"

"कदै किलकत्ता की हवा भी खायी है?"

"कई बार! कालीजी कई बार अपणै सागै काकोजी लेग्या है; रास्तामां घणा ही सरूप-सरूप खिलारा देख्या और मैदान की सीली-सीली हवा लागी।"

"इतनी बड़ी होके बी तूं इब ताईं गीगली ही रही! तेरा हाण को छोरी गीगला खिलाणैं लाग्गी।"

"थे देख्यो कोनी, एक गीगलो म्हारी बाड़ीमाँ भी हो, बेने मैं खिलाया करूं हूँ।"

"बावली, म्हें वा बात नहीं पूछां हां, ह्मारो मतलब है, डाली पत्तां की कुछ लागी है?"

"डाली तो नहीं, पण पत्ता घणा ही लाग्या। थांवलामां कई तुलसी का पेड़ लगाया, घणी ही सेवा करी, पण राममारया रह्या ही कोनी, जाता ही रह्या।"

धापली की भोली-भोली बातें सुनकर धर्म्म बहिन का कलेजा कुछ भी नहीं पसीजा, वरञ्च वह उलटी झुंझलाकर मन ही मन कहने लगी कि "कलकत्तामां आणेसूं लोग कहैं हैं के सै चार जरब हो ज्यावें हैं पण यो कोनी बेरो ऐं तरां का घणा ही जिनावर फिरैं हैं।"

थोड़ी ही देर में गाड़ी उस जगह पहुंच गयी जहां धर्म्मशाला के बहाने धर्म्म बहिन उसे लाना चाहती थी।

4

लिलुवे के स्टेशन से थोड़ी दूर एक मारवाड़ी बगीचा है, जो अपनी सज-धज में सबसे निराला है। अगर्चे इसमें कोई ऐसी बड़ी इमारत या देखने लायक चीज नहीं है जो कलकत्ते जैसे शहर में इसको बढ़िया बगीचा कहा जाये, पर इसमें शक नहीं कि इसका तलाब, मकान और रविर्शे वगैर ऐसी खुशनुमां हैं जिससे यह साफ जाहिर होता है कि किसी ने दिल लगाकर उसे बनवाया था। इसमें एक खूबसूरत कमरा है, जो देखने में छोटा होने पर भी यार लोगों की दावतों के लिये काफी कहा जा सकता है। पहले यहां

हर हफ्ते नाच वगैरा की मजलिसों का ठाठ जमता था पर अब भी महीने में दो एक बार आम जलसे हो जाते हैं, पर पोशीदा तौर पर क्या-क्या होता है, इस बात को शायद पड़ोसी भी कम जानते होंगे। जब से यह बगीचा बना है तबसे इसके सात आठ मालिक बदल गये, पर इसमें जिस तरह की गन्दी कार्रवाइयां होती थीं उनका ढंग अब तक भी नहीं बदला है। राजधानी कलकत्ते में पुलिस है, डिटेक्टिव हैं, और बड़े-बड़े अफसर हैं भी इसी बात के लिये कि किसी पर कोई जुल्म न कर सके, पर तब भी यहां परदे की ओट में कितना जुल्म होता है' किस तरह पर गरीब लोग सताये जाते हैं, और किस प्रकार रुपये वाले गुण्डे बदमाशों के सहारे अपनी नीच वासना पूरी करते हैं, इस बात को विरले ही आदमी जानते हैं। जानने पर भी कहने का साहस किसी को नहीं! जो हो, यह बगीचा भी इसी प्रकार की पैशाचिक करतूतों का गुप्त अड्डा है। धापली की गाड़ी बगीचे में चली आयी और कमरे के सामने आकर ठहर गयी।

सइस के गाड़ी खोलने पर धर्म्म बहिन ने कहा "ले बीरा ठिकाणा पर आ पूंच्या।"

धापली यह समझकर कि नाना-नानी उसके मिलने को तैयार होंगे, आनन्द से नीचे उतर आयी और कोचवान गाड़ी को हांककर वहां से वापिस ले गया। धर्म बहिन के पीछे-पीछे धापली एक बरामदे में होकर कमरे के बीच में जा पहुंची, जहाँ इनकी इन्तजारी में एक पचास वर्ष का मारवाड़ी पलंग पर बैठा हुआ था।

उसके बगल में मखमली कोंच रखी हुई थी। जिस पर बैठने के लिये इशारा करके उसने कहा-"स्याबास! रामली! स्याबास! तेरा दाव कदे खाली थोड़ी ही गयो है? खूब बढ़िया माल"-अभी इसकी बात पूरी होने नहीं पायी थी कि रामली ने (जिसको हम अब तक धापली की नानी की धर्म्म बहिन कह रहे हैं) बीच ही में रोककर कहा "चुप! लबरदार! या खेलणी मालणी माता कोनी है सोच समझ के काम करणो!" इसके साथ ही रामली ने उस आदमी की ओर इशारा किया और वह उसके साथ कमरे की बगल वाली उस कोठरी में चला गया जिसके अन्दर से एक रास्ता बाहर की तरफ भी गया था।

धापली बड़ी हैरान थी कि यह क्या बात है इस आदमी ने क्या कहा और वह कौन है? वह मकान के चारों ओर अचरज से देखने लगी, पर वहां उसे धर्म्मशाला का कोई चिह्न दिखलाई नहीं दिया। पहले तो उसने समझा कि उसके नाना-नानी अन्दर किसी कोठड़ी में होंगे और यह कोई नये ढंग की धर्म्मशाला होगी पर उस आदमी के हाव-भाव और वार्तालाप से उसका कलेजा सन्देहाकुल हो गया। जब उसने देखा कि उस कमरे में जितनी तस्वीरें लगी हुई हैं, वे सब नंगी औरतों की हैं तो उसका हृदय कांपने लगा।

थोड़ी देर पीछे उसने एक आवाज सुनी, पीछे फिर देखने से मालूम हुआ कि जिस दरवाजे से होकर वह कमरे के अन्दर आयी थी किसी ने उसे बन्द कर दिया। यह देखकर वह घबरा गयी और उसने चाहा कि एक चीख मारे, पर उसी समय उस कोठरी से वही आदमी निकल आया और उसने ढाढस देकर कहा कि-"धापली! तेरी नानी टट्टी गयी

है। रामली ने बुलावण भेजी है, आया मां आयी है। तूं बैठ ज्या, खड़ी-खड़ी काँपे क्यूं है?" धापली को उसकी बात पर पूरा विश्वास नहीं हुआ, पर वह उसके कहने से कोच पर सिकुड़कर बैठ गयी।

5

कोठरी के रास्ते से रामली बाहर निकल आयी और मारवाड़ी बाबू को समझा गयी कि लड़की खूबसूरत और जवान होने पर भी कलकत्ते के कुसङ्ग से बिल्कुल बची हुई है उसको स्याह और सफेद का कुछ भी ज्ञान नहीं है। ऐसी लड़की लोभ से या डर से बात की बात में काबू में भी आ सकती है और यदि बिगड़ बैठे तो उसे अपने प्राण देने और दूसरे के लेने में कुछ देर भी नहीं लगती। इसलिये वह जब तक टट्टी जाकर आवे, तब तक उस पर बलात्कार न किया जाये।

वह कमरे से निकल कर तालाब के किनारे पहुंची, जिधर टट्टियां बनी थी। वहां वह एक काले मुसण्ड आदमी को घास काटते देखकर चौंक पड़ी और उसकी नजर बचाकर टट्टी की ओर जाने लगी पर उसने इसको देखकर खंखारा किया, जिससे इसने शर्मा कर उसकी ओर कदम बढ़ाया। काले मुसण्ड ने मुसकुरा कर कहा–

"कहै नै चोधरण! आज कठै?"

"बाबू कने आयी ही।"

"तो के यो बाबू भी ह्यारलै उस बाबू की तरां उसाय सै?"

"हां ऊन्हा सूं भी गयो बीत्यो।"

"अठे तैं आज एकली ही आयी सै क किसी उसे ये पंछीने भी फंसाकर ल्यायी सै?"

"ल्यायी हूं।"

"कोण सै? भला बता तो दे?"

"थे बूझ कै के करोगा?"

"खुशी से आयी सो! बताणा हो तो बतादे, चवोड़े क्यूं करै सै।"

"थे अठे कितणा दिन सूं आया हो?"

"जद सेती उठे की नौकरी गयी। कितने दिन तो मुन्शी के छत्ते में स्खाली फिर अठे बाबू के आ रह्या।"

"ह्ने तो जाण्या थे देश गया?"

"देश मैं कठे जाऊं देश हुन्दा तो जान्दा, हरियाणै का तो काला ने अर बीमारी ने नाश मार दिया, कुटम कबीला सब खप ग्या, बचे खुच्या का भी पता कोनी कठे सैं? जो देश हुन्दा तो इस सुसरे नरक कुण्ड में आके कोण घास काटता?"

"घास काटणी तो थारे भाग मां लिख्यो है, न तो थे बैं बाबू का धरमां इबताईं घणाईं बड़ा आदमी हो ज्याता, जणा पीछे कितणाईं नौकर चाकर बड़ा बण ग्या।"

"चूल्हे में जा तेरा बाबू और बड़प्पण! बामण की छोरी का नाश किसतरां करवाता?"

"ईं कलकत्ता मां किसी को नाश करयां करायां बिना कूण कैने पूछे है?"

"तो मन्नै इसी पूछ कोनी कराणी। मजूरी करणी और पेटभर लेणा। इस तरांके आदमियां का आखर में मूं काला हुया करै सै। तैं पेट फुलाया के फिरै सै। देख लिये रांड कुत्ते की मोत मरेगी।"

"देख लेस्यां, हमें तो घणा ईं बापड़ा बड़ा बड़ा धर्मात्मा तड़फ तड़फ कै मरता देख्या है और ईं तरांका कई लोग छिनमां मरके सुरग सिधार ग्या हैं।"

"सुरग सिधार ग्या सैंक नरक–यो तो तार तेरे पास आया होगा। हाँ, एक आधकै किसै दूसरे जनम का पाप पुन्य आडै आज्या तो दूसरी बात सै नहीं तो "इस हाथ दे और इस हाथ ले" याही बात। आच्छा, यो सारा झगड़ा तो जाण दे बतावै नै आज अठे किसे वेश्या ने ल्याई सै क किसे घिरस्थण ने?"

रामली नहीं चाहती थी कि उसकी बात का जवाब दिया जाए। क्योंकि वह जानती थी कि नेकचलन जाट उसकी बनी-बनाई बात को मिट्टी में मिला देगा। सालभर पहले जब इसी तरह एक दूसरे बाबू के यहाँ वह रहता था, जहाँ यह आज की तरह लड़की को उड़ाकर ले गयी थी तो उसने अपनी जान पर खेल कर लड़की को बचा लिया और नौकरी से हाथ धो डाले। उस दिन रामली, इसके मजबूत हाथों के दो थप्पड़ खाकर शपथ कर चुकी थी कि फिर किसी लड़की के सर्वनाश कराने में वह प्रवृत्त नहीं होगी, पर इस किस्म की औरतें कसम-वसम को कुछ चीज नहीं समझती। रामली इस समय डरती थी कि कहीं वह खफा होकर उस दिन की तरह उसकी पूजा न करने लग जाये। इसी से वह खौफ खा टट्टी जाने की बात भूलकर उसकी बातों का जवाब दे रही थी, पर अब जवाब देना जरा कठिन था। क्योंकि उस सत् पुरुष का कहना था कि यदि किसी को झख मारना ही हो तो वेश्या क्या थोड़ी हैं, फिर गृहस्थी का सर्वनाश क्यों किया जाए।

रामली को चुप देखकर उसकी आँखें लाल हो गयीं और वह कड़कड़ाकर बोला "साची बता; किसे टकिहारी ने ल्याई सै क घिरस्थी ने?"

रामली उसकी घुड़की से कांपने लगी और लाचार होकर बोली "घिरस्थण"।

"रामली! फेर बाहे बात! आच्छा सफा बता आज किसकी बहू बेटी का सत्यानाश करावेगी?"

"वै एक अफीमची बिराह्मण हैं जो मुन्शी का छत्तासां तिमञ्जला पर रहै हैं।"

"वोहे के जो भोत पूजा पाठ कर्‌या करै सै? और रामाण सुणाया करै सै!"

"हां वैही।"

"भला उसका नाम के सै?"

"नारायण"

"हे राम!" नारायण का नाम सुनकर जाट के मुँह से वे अख्तियार निकल गया "हे राम!" उसका चेहरा गुस्से से लाल हो गया और होंठ कांपने लगे। उसने अपने को बहुत

सम्हाला पर वह गुस्से को किसी तरह जब्त नहीं कर सका। वह गर्ज कर फिर बोला—"रांड! जल्दी बता, उस गरीब की लुगाई ने ल्याई सै क छोरी ने?"

"छोरी ने"

"हैं! छोरी ने?" जाट ने झुंझलाकर पूछा—"हैं छोरी ने?" जो गरीब किसै तरां अपणे कलकत्ते में दिन तोड़ र्‌या सै, उसकी छोरी ने नरक में डबोवणनैं ले आयी! एण पापणी यो तो बता उसकी मोसी और बाप कठे मर ग्ये थे?

"ताड़केसरजी गया है"

"छोरी इब कठै सै? और उनमें बातचीत कुछ हुई सैं क ना?"

"ना, इब तक बींके हाथ भी कोनी लगायो होगो। दोनों जणां कमरामां मेरी बाट देख रह्या हूंगा।"

"द्रोपदी की रिच्छा करणवाला राम! तूं कित सै?—कह कर खुरपी हाथ में ले, बहादुर जाट खड़ा हो गया। और रामली को धमका कर कहने लगा—"चिण्डाल रांड! जिसे डूबण के काम तैं करे सै, इसे म्हारे हरियाणै में कोई चमारी भी कोनी करै! देख जै छोरी बची, तौ तैं बची, नां तो रांड! आज तेरा बी गाला आग्या। इसे तलाई में तन्ने और तेरे बाबू ने डबोकर मारूंगा।" इतना कहकर वह जब सीधा कमरे की ओर जाने लगा तब उसे किसी के पैर की आहट मालूम हुई जैसे कोई तीसरा आदमी वृक्षों की ओट में खड़ा होकर इनकी बातें सुन रहा हो। उसके पास इतना समय नहीं था कि वह इसका निश्चय करता कि वह कौन है? जल्दी के सबब वह कमरे की ओर दौड़ा गया, मगर अफसोस वहाँ जाकर उसने चारों ओर के सब किवाड़ बन्द पाये।

अब पाठक! जरा उस कमरे के भीतर का भी हाल सुनिये, जहाँ आप उस बेचारी निरपराध लड़की को एक ऐसे कुकर्मी के पास छोड़ आये हैं जिसकी गन्दी करतूत से बड़े बाजार के अनेक गृहस्थ हैरान और परेशान हो रहे थे। मगर उसके सामने चूं तक करने की किसी में हिम्मत न थी। वह अपनी चालाकी से बहुत बड़ा आदमी हो रहा था। उसने अपने कई दोस्तों के खानदान बरबाद कर दिये, कई इज्जतदार ब्राह्मणों का सर्वस्व हड़प लिया, पर तो भी वह अपने आपको बड़े बाजार में अनाथों का नाथ और भूखों का मां-बाप कहा करता। वह गपोड़ेबाज इतना था कि अपनी झूठी सखावत की तारीफ करने में जमीन आसमान के कुलाबे मिला देता पर देने के वक्त गिरगिट की तरह रंग बदलने में उसे जरा भी देर नहीं लगती। कलकत्ते में ऐसे बड़े आदमियों की कमी नहीं है जो बिरानी बहू बेटियों का सर्वनाश करने पर भी रुपये के जोर से बड़े आदमी बने बैठे हैं और सभा सोसायटी तथा पंचायत आदि में ऐसी मठमर्दमी करते हैं कि जिससे इज्जतदार आदमी इनके मुकाबिले में अपनी इज्जत के खौफ से बढ़ने का ख्याल तक नहीं ला सकते। पर उन सबमें हमारी क्षुद्र आख्यायिका के नायक बाबू गूदड़मलजी को सबका सिरताज कहा जाये तो कुछ अनुचित नहीं है।

श्रीयुक्त बाबू गूदड़मलजी का रंग इतना काला नहीं था जो लोग उसकी तुलना काले

देव के साथ करते, पर बड़े बाजार के निडर मसखरे इस बात की परवाह न कर उसे "कालादेव" कहने में नहीं चूकते किन्तु बाबू गूदड़मल इससे सख्त नाराज थे। अगर्चे उसकी चिपटी नाक और बेहूदा शकल देखकर एक तरह की दिल में घृणा पैदा होती पर वह अपने को बहुत ही खूबसूरत समझता और अकसर कहा करता–"कितणा ही साला म्हाने भूंडा मूंका बतावें हैं पण उन्हां की निंदरा सूं म्हारो के लुकसाण हैं? घणा ही लखपतियां की लाडी म्हारै लार-लार फिरैं हैं! म्हानै तो कोई आंख्यांको आंधो और गांठ को पूरो मिल्यो ही रहे है।"

अस्तु, गूदड़मल अपनी कटखानी आँखों से धापली की ओर चुपचाप देखता रहा। धापली यद्यपि जेवर पहने हुए न थी और न उस गरीबनी के पास कपड़े ही बढ़िया थे पर तो भी उसकी भय और लाज से भरी आंखें उसकी खूबसूरती को दुचन्द कर रही थीं। उसके भय–चकित विशाल नेत्र, स्वेदयुक्त ऊंचा मस्तक और कांपते हुए उन्नत उरोज देखकर वह पापीष्ठ अपने जी में बेसब्र हो रहा था और इस समय का एक-एक मिनट उसके लिए वर्ष बराबर बीतता था।

आखिर गूदड़मल से चुपके नहीं रहा गया, वह बेताब होकर धापली से इस तरह बातचीत करने लगा, मानो उसको यह पूरा भरोसा था कि अपनी बातों से वह काम निकास कर ही लेगा। वह कहने लगा "धापली; तने बेरोबी है, तूं अठे क्यूं बुलाई गयी है?"

"सै बेरो है, नानी-नानी सूं मिलणने।"

"ना, धापली! ना, सै झूठ है, न तो तेरी नानी अठे आई और न नानू ही आयो।"

धापली ने घबराहट और क्रोध के साथ पूछा "तो बा रांड, मनै अठे क्यू ल्याई है?"

गूदड़मल तसल्ली देकर कहने लगा "सुण, धापली! सुण, जरा धीरज धरके म्हारी बात सुण, अठे आवण को सै बेरो पटज्यासी।...."

थारे पड़ोसमां ऐं रामली की एक विधवा भाण रव्है है, बा म्हारी भोत दिनां की दूती है उण अपणी चतुराई सूं बड़ा-बड़ा पंछी म्हारै जालमां फंसाया है। बैं म्हारे आगे तेरा रूप ही इतणी बड़ाई करी क म्हें एक दिन बठै देखण खातर गया जणा तूं नीचे टूंटी पर न्हावण लाग रही थी। देखता ही म्हे मोहित हो ग्या और तेरेसूं मिलण को जुगाड करण लाग्या। पर तेरा बाप की चतुराई और अक्खडपनकै आगै म्हारी कुछ बात पेश कोनी गयी। आखर, रामली की भाणनै थारै पड़ोसमां ईं बात की खातर बसवादी क मोको पाकर बा म्हाने खबर दे देवे। काल तेरी मावसी और काका को ताड़केसुरजी जावण को बेरो पट्यो जणां बैंई बखत बीं खबर दी और म्हें रामली ने इनाम देणीकर तने अठे मंगाली। घबराणे की कोई बात नहीं, ऐह्यां कितणी छोरियां ने बुला चुक्या, पण तैरै जिसो उन्नामां मन कोनी फस्यों था"–

इतना कहकर उस चालीस पचास वर्ष के बुड्ढे पापी ने पलंग के नीचे से एक डिब्बा निकाल लिया और उसमें से सुनहरी जड़ाऊ जेवर निकाल कर उस कन्या समान भोली बालिका को जो उसके सामने बैठी काठकी पुतली की तरह चुपचाप सुन रही थी

दिखा-दिखा निर्लज्जता के साथ फिर से कहना शुरु किया वह बोला "देख, धापली! तेरी खातर यों हजारां को गैणों बुणवायो है। इसा बन्द बंगड़ी और बोर बन्दी पहरणे तूं सूं भोत सरूप लागसी, आव, इमां सरमावणकी के बात है; कीने इणबातां की म्हें खबर थोड़ी ही होवण द्या हां? दस पांच दिनमां तेरो मुकलावो तो हूणोई है, जणां ईं जेवर सूं तेरे सासरामां तेरै बाप को घणो ही नाम निकल सी, म्हां सूं बोल्यां बतलायां पीछे दो ही घण्टायां यो सारो जेवर तेरो हो ज्यासी।"

धापली के सिरपर इन बातों से मानो बिजली गिर पड़ी! वह सन्न होकर देखती ही रह गयी। अगर्चे उसकी आंखें खुली हुई थी। मगर इतनी पथरा गयी थी कि अन्धेरे के सिवाय उसे और कुछ दिखलाई नहीं देता था। पिता की आज्ञा भंग करके एक अपरिचित स्त्री के साथ छींकते हुए आने का फल उसे आंखों के सामने मूर्तिमान खड़ा दिखलाई दिया। कुछ देर के बाद वह सम्हलकर खड़ी हो गयी और घबराहट की जगह उसके हृदय में दृढ़ता आ बिराजी उसने कड़ककर कहा-

"खबरदार! इसी उसी बात कही हैं तो, मैं किसी इसा बाप की बेटी हूं जो विराणा गैणां पर मन चलाऊं? थे थारो गैणों अपणै कने ही राखो म्हाने कोनी चाये। काकोजी लड़ेगा म्हाने जाणद्यो।"

"ज्यान! जाणै की बात जाण दे के मजाल जो तेरो काको आंख भर कै तेरी ओर देख भी ले। पहलां तो बै गैणोंईं देख कै दङ्ग हो ज्यासी, इतणो गैणूं किसी रूंखां मां लागै है? और फेर तूं कव्हैंगी तो बीने सो दोसो रुपया भी दे देस्यां, पाठ पूजा धरम करम के कामां मां सदा बीनैं याद राखस्यां, जीं सकसने इसा कामां सूं म्हारो मन राजी राख्यो, बीनें म्हें बड़ाबडा पिंडतासूं बत्ती पुजवायो।"

"फेर वही बात! चुप कोनी रव्है। मेरां काको किसो हराम को जाया है जो गैणा का लोभ सूं ऐयां की बात करै और आपनी बाई को नाश करा देवै"।

"ज्यान साब! इतणो नखरो करणो आछ्यो नहीं। इबी ढाई बज्या है, चार बजणे मां भौत देर है। तेरे काका कै आणै सूं पहलां बठे पूंचा देस्यां डरै मत की ने खबर कोनी होसी।"

"फेर वाही बात! ज्यान साब कूण हो है? थारी मा भाण होसी"-धापली क्रोध से कांपने और जाने के लिये रास्ता देखने लगी।

गूदड़मल कहकहा लगाकर हंसा और बोला "ओ हो! इतणो गुमान! भलां ऐयां भाग के कठे जावैगी? प्यारी, तूं म्हरा हाल पर दया कर"। यह कहकर उसने धापली को पकड़ना चाहा, पर वह झट से अलग हो गयी और फिर उसने यह कहकर कि "तेरे स्यारखा पाजियां पर रामजी भी दया कोनी करै" उसने घूमकर उसके एक ऐसी लात जमायी जिससे गूदड़मल सन्न हो गया। मगर वह इस तरह की मार पीटका आदी हो रहा था इसलिये उसने इस मार की कुछ परवाह न की और मुस्कराकर नरमाई से कहने लगा-"रामजी वामजी की दया म्हाने कोनी चाहिये, म्हें तो तेरी दया का भिखारी हाँ, चाहे मार चाहे छोड़, ऐयां की लात मुफ्त माँ कठे पड़ी है! आव इव पीछे तूं कहेगी

सो करस्यां।"

धापली समझ गयी थी कि वह भारी विपत् में पड़ी है। इसलिये उससे निकलने के लिये वह मरने मारने पर तुल गयी। देखते ही देखते उस भोली बालिका ने रणचण्डिका का रूप धारण कर लिया और उसने ललकार कर कहा—"खबरदार! जो एक पैर भी आगे रख्यो, यो ही कहणां है मने घर जाण द्या, मैं बिराह्मण की कन्या हूं जो मेरै पर जोर जुलम कियो तो सत्यानाश हो ज्यासी"।

पर धापली के इस कहने का असर गूदड़मल पर उलटा हुआ। वह त्योरी बदलकर बोला "बस नरमाई सूं सिर पर ही चढ़गी, कितणी ही घणी नखरा करण वाली ईं तलाव में डबो दी हैं। यो रजवाड़ो कोनी! किलकत्तौ है, किलकत्तो!! अठे तो खाली रुपये की पूछ है। बिराह्मणां की धोती किसी अकासमां सुकै है, तनै बिराह्मण पण को जोर दिखाणो हो सो दिखा ले" यह कहकर वह उस पर इस तरह लपका जिस तरह जङ्गली व्याघ्र बछिया पर टूटता है। मगर धापली फुर्ती से हट गयी और पुकार कर बोली—"चिंडाल। इब भी सावधान हो ज्या, खबरदार! हाथ लगायो तो याद राख कोढ़ी होकर मरैगो।"

"जाणै इसा इसा सराप कितना सुण्या है? फूक मारयाँ पहाड़ थोड़ी ही उड़ ज्यासी। तूं अपणो जोर जमा ले।"

"मेरी गरीवणी को के जोर है? जोर बैं को है जो अनाथां को नाथ गरीबां को मां बाप और डूबता को सहारो है। वोही द्रोपदी की लाज बचावण वालो मेरो रखवालो हैं, देख एक बार ऊं कानी देख" धापली डबडबाई हुई आँखों से ऊपर की ओर देखने लगी, मानो उसे अपने रक्षक का पूरा भरोसा है। पर गूदड़मल की दृष्टि में यह सब खिलवाड़ था। वह बोला—"म्हाने तू भोंदू ही समझै है के? कठे हो तो देखूं? यो तो खाली एक बिराह्मणां डरावो बुणा राख्यो है। के पड्यो है देखणनै!"

"आछ्यो तो फेर तूं अठे आव, तने मैं तमासो दिखाऊं जो करणो है सो कर ले" बिजली की तरह कड़ककर धापली ने जवाब दिया। इसको सुनकर वह पिशाच आगे की ओर बढ़ा ही था कि धापली ने उछलकर उसके पेट में जोर से एक लात मारी जिससे वह धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ा! इस बार की लात उसके मर्म्म स्थान पर लगी। गूदड़मल के गिरने के साथ ही कमरे से आवाज आयी ".स्याबास! बिराह्मण की बेटी! स्याबास!!" साथ ही कमरे के किवाड़ खुले और एक कृष्णकाय पुरुष अन्दर आकर गूदड़मल की छाती पर चढ़ बैठा और दपटकर बोला "बोल तनै रामजी दीख गया क यो तेरा ठिणाई दिखावे?"

6

धापली ने देखा कि जिस तरह द्रोपदी के दुःख से दुःखित हो महाबली भीमसेन ने भयानक आक्रमण कर दुष्ट कीचक को पछाड़ डाला था, ठीक उसी तरह एक काले आदमी ने गूदड़मल को दबाकर उसकी इज्जत बचा ली। वह सरला बालिका नहीं पहचान सकी

कि वह कौन आदमी है। कारण एक तो उसके नेत्र जल से भरे थे; दूसरे उसकी तरफ उसकी पीठ थी पर उसका स्वर ऐसा मालूम दिया कि मानो पहले कहीं सुना हो। वह हर्ष और शोक से व्याकुल हो, मन ही मन भगवान् का धन्यवाद कर रही थी। इतने ही में उसने देखा कि गूदड़मल ने काले आदमी के हाथ को दांतों से ऐसा दबा लिया है कि यदि वह छुटाया नहीं गया तो भारी घाव हो जायेगा और ताज्जुब नहीं, जो उसके दर्द को न सहकर काला आदमी उलटा गूदड़मल के काबू में हो जाये। था भी ऐसा ही, यदि थोड़ी देर और वह उसी हालत में रहता तो गूदड़मल फिर उसको दबा बैठता।

धापली ने बड़ी फुरती से गूदड़मल के दाहिने हाथ को उसकी कमर की ओर उलटा ले जाकर जोर से ऐसा मरोड़ा कि उसने मुंह बा दिया। मौका पाकर काले आदमी ने अपनी खुरपी के हलके से दो वार किये, एक उसकी बगल में और दूसरा उसकी नाक पर। इसके बाद उसने उसे औंधे मुंह जमीन पर दे मारा और वह उसके हाथों को ऐंठकर अपने दोनों जानुओं से गूदड़मल की कमर दबा, इस ढंग से बैठ गया, जिससे वह दम भी न मार सके। जिस कोठरी से काला आदमी निकलकर आया था उसी कोठरी से एक ऐसी आवाज आयी, जिससे एक बार चौंक पड़ा। उसने देखा कि उस अन्धेरी कोठरी में जिसमें दिन के समय भी उजाले बिना रात रहती, एक सफेदपोश आदमी सा खड़ा है और उसे शाबासी दे रहा है! वह बड़ा हैरान हुआ कि यह कौन है? यहां तो कोई और भी न था। उस सफेदपोश ने कहा–"शाबास! बहादुर जाट! शाबास! आज तुमने एक ब्राह्मण की लड़की का सत बचाकर अपने देश का मुख उज्ज्वल कर दिया। भाई। तुम अपने को अकेला मत समझियो, मैं भी तुम्हारी सहायता के लिये हर वक्त तैयार रहूंगा।"

देखते ही देखते सफेदपोश गायब हो गया। जाट ने समझ लिया कि वह सैय्यद साहब हैं, जिनकी चर्चा वह मालियों से बहुत बार सुन चुका था। जो हो, थोड़ी देर पीछे उसने गूदड़मल से दपटकर कहा–

"चिण्डाल! देख तनै रामजी मैं दिखाऊं! जिद तलक सिट्टे की तरां तेरा सिर उड़ा दिया न जागा, तब तलक राम रहीम ने तैं थोड़ा ही मानैगा?"

"ना–ना, मारो मत, थानै रामजी दुहाई! म्हाने से राम रहीम दिखाई देवे हैं।"

"ना, इव, ना ना, मत करै। जो तेरे जिसे राकस जीवते रहै तो दुनियां ने थोड़े ही वसण देंगे। ले इव तैं भी अपणै बचावणियेने पुकार ले एक हाथ में ही वेड़ा पार कर द्यूंगा।"

"दुहाई! म्हे थारी गऊ हां, इब पीछे बिराह्मण की लड़की ने अपनी लड़की बराबर समझस्यां।"

"ना, तेरे जिसे कुकर्मियां की सो साचका के एतवार?" इतना कहकर उसने फिर गूदड़मल के हाथ को ऐंठना शुरु किया। वह दर्द के मारे चिल्लाकर रोने लगा। धापली को उसकी दुर्दशा देखकर बड़ी दया आयी। उसने खुरपीवाला हाथ पकड़ लिया और

बोली–"ईं न मारो मत, छोड़ द्यो थानै बड़ा पुन्य होगो"।

"ना हे-ना, इस चिण्डाल की रांद काटण दे लोगां ने भोत खराब करैगा।" –काले आदमी ने जवाब दिया।

गूदड़मल धापली की बात का सहारा पाकर फिर पुकारा "दुहाई गंगामाई की! आज पीछे म्हें सै जात की बहू बेटियां ने अपणी मा भाण बराबर समझस्यां।"

"साची कहै सै ना? फेर दगा तो नहीं करेगा?"

"ना, गंगा की सोगन खाके कहां, इसो बुरो काम कदैही कोनी करां। इव म्हाने थे छोड़ द्यो।"

जब तक गूदड़मल नीचे पड़ा रहा, तब तक तो वह चूं तक न ही कर सका और न उसको यही ख्याल था कि उसको जेर करने वाला उसी का नौकर जाट है। जस्सा उसके पास साल भर से नौकर था पर उसको अपने मालिक से और मालिक को उससे आज तक बातें करने का मौका नहीं मिला था। सिर्फ दूर से देखा-देखी हो जाती थी। कारण यह था कि जस्सा हठखोले के गोदाम में रहता था, जहां शोकीन मालिक का आना जाना वर्ष दिन में कभी इत्तिफाक ही से होता था। इसलिये एक-दूसरे की आवाज नहीं पहचान सका। इधर धापली ने उसके स्वर को तो पहचाना, पर यह नहीं समझ सकी कि यह वही जस्सा जाट है जो सालभर पहले उनके छत्ते में एक जमादार की एवजी से नौकर रह चुका है। अब उसके उठते ही हर्ष और क्रोध के दोनों के चेहरे बदल गये!

धापली ने दौड़कर कहा "जस्सा तू है? मैं पिछण्यो ही कोनी? भगवान् तेरो भला करै" दोनों की आंखें भर आयीं और उसने उसको पुचकार कर बहुत सी धीरज दी! पर इस दृश्य से गूदड़मल को सन्तोष नहीं हुआ! विशेषत: जब उसने उठने पर अपने कपड़ों को रक्त से रंगे हुए पाया। वह गुस्से से लाल हो गया और बोला "नमकहरामी! या तेरी ही बदमासी थी? (नाक को सम्हालकर) बारै! म्हारी नाक ही काट गेरी।"

"हां यो मेरा ए काम था निमकहराम मैं सूंक तैं, जरा विचार के तो देख? यो के? मैं तेरे जाल से इस कन्या ने छुटाणै मैं ये निमकहरामी हो गया और तैं तीन लोक के मालिक की पिरजाने इस तरां सताकै बी निमकहरामी कोनी हुया? मनै यो बेरा हुन्दा क तैं इसा कुकर्मी सै तो तेरी नौकरी ही नहीं करदा! साल भर से एक पीस्सा भी नौकरी का नहीं लिया सै, इव लेणा मेरे नजीक बुरी बसत सै, तेरे जिसे पापी आदमी का नाज खाकैं और बुध भिरसट्ट होगी।"

"देख खून करणै को तने किसो मजो चखा स्यूं बाहर जाके पुलिस नैं बुलाऊं हूँ?"

"इसा मजा चखावेगा क अपणा गींडसा मढ़वा लेगा? खबरदार! जो एक डग वी आग धरी, ना यो तेरी नासटी नैं जड़तैं उडा द्यूंगा।"

गूदड़मल डर गया कि कहीं वह वैसा ही न कर बैठे। अब तक तो यह घाव भर भी सकता है, फिर मुश्किल हो जायेगी। यही सोचकर वह चुप ही रहा। जस्सा यह कहकर

कि "देख, मैं इब तेरी नौकरी छोड़ के और इसनै साथ लेकैं जाऊं सूं। अपनी सों मत भूल जाइये, साची करकै दिखाइये ना तो हाल भोत बुरा होगा, काम पड़े तेरी घेटीपर सवार रहूँगा, ले मनै पिछाण ले भूल मत जाइये" उसी रास्ते से जिससे आया था कमरे के बाहर हो गया।

जस्सा जब उस कोठरी से बाहर होने लगा, तो उसने अगल-बगल में खूब गौर से देखा मगर उसे वहां कोई सफेदपोश दिखलाई नहीं दिया। उसने बहुत से तर्क-वितर्क के बाद अपने मन में निश्चय किया कि वह शाबाशी उसे सैय्यद साहब ने दी है, जिसकी करामात की बातें उसने बगीचे के माली से सुन रखी थी। जो हो, कमरे से बाहर आकर धापली ने जस्से जाट से पूछा "जस्सा! तूं अठे कइयां आ पूंच्यो? थोड़ी देर जै और न आतो तो मैं आज बचणी भोत मुश्किल थी।"

जस्से ने जवाब दिया-"साची सै पण भगवान् अपणै भगतां की आपय खबर ले ले सै। मैं इस जोहड़ के किनारे घास काटूं था। इतणै ऐं में रामली स्यापण जों तन्नै धोखा देकै अपणै साथ लायी थी, उठै मिली और तेरी सारी कथा सुणायी। मैं सुणदाय झटपट अठे आया, पण इस बङ्गले के सारे किवाड़ बन्द मिले! आखर, मैं कमरै के किवाड़ा कै धक्का लगावण लाग्या। भागा तैं एक कमरा खुला मिल ग्या, जिस तैं मैं भीतर चल्या गयां और कोठड़ी में बैठ्या थारी बात सुणता रह्या-इसके आगे जो हुया सो तनै माल्यम एसै?"

"बा रांड कठे गयी"-धापली ने व्यग्रता से पूछा।

"अठेये सै जङ्गल गयी सैं" जस्से ने उत्तर दिया।

इसके पीछे उसने इधर-उधर उसकी बहुत खोज की, पर उसका कहीं पता नहीं चला। आखिर वे यह समझकर कि वह डरकर कहीं कलकत्ते चली गयी होगी, बगीचे से बाहर हो गये।

उपसंहार

रामली के साथ जस्से की जिस तरह मुलाकात हुई वह तो पहले कहा जा चुका है, अब आगे सुनिये। जस्सा जब उसकी बात सुनकर क्रोध में आ कमरे की तरफ दौड़ा, तब रामली ने समझ लिया कि उसका बना बनाया काम सब बिगड़ गया। इनाम की जगह अब उसे धक्के मिलेंगे और ताज्जुब नहीं जो क्रोधी जाट जैसा कह गया है वैसा ही कर डाले। इसी सोच-विचार में उसके जोर से दस्त लगा जिससे उसकी सब रगें ढीली हो गयीं। वहां से वह झटपट खड़ी हुई कि तालाब में हाथ मिटाकर कलकत्ते का रास्ता ले, पर जैसे ही वह किनारे पर पहुंच कर कमरे की ओर इस ख्याल से देखने लगी कि "देखें वहाँ क्या हो रहा है।"-इतने ही में उसका पैर फिसल गया और वह तालाब में जा पहुँची। वह बहुत चिल्लाई मगर कोई सुनता न था जो उसको बचाने के लिये दौड़ता। रामली ने एक तख्ते को पकड़ने के लिए बहुत हाथ पैर मारे, पर वह उस पापिनी के

हाथ नहीं आया! थोड़ी देर तक हाथ-पैर मारकर वह पानी में जा बैठी। जिस तरह उसने कितनी ही लड़कियों को पाप के कीचड़ में डबोया था। अन्त में उसका फल भी उसे वैसा ही मिला। कुकर्म्म करके जो रुपया उसने जमा किया था वह उसके कुछ भी काम नहीं आया। जिस मारवाड़ी ने जमा कर रखा था, वह उसी की जमा में शामिल हो गया। तीसरे दिन जब तालाब में उसका शव एक आदमी ने तैरता देखा, तब बगीचे के बाबू ने पुलिस के खौफ से तालाब के दक्खिण एक पुराने आम के पेड़ के नीचे गड़वा दिया।

इधर जस्से की कथा सुनिये, वह धापली को साथ लेकर सलकिये के बांदा घाट तक पैदल आया और,वहाँ से नाव में सवार हो कलकत्ते पहुँच गया। इनके पहुँचने के बाद नारायण ताड़केश्वरजी से आया और इनसे बीती हुई बातें सुनकर धापली को गले लगाकर रोने लग गया। जस्से ने उसे धीरज देकर कहा "दादा! यो के किमे रोवणा का मोका सै? या छोरी तो देबी की मूरत सै, बड़े भागा तैं इस तरांकी धरम की पक्की छोरी किसै भागवान के घरां जामें सैं।"

नारायण ने उसकी सुजनता का धन्यवाद कर इस बात को किसी पर प्रगट करना मुनासिब नहीं समझा। तथापि उसने ऐसा प्रबन्ध करा दिया जिसमें आइन्दे वहां वैसी घटना न हो सके। नारायण ने क्रोधान्ध होकर गूदड़मल से बदला लेना चाहा था, पर वह बहुत बीमार सुना गया। पहरेवालों ने वहां तक उसे जाने नहीं दिया, धीरे-धीरे क्रोध शान्त हो गया। इस घटना के दूसरे दिन जब वह अपने घर में जस्से के साथ बैठा बातें कर रहा था, तब उसे एक रजिस्टर्ड पत्र मिला जिसमें एक हजार के नोट और एक पत्र था। पत्र में लिखा हुआ था कि–

महाशय!

कल दुपहर के समय मैं अपने मित्र के यहां लिलवे गया था। जब मैं एक पास वाले बगीचे में निपटने लगा तो संयोग से मुझे वे बातें सुननी पड़ी जो रामली और जस्से में तालाब के किनारे हो रही थी। उनसे पता लगा कि आपके वंश में अभी कलंक लगने वाला है, आपकी लड़की एक भयानक बदमाश के जाल में पड़ी है। जब आपकी नेक चलन लड़की की सहायता के लिये बहादुर जाट कमरे की तरफ बढ़ा तो मैंने भी उसका साथ देना मुनासिब समझा। मैं छाया की तरह चुपचाप उसके पीछे हो लिया, यहां तक कि जब वह कमरों के धक्के लगाने लगा तब भी मैं दिखाई नहीं दिया। मैं उसके पीछे-पीछे उसी कोठड़ी में पहुंच गया, जहां छिपकर वह दोनों की बात सुन रहा था। वहां की बातें मैंने चिक-की ओट से सुनी और सब लीला आंखों देखी। मुझे प्रगट होकर सहायता देने का अवसर नहीं मिला। क्योंकि बिना किसी तीसरे की मदद के आपकी लड़की और जस्से ने अपना-अपना कर्तव्य योग्यता से पूरा कर दिया। मैं अच्छी तरह जान गया हूं, आप और जस्सा दोनों तंग है। जस्सा बेचारा अपनी सालभर की नौकरी भी उसमें छोड़ आया है। मैं आप ही का एक ब्राह्मण भाई हूं। लाखों रुपैयों का स्वामी हूं और सहस्त्रों रुपैये दुर्व्यसन में खोया करता हूं। आज की घटना से मेरे हृदय पर ऐसा

विलक्षण असर हुआ है जिसे मैं प्रगट नहीं कर सकता। मैंने प्रतिज्ञा कर ली है कि भूलकर भी अब खोटे व्यसन में नहीं पडूंगा न ऐसे पापियों के साथ ही बैठूंगा जिनके बगीचों में ऐसी गन्दी कार्रवाई होती है। मैं जान गया असली आनन्द और बल उन्हीं के हिस्से का है, जो कुमार्गी नहीं। यह शिक्षा मैंने आपकी धर्म्मपरायण लड़की और उदार चरित्र जस्से के आचरण से पायी है।

इस चिट्ठी के साथ जो भेजा जाता है उसे आप प्रेम की भेंट समझकर कृपा पूर्वक स्वीकार करें। आधा तो इसमें से आप बाई के मुकलावे में लगा दें और आधा आप धर्म्मात्मा जस्से के हवाले कर दें। ऐसा न हो कि कहीं जस्सा मुझे ब्राह्मण समझ कर इसे स्वीकार न करे। उसे समझा देना कि मैं ब्राह्मण होने पर भी दानपात्र कर्मठ ब्राह्मण नहीं हूं। मैं दुनियां की इज्जत के लिए स्वधर्म्म को छोड़कर वैश्यवृत्ति का अवलम्बन कर चुका हूं, इसलिये मेरा द्रव्य स्वीकार करने में उसे कुछ आपत्ति नहीं करनी चाहिए।

जस्से ने गूदड़मल की नौकरी छोड़ दी है, यदि नौकरी करने की इच्छा हो तो मैं उसे अपने पास बड़ी इज्जत से रखूंगा। रहना स्वीकार हो तो बड़े बाजार के पोस्ट मास्टर की मार्फत "एच. एच. एम." के नाम पत्र भेजें। मैं इस समय अपना विशेष परिचय देना आवश्यक नहीं समझता।

आपका कृपाकांक्षी--
"एक ब्राह्मण"

पत्र पढ़कर उनके चित्त में कई तरह की तरगें उठी, पर उन सबके विस्तार का प्रयोजन नहीं। पत्र में लिखे अनुसार नारायण पांच सौ के नोट जस्से को देने लगा, पर उस सत्पुरुष ने लेने से इन्कार कर दिया। कहा--"राम! राम! ब्राह्मण ने हमद्यां क उलटा उनतै ल्यां? ब्राह्मण चाहे किसाये हो, म्हारै खातर तो सब गंगाजल का रूप सैं।" परन्तु भेजने वाले चतुर को पहले ही इस बात का खटका था इसलिये उसने अपना पता और नाम पर्दे की ओट में ही रख लिया। बड़े बाजार के पोस्ट मास्टर साहिब "एच॰ एच॰ एम॰" का पता पूछा कि वह कौन हैं, कहां रहते हैं? जवाब मिला कि सो हम नहीं जानते। इस नाम की चिट्ठियां हमारे पास आती हैं और उनका नौकर ले जाता है। पूछने पर उन्होंने यह भी कहा कि नौकर के आने का कोई खास दिन और समय नियत नहीं है। अस्तु, लाचार होकर जस्से ने कहा "ये रुपैये बी छोरी ही के, दान दायजै में देद्यो।"

जस्से का दिल कलकत्ते से उखड़ गया। उसने बड़े बाजार में नौकरी करनी स्वीकार न की। वह फोर्ट विलियम के सिपाहियों में चला गया और वहां सैनिकों में भरती होकर अपनी बिरादरी के दूसरे सिपाहियों के साथ अफ्रीका की लड़ाई में जा पहुँचा जहाँ अंगरेजों के साथ पागल मुल्लां का युद्ध हो रहा था। वहाँ पहुँचते ही वह अपनी बहादुरी के कारण जमादार हुआ और युद्ध के अन्त में एक अच्छी इनाम के साथ उसने रिसालदार का पद पाया।

इस समय वह अपने घर छुट्टी पर है, और सब लोग उसे "रिसालदार जस्सासिंह"

के नाम से पुकारते हैं! जस्सासिंह जब से रिसालदार हुए हैं, तब से नारायणजी के पास चालीस रुपये मासिक भेजते हैं।

धापली का मुकलावा धूमधाम से हुआ और नारायण ने धर्म्म का प्रत्यक्ष फल देख लिया। आज कल नारायण ने कलकत्ते का रहना छोड़कर सलकिये में निवास कर लिया है, जहां एकान्त में ईश्वराराधन में समय बिता रहा है। उसका विचार है कि कुछ दिनों में देश चला जावे और फिर कलकत्ते न आवे।

गूदड़मल के शरीर से अधिक रक्त निकलने के सबब वह बेहोश होकर गिर पड़ा। घण्टे भर बाद जमादार और उसके भाई भतीजे वहां आये। उन्होंने डाक्टर को बुला मरहम पट्टी करवाई। हजारों रुपये खर्च कर देने के बाद, कई महीनों में वह अच्छा हुआ! डाक्टरों के बहुत यत्न करने पर अगर्चे उसके नाक का निशान वे मालूम हो गया, पर खुरपी का चिह्न मिटाने पर भी नहीं मिटा। बगल का निशान तो ठीक जैसा का तैसा रहा, जब कभी नहाते समय गूदड़मल से कोई यह पूछ लेता कि "बाबू साहब! यह निशान कहां हुआ था" तो वह बंगलें झांकने लगते। लोग कहते हैं कि कुछ दिन तक तो उनका माथा उस चोट से ठीक हो पर आखिर फिर वैसी ही गर्मी छा गई। जो हो, कंई महीने हुए गूदड़मल कोढ़ी होकर मर गया। मरने से पहले उसकी ऐसी दशा हुई कि सब देखनेवाले "त्राहि-त्राहि" करते थे। जिन लड़कियों का उसने सर्वनाश किया था, उनकी भयानक मूर्तियां उसे दिखलाई देतीं और वह पागलों की तरह चिल्लाने लगता कि "कोई मुझे इन खप्परधारिणी चण्डिकाओं से बचावे। गूदड़मल मर गया और अंत में इसी लोक में अपने कर्मों का फल भोग गया। यदि वह जीता रहता तो भी हमारे निकट वह जीवनमृत ही था। कारण, ऐसे लोग जीते हुए भी मरे के बराबर होते हैं और उनके कंचन शरीर से कुष्ट से भी भयानक दुर्गन्ध आया करती है जो देश देशान्तरों तक पहुंचकर लोगों के चित्र खराब करती है।" ◻

दुलाईवाली

—बंगमहिला
(जन्म : सन् 1871 ई.)

1

काशी जी के दशाश्वमेध घाट पर स्नान करके एक मनुष्य बड़ी व्यग्रता के साथ गोदौलिया की तरफ आ रहा था। एक हाथ में मैली-सी तौलिया से लपेटी हुई भीगी धोती और दूसरे में सुरती की गोलियों की कई डिबियाँ और सुंघनी की एक पुड़िया थी। उस समय दिन के ग्यारह बजे थे। गोदौलिया की बाँयीं तरफ च.ग्जो गली है, उसके भीतर एक और गली में थोड़ी दूर पर, एक टूटे मकान से पुराने मकान में वह जा घुसा। मकान के पहले खण्ड में बहुत अंधेरा था, पर ऊपर की जगह मनुष्य के वासोपयोगी थी। नवागत मनुष्य धड़धड़ाता हुआ ऊपर चढ़ गया। वहाँ एक कोठरी में हाथ की चीजें रख दी और, 'सीता! सीता!' कहकर पुकारने लगा।

"क्या है?" कहती हुई एक दस बरस की बालिका आ खड़ी हुई। तब उस पुरुष ने कहा, "सीता! जरा अपनी बहन को बुला ला।"

"अच्छा," कहकर सीता चली गई और कुछ देर में एक नवीना स्त्री आकर उपस्थित हुई। उसे देखते ही पुरुष ने कहा—"लो, हम लोगों को तो आज ही जाना होगा।"

इस बात को सुनकर स्त्री कुछ आश्चर्य-युक्त होकर और झुंझला कर बोली—"आज ही जाना होगा! यह क्यों? भला आज कैसे जाना हो सकेगा? ऐसा ही था तो सबेरे भैया से कह देते। तुम तो जानते हो कि मुँह से कह दिया; बस छुट्टी हुई। लड़की कभी विदा की होती तो मालूम पड़ता। आज तो किसी सूरत में जाना नहीं हो सकता।"

"तुम आज कहती हो! हमें तो अभी जाना है। बात यह है कि आज ही नवलकिशोर कलकत्ते से आ रहे हैं। आरे से अपनी नई बहू को भी साथ ला रहे हैं। सो उन्होंने हमें आज ही जाने के लिए इसरार किया है। हम सब लोग मोगलसराय से साथ ही इलाहाबाद चलेंगे। इनका तार मुझे घर से निकलते ही मिला। इसी से मैं झट नहा-धोकर लौट आया।

बस अब करना ही क्या है? कपड़ा-वपड़ा जो कुछ हो बाँध-बूँधकर, घंटे भर में खा पीकर, चली चलो। जब हम तुम्हें विदा कराने आए ही हैं तब कल के बदले आज ही सही।"

"हाँ यह बात है! नवल जो चाहे करावें। क्या एक ही गाड़ी में न जाने से दोस्ती में बट्टा लग जाएगा? अब तो किसी तरह रुकोगे नहीं, जरूर-ही उनके साथ जाओगे। पर मेरे तो नाकों दम आ जायेगी!"

"क्यों किस बात से?"

"उनकी हँसी से और किससे! हँसी-ठट्ठा राह में अच्छी लगती है? उनकी हँसी मुझे नहीं भाती। एक रोज मैं चौके में बैठी पूड़ियाँ काढ़ रही थी, कि इतने में न जाने कहाँ से आकर नवल चिल्लाने लगे—ए बुआ! ए बुआ! देखो तुम्हारी बहू पूड़ियाँ खा रही है। मैं तो मारे शरम के मर-सी गयी। हाँ, भाभी जी ने बात उड़ा दी सही। वे बोलीं, खाने दो, खाने पहनने के लिए तो आई ही है। पर मुझे उनकी हँसी बहुत बुरी लगी।"

"बस इसी से उनके साथ नहीं जाना चाहतीं? अच्छा चलो, मैं नवल से कह दूँगा कि बेचारी कभी रोटी तक तो खाती ही नहीं, पूड़ी क्यों खाने लगी।" इतना कहकर वंशीधर कोठरी के बाहर चले आये और बोले, "मैं तुम्हारे भैया के पास जाता हूँ। तुम रो रुलाकर तैयार हो जाना।"

इतना सुनते ही जानकीदेई की आँखें भर आयीं। और असाढ़-सावन की ऐसी झड़ी लग गयी।

2

वंशीधर इलाहाबाद के रहने वाले हैं। बनारस में ससुराल है। स्त्री को विदा कराने आए हैं। ससुराल में एक साले, साली और सास के सिवाय और कोई नहीं है। नवल किशोर इनके दूर के नाते के ममेरे भाई हैं। पर दोनों में नाते से मित्रता का ख्याल अधिक है। दोनों में गहरी मित्रता है। दोनों एक जान दो कालिब हैं।

उसी दिन वंशीधर का जाना स्थिर हो गया। सीता, बहन के संग जाने के लिए रोने लगी। माँ रोती-धोती लड़की को विदा की सामग्री इकट्ठी करने लगी। जानकीदेई भी रोती ही रोती तैयार होने लगी। कोई चीज भूलने पर धीमी आवाज से माँ को याद भी दिलाती गयी। एक बजने पर स्टेशन जाने का समय आया। अब गाड़ी या इक्का लाने कौन जाये? ससुराल वालों की अवस्था अब आगे की-सी नहीं थी कि दो-दो चार-चार नौकर-चाकर हर समय बने रहें। सीता के बाप के न रहने से काम बिगड़ गया है। पैसे वाले के यहाँ नौकर-चाकरों के सिवा और भी दो-चार खुशामदी घेरे रहते हैं। छूछे को कौन पूछे? एक कहारिन है; सो भी इस समय कहीं गयी है। सालेराम की तबियत अच्छी नहीं। वे हर घड़ी बिछौने से बातें करते हैं। तिस पर भी आप कहने लगे—"मैं ही धीरे-धीरे जाकर कोई सवारी ले आता हूँ। नजदीक तो है।"

वंशीधर बोले–"नहीं, नहीं, तुम क्यों तकलीफ करोगे? मैं ही जाता हूँ।"

जाते-जाते वंशीधर विचारने लगे कि इक्के की सवारी तो भले घर की स्त्रियों के बैठने लायक नहीं होती। क्योंकि एक तो इतने ऊंचे पर चढ़ना पड़ता है। दूसरे-पराये पुरुष के संग एक साथ बैठना पड़ता है। मैं एक पालकी गाड़ी ही कर लूँ। उसमें सब तरह का आराम रहता है। पर जब गाड़ीवालों ने डेढ़ रुपया किराया माँगा, तब, वंशीधर ने मन में कहा–चलो इक्का ही सही। पहुँचने से काम। कुछ नवलकिशोर तो यहाँ साथ हैं नहीं। इलाहाबाद में देखा जायेगा।

वंशीधर इक्का ले आए और जो कुछ असबाब था, इक्के पर रखकर आप भी बैठ गए। जानकीदेई बड़ी विकलता से रोती हुई इक्के पर जा बैठी। पर इस अस्थिर संसार में स्थिरता कहाँ? यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं। इक्का जैसे जैसे आगे बढ़ता गया, वैसे ही वैसे जानकी की रुलाई भी कम होती गयी। सिकरौल के स्टेशन के पास पहुँचते-पहुँचते जानकी अपनी आँखें अच्छी तरह पोंछ चुकी थी।

दोनों चुपचाप चले जा रहे थे, कि अचानक वंशीधर की नजर अपनी धोती पर पड़ी; और "अरे एक बात तो हम भूल ही गए।" कहकर पछता-सा उठे। इक्के वाले के कान बचाकर जानकी ने पूछा, "क्या हुआ? क्या कोई जरूरी चीज भूल आए?"

"नहीं, एक देशी धोती पहन कर आना था, सो भूलकर विलायती ही पहिन आये। नवल कट्टर स्वदेशी हुए हैं न? वे बंगालियों से भी बढ़ गए हैं। देखेंगे दो चार सुनाये बिना न रहेंगे। और, बात भी ठीक है। नाहक विलायती चीजें मोल लेकर क्यों रुपये की बरबादी की जाये? देशी लेने से भी दाम लगेगा सही; रहेगा तो देश ही में।"

जानकी जरा-भौहें टेढ़ी करके बोली, "ऊँह धोती तो धोती, पहिनने से काम। क्या यह बुरी है?"

इतने में स्टेशन के कुलियों ने आ घेरा। वंशीधर एक कुली करके चले। इतने में इक्केवाले ने कहा, "इधर से टिकट लेते जाइए। पुल के उस पार तो ड्योढ़े दरजे का टिकट मिलता है।"

वंशीधर फिर कर बोले, "अगर ड्योढ़े दरजे का टिकट लूँ तो?"

इक्केवाला चुप हो रहा। "इक्के की सवारी देखकर इसने ऐसा कहा"–यह कहते हुए वंशीधर आगे बढ़ा। यथासमय रेल पर बैठकर वंशीधर राजघाट पार करके मुगलसराय पहुँचे। वहाँ पर पुल लाँघकर दूसरे प्लेटफार्म पर जा बैठे। आप नवल से मिलने की खुशी में प्लेटफार्म की इस छोर से उस छोर तक टहलते रहे। देखते-देखते गाड़ी का धुआं दिखलाई पड़ा। मुसाफिर अपनी गठरी सँभालने लगे। रेलदेवी भी अपनी चाल धीमी करती हुई गम्भीरता से आ खड़ी हुई। वंशीधर एक बार चलती गाड़ी ही में शुरु से आखिर तक देख गए। पर नवल का कहीं पता नहीं। वंशीधर फिर सब गाड़ियों को दोहरा गये, तेहरा गए; भीतर घुस-घुसकर एक-एक डिब्बे को देखा। किन्तु नवल न मिले। अन्त को आप खिजला उठे; और सोचने लगे कि मुझे तो वैसी चिट्ठी लिखी और आप

न आया। मुझे अच्छा उल्लू बनाया, अच्छा जायेंगे कहाँ? भेंट होने पर समझ लूँगा। सबसे अधिक सोच तो इस बात का था कि जानकी सुनेगी तो ताने पर ताना मारेगी। पर अब सोचने का समय नहीं। रेल की बात ठहरी। वंशीधर झट गए और जानकी को लाकर जनानी गाड़ी में बिठाया। वह पूछने लगी–"नवल की बहू कहाँ है?"

"वह नहीं आये, कोई अटकाव हो गया।" कहकर आप बगल वाले कमरे में जा बैठे। टिकट तो ड्योढ़े का था, पर ड्योढ़े दरजे का कमरा कलकत्ते से आने वाले मुसाफिरों से भरा था। इसलिए तीसरे ही दरजे में बैठना पड़ा। जिस गाड़ी में वंशीधर बैठे थे उसके सब कमरों में मिलाकर कुल दस-बारह ही स्त्री पुरुष थे। समय पर गाड़ी छूटी। नवल की बातें और न जाने क्या अगड़-बगड़ सोचते-सोचते गाड़ी कई स्टेशन पार करके मिरजापुर पहुँची।

3

मिरजापुर में पेटराम की शिकायत शुरु हुई। उसने सुझाया कि इलाहाबाद पहुँचने में अभी देरी है। चलने के झंझट में अच्छी तरह उसकी पूजा किए बिना ही वंशीधर ने बनारस छोड़ा था। इसलिए आप झट प्लेटफार्म पर उतरे; और पानी के बम्बे से हाथ मुँह धोकर, एक खोमचेवाले से थोड़ी सी ताजी पूड़ियाँ और मिठाई लेकर, निराले में बैठ आपने उन्हें ठिकाने पहुँचाया। पीछे से जानकी की सुध आई। सोचा कि पहले पूछ लें, तब कुछ मोल लेंगे। क्योंकि स्त्रियाँ नटखट होती हैं। वे रेल पर खाना नहीं पसन्द करतीं। पूछने पर वही बात हुई। तब वंशीधर लौटकर अपने कमरे में आ बैठे। यदि वे चाहते तो वे इस समय ड्योढ़े में बैठ जाते, क्योंकि अब भीड़ कम हो गई थी। पर उन्होंने कहा, थोड़ी देर के लिए कौन बखेड़ा करे।

वंशीधर अपने कमरे में बैठा तो दो एक मुसाफिर अधिक दीख पड़े। आगे वाले में से एक उतर भी गया था। जो लोग थे सब तीसरे ही दरजे के योग्य ही जान पड़ते थे, अधिक सभ्य कोई थे तो वंशीधर ही थे। उनके कमरे में पास वाली जगह में एक भले घर की स्त्री बैठी थी। वह बेचारी सिर से पैर तक ओढ़े, सिर झुकाये, एक हाथ लम्बा घूँघट काढ़े कपड़े की गठरी-सी बनी बैठी थी। वंशीधर ने सोचा इनके संग वाले भद्र पुरुष के आने पर उनके साथ बातचीत करके समय बितावेंगे। एक दो करके तीसरी घण्टी बजी। तब वह स्त्री कुछ अचकचा कर, थोड़ा-सा मुँह खोल जंगले से बाहर देखने लगी। ज्योंही गाड़ी छूटी, वह मानों काँप-सी उठी। रेल का देना-लेना तो हो ही गया था। अब उसको किसी की क्या परवाह अपनी स्वभाविक गति से चलने लगी। प्लेटफार्म पर भीड़ भी न थी। केवल दो चार आदमी रेल की अन्तिम विदाई तक खड़े थे। जब तक स्टेशन दिखलायी दिया तब तक वह बाहर ही देखती रही। फिर अस्पष्ट स्वर से रोने लगी। उस कमरे में तीन चार प्रौढ़ा ग्रामीण-स्त्रियाँ भी थीं। एक, जो उसके पास ही थी, कहने लगी–"अरे इनकर मनई तो नाहीं आईलेन। हो देख हो रोवल करथईन।"

दूसरी–"अरे दुसर गाड़ी में बैठा होंइहैं।"

पहली–"दुर बौरही! ई जनानी गाड़ी थोड़े है।"

दूसरी–"तऊ हो भलू तो कहू।" कहकर दूसरी भद्र महिला से पूछने लगी, "कौने गाँव उतरबू बेटा! मीरजैपूरा चढ़ी हऊ न?" इसके जवाब में उसने जो कहा वह सुन न सकी। तब पहली बोली–

"हट हम पुंछिला न, हम कहा काहां उतरबू हो? आँय ईलाहाबास?"

दूसरी–"ईलाहाबास कौन गाँव हो गोइयाँ?"

पहली–"अरे नाही जनंलूं? पैयाग जी, जाहाँ मनइ मकर नाहाए जाला।"

दूसरी–"भला पैयाग जी काहे न जानीथ; ले, कहैके नाहीं, तोहरे पंच के धरम से चार दाई नहाए चुकी हइ। ऐसों हो सोमवारी, अउर गहन, दका, दका, लाग रहा तउन तोहरे काशी जी नाहाय गइ रहे।"

पहली–"आवै जाय के तो सब अऊते जात बटले बाटेन। फुन यह साइत तो विचारो विपत में न पड़ल बाटिन। हे हम पंचा हइ, राजघाट टिकट कटऊली, मोंगल के सरायं उतरलीह, होदे पुनः चढ़लीह।"

दूसरी–"ऐसे एक दांइ हम आवत रहे। एक मिली औरो मोरे संधे रहीं। द कौने टिसनीया पर उकर मलिकवा उतरे से कि जुरतंइहै गड़िया खुली। अब भईया उः गरा फाड़-फाड़ नरियाय–ए साहब गाड़िया खड़ी कर। ए साहेब गड़िया तंनी खड़ी कर। भला गड़िया दहिनाती काहै के खड़ी होय?"

पहली–"उ मेहररुबा बड़ी उजबकर हल। भला केहू के चिल्लाए से रेलीऔ कहूँ खड़ी होला?"

इसकी इस बात पर कुल कमरे वाले हँस पड़े। अब जितने पुरुष-स्त्रियाँ थीं, एक से एक अनोखी बातें कहकर अपने-अपने तजरुबे बयान करने लगीं। बीच-बीच में उस अकेली अबला की स्थिति पर भी दुःख प्रकट करती जाती थीं।

तीसरी स्त्री बोली–"टीक्कसिया पल्ले वाय द नांही। हे सहेबबा सुनि तो कलकत्ते तांइ ले मसुलिया लेइ। अरे इंहो तो नांही कि दूर से आव रहलेन, फरागत के बदे उतरलेन।"

चौथी–"हम तो इनके संगे के आदमी के देखबो ना किहा गोइयां।"

तीसरी–"हम देखे रहली हो, मजेक टोपी दिहले रहलेन को!"

इस तरह उनकी बे सिर-पैर की बातें सुनते-सुनते वंशीधर ऊब उठे। तब वे उन स्त्रियों से कहने लगे–"तुम तो नाहक उन्हें और भी डरा रही हो। जरूर इलाहाबाद तार गया होगा और दूसरी गाड़ी से वे भी वहाँ पहुँच जायेंगे। मैं भी इलाहाबाद ही जा रहा हूँ। मेरे संग भी स्त्रियाँ हैं। जो ऐसा ही है तो दूसरी गाड़ी के आने तक मैं स्टेशन ही पर ठहरा रहूँगा। तुम लोगों में से कोई प्रयाग उतरे तो थोड़ी देर के लिए स्टेशन पर ठहर जाना। इनको अकेले छोड़ देना उचित नहीं। यदि पता मालूम हो जायेगा तो मैं इन्हें इनके ठहरने के स्थान पर भी पहुँचा दूँगा।"

वंशीधर की इन बातों से उन स्त्रियों की वाक्यधारा दूसरी ओर बह चली–"हाँ, यह बात तो आप भली कही। नाहीं भइया। हम पंचे काहिके केहुसे कुछ कही। अरे एक के एक करत न बाय तो दुनिया चलत कैसे बाय?" इत्यादि ज्ञान गाथा होने लगी। कोई–कोई उस बेचारी को सहारा मिलते देख खुश हुए और कोई–कोई नाराज भी हुए। क्यों, सो मैं आपसे नहीं बतला सकती। उस गाड़ी में जितने मनुष्य थे सभी ने इस विषय में कुछ न कुछ कह डाला था। पिछली सीट में केवल एक स्त्री जो फरासीसी छींट की दुलाई ओढ़े अकेली बैठी थी, कुछ नहीं बोली। कभी–कभी घूँघट के भीतर से एक आँख निकाल कर वंशीधर की ओर ताक देती थी और सामना हो जाने पर फिर मुँह फेर लेती थी। वंशीधर सोचने लगे कि यह क्या बात है? देखने में तो यह भले घर की मालूम होती है, पर आचरण इसका अच्छा नहीं।

गाड़ी इलाहाबाद के पास पहुँचने को हुई। वंशीधर उस स्त्री को धीरज दिलाकर आकाश–पाताल सोचने लगे। यदि तार से कोई खबर न आयी होगी तो दूसरी गाड़ी तक स्टेशन पर ही ठहरना पड़ेगा और जो उससे भी कोई न आया तो क्या करूँगा? जो हो गाड़ी नैनी से छूट गयी। अब उन अशिक्षिता स्त्रियों ने फिर मुँह खोला–"क भईया, जो केहु बिन टिक्कस के आवत होय तो ओकर का सजाय होला? अरे ओंका ई नाहीं चाहत रहा कि मेहरारू के तो बैठा दिहलेन, अउर अपुआ तऊन टिक्कस लेइ के चल दिहलेन।"

किसी–किसी आदमी ने यहाँ तक दौड़ मारी कि रात को वंशीधर इसके जेवर छीन कर रफूचक्कर हो जायेंगे। उस गाड़ी में एक लाठीवाला भी था। उसने खुल्लम–खुला कहा–"का बाबूजी! कुछ हमरो साझा?"

उसकी बात पर वंशीधर क्रोध से लाल हो गए। उन्होंने उसे खूब धमकाया। उस समय तो वह चुप हो गया, पर यदि इलाहाबाद उतरता तो वंशीधर से बदला लिए बिना न रहता।

4

वंशीधर इलाहाबाद में उतरे। एक बुढ़िया को भी वहीं उतरना था। उससे उन्होंने कहा कि "उनको भी अपने संग उतार लो।" फिर इस बुढ़िया को उस स्त्री के पास बिठा कर आप जानकी को उतारने गए। जानकी से सब हाल कहने पर वह बोली, "अरे, जाने भी दो, किस बखेड़े में पड़े हो।" पर वंशीधर ने न माना। जानकी को और उस भद्र महिला को एक ठिकाने बिठा कर आप स्टेशन मास्टर के पास गए। वंशीधर के जाते ही बुढ़िया, जिसे उन्होंने रखवाली के लिए छोड़ा था, किसी बहाने से भाग गयी। स्टेशन मास्टर से पूछने ५र मालूम हुआ कि कोई तार नहीं आया। अब तो वंशीधर बड़े असमंजस में पड़े। टिकट के लिए बखेड़ा होगा। क्योंकि वह स्त्री बे टिकट है। लौटकर आये तो किसी को न पाया। – "अरे यह सब कहाँ गयी?" यह कहकर चारों तरफ देखने लगे। कहीं पता नहीं। इस पर वंशीधर घबराये। आज कैसी बुरी साइत में घर से

निकले कि एक के बाद दूसरी आफत में फँसते चले आ रहे हैं। इतने में अपने सामने उस दुलाईवाली को आते देखा।

"तू ही उन स्त्रियों को कहीं ले गयी है।" इतना कहना था कि दुलाई से मुँह खोलकर नवल किशोर खिलखिला उठे।

"अरे यह क्या? सब तुम्हारी ही करतूत है! अब मैं समझ गया। कैसा गजब तुमने किया है? ऐसी हँसी मुझे नहीं अच्छी लगती। मालूम होता है कि वह तुम्हारी ही बहू थी। अच्छा तो वे लोग गयीं कहाँ?"

"वे लोग तो पालकी गाड़ी में बैठी हैं। तुम भी चलो।"

"नहीं मैं सब हाल सुन लूँगा तब चलूँगा। हाँ, ये तो कहो, तुम मिरजापुर में कहाँ से आ निकले?"

"मिरजापुर नहीं मैं तो कलकत्ते से, बल्कि मुगलसराय से, तुम्हारे साथ चला आ रहा हूँ। तुम जब मुगलसराय में मेरे लिए चक्कर लगाते थे, तब मैं ड्योढ़ दर्जे में ऊपर वाले बेंच पर लेटे तुम्हारा तमाशा देख रहा था। फिर मिरजापुर में तुम पेट के धन्धे में लगे थे, मैं तुम्हारे पास से निकल गया पर तुमने न देखा। मैं तुम्हारी गाड़ी में जा बैठा। सोचा कि तुम्हारे आने पर प्रकट होऊँगा। फिर थोड़ा और देख लें, करते-करते यहाँ तक नौबत पहुँची। अच्छा अब चलो, जो हुआ उसे माफ करो।"

यह सुन वंशीधर प्रसन्न हो गये। दोनों मित्रों ने बड़े प्रेम से बातचीत होने लगी। वंशीधर बोले, "मेरे ऊपर जो कुछ बीती सो बीती पर वह बेचारी, जो तुम्हारे गुणवान् के संग पहली ही बार रेल से आ रही थी, बहुत ही तंग हुई। उसे तो तुमने नाहक रुलाया। वह बहुत ही डर गयी।"

"नहीं जी! डर किस बात का था? हम, तुम दोनों गाड़ी में न थे?"

"हाँ, पर यदि मैं स्टेशन मास्टर से इत्तलाकर देता तो बखेड़ा खड़ा हो जाता न?"

"अरे तो क्या, मैं मर थोड़े ही गया था! चार हाथ की दुलाई की बिसात ही कितनी?"

इसी तरह बातचीत करते-करते दोनों गाड़ी के पास आये। देखा तो दोनों मित्र-बंधुओं में खूब हँसी हो रही थी। जानकी कह रही थी–"अरे, तुम जानो क्या! इन लोगों की हँसी ऐसी ही होती है। हँसी में किसी के प्राण भी निकल जायें तो भी इन्हें दया न आवे।"

खैर, दोनों मित्र अपनी-अपनी घरवाली को ले राजी खुशी घर पहुँचे और मुझे भी उनकी ये राम-कहानी लिखने से छुट्टी मिली। □

कफन

–प्रेमचन्द
(जन्म : सन् 1880 ई.)

1

झोंपड़े के द्वार पर बाप और बेटा दोनों एक बुझे हुए अलाव के सामने चुपचाप बैठे हुए थे और अन्दर बेटे की जवान बीवी बुधिया प्रसव-वेदना से पछाड़ खा रही थी। रह-रहकर उसके मुँह से ऐसी दिल हिला देने वाली आवाज़ निकलती थी कि दोनों कलेजा थाम लेते थे। जाड़ों की रात थी; प्रकृति सन्नाटे में डूबी हुई। सारा गाँव अन्धकार में लय हो गया था।

घीसू ने कहा–"मालूम होता है, बचेंगी नहीं। सारा दिन दौड़ते हो गया। जा, देख तो आ।"

माधव चिढ़कर बोला–"मरना ही है तो जल्दी मर क्यों नहीं जाती! देखकर क्या करूँ?"

"तू बड़ा बेदर्द है बे! साल भर जिसके साथ सुख-चैन से रहा, उसी के साथ इतनी बेवफाई!"

"तो मुझसे तो उसका तड़पना और हाथ-पाँव पटकना नहीं देखा जाता।" चमारों का कुनबा था और सारे गाँव में बदनाम। घीसू एक दिन काम करता तो तीन दिन आराम। माधव इतना कामचोर था कि आध घण्टे काम करता तो घण्टे भर चिलम पीता। इसलिए उन्हें कहीं मज़दूरी नहीं मिलती थी। घर में मुट्ठी भर भी अनाज मौजूद हो तो उनके लिए काम करने की कसम थी। जब दो-चार फाके हो जाते, तो घीसू पेड़ पर चढ़कर लकड़ियाँ तोड़ लाता और माधव बाज़ार में बेच आता। और जब तक वह पैसे रहते, दोनों इधर-उधर मारे-मारे फिरते। जब फाके की नौबत आ जाती, तो फिर लकड़ियाँ तोड़ते या मज़दूरी तलाश करते। गाँव में काम की कमी न थी। किसानों का गाँव था, मेहनती आदमी के लिए पचास काम थे। मगर इन दोनों को लोग उसी वक्त बुलाते,

जब दो आदमियों से एक का काम पाकर भी सन्तोष कर लेने के सिवा और कोई चारा न होता। अगर दोनों साधु होते, तो उन्हें सन्तोष और धैर्य के लिए संयम और नियम की बिल्कुल जरूरत न होती। यह तो इनकी प्रकृति थी। विचित्र जीवन था इनका! घर में मिट्टी के दो-चार बर्तनों के सिवा कोई सम्पत्ति नहीं। फटे चीथड़ों से अपनी नग्नता को ढाँके हुए जिये जाते थे। संसार की चिन्ताओं से मुक्त! कर्ज से लदे हुए। गालियाँ भी खाते, मार भी खाते, मगर कोई भी गम नहीं। दीन इतने कि वसूली की बिल्कुल आशा न रहने पर भी लोग इन्हें कुछ-न-कुछ कर्ज दे देते थे। मटर, आलू की फसल में दूसरों के खेतों से मटर या आलू उखाड़ लाते और भून-भानकर खा लेते या दस-पाँच ईख उखाड़ लाते और रात को चूसते। घीसू ने इसी आकाशवृत्ति से साठ साल की उम्र काट दी और माधव भी सपूत बेटे की तरह बाप ही के पद-चिन्हों पर चल रहा था, बल्कि उसका नाम और भी उजागर कर रहा था। इस वक्त भी दोनों अलाव के सामने बैठकर आलू भून रहे थे, जो कि किसी के खेत से खोद लाये थे। घीसू की स्त्री का तो बहुत दिन हुए, देहान्त हो गया था। माधव का ब्याह पिछले साल हुआ था। जब से यह औरत आयी थी, उसने इस खानदान में व्यवस्था की नींव डाली थी। पिसाई करके या घास छीलकर वह सेर भर आटे का इन्तजाम कर लेती थी और इन दोनों बेगैरतों का दोज़ख भरती रहती थी। जब से वह आयी, यह दोनों और भी आलसी और आरामतलब हो गए थे। बल्कि कुछ अगड़ने भी लगे थे। कोई कार्य करने को बुलाता, तो निर्व्याज भाव से दुगुनी मजदूरी माँगते। वही औरत आज प्रसव-वेदना से मर रही थी और यह दोनों शायद इसी इन्तज़ार में थे कि वह मर जाये, तो आराम से सोएँ।

घीसू ने आलू निकालकर छीलते हुए कहा–"जाकर देख तो, क्या दशा है उसकी? चुड़ैल का फिसाद होगा, और क्या? यहाँ तो ओझा भी एक रुपया माँगता है!"

माधव को भय था कि वह कोठरी में गया, तो घीसू आलुओं का बड़ा भाग साफ कर देगा। बोला–"मुझे वहाँ जाते डर लगता है।"

"डर किस बात का है, मैं तो यहाँ हूँ ही!"

"तो तुम्हीं जाकर देखो न?"

"मेरी औरत जब मरी थी, तो मैं तीन दिन तक उसके पास से हिला तक नहीं था! और फिर मुझसे लजाएगी कि नहीं? जिसका कभी मुँह नहीं देखा, आज उसका उघड़ा हुआ बदन देखूँ! उसे तन की सुध भी तो न होगी? मुझे देख लेगी तो खुलकर हाथ-पाँव भी न पटक सकेगी!"

"मैं सोचता हूँ, कोई बाल-बच्चा हो गया तो क्या होगा? सोंठ, गुड़, तेल, कुछ भी तो नहीं घर में!"

"सब कुछ आ जायेगा। भगवान् दें तो जो लोग अभी तक पैसा नहीं दे रहे हैं, वे ही कल बुलाकर रुपये देंगे। मेरे नौ लड़के हुए, घर में कभी कुछ न था, मगर भगवान ने किसी तरह बेड़ा पार ही लगाया!"

जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। हम तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं ज्यादा विचारवान था, जो किसानों के विचारशून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाज़ों की कुत्सित मण्डली में जा मिला था। हाँ, उसमें यह शक्ति न थी कि बैठकबाज़ों के नियम और नीति का पालन करता। इसलिए जहाँ उसकी मण्डली के और लोग गाँव के सरगना और मुखिया बने हुए थे, उस पर सारा गाँव उँगली उठाता था। फिर भी उसे यह तसकीन तो थी ही कि अगर वह फटेहाल है तो कम-से-कम उसे किसानों की-सी जी-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती। और उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेवजह फ़ायदा तो नहीं उठाते!

दोनों आलू निकाल-निकालकर जलते-जलते खाने लगे। कल से कुछ नहीं खाया था। इतना सब्र न था कि उन्हें ठण्डा हो जाने दें। कई बार दोनों की जबानें जल गईं। छिल जाने पर आलू का बाहरी हिस्सा तो बहुत ज्यादा गर्म न मालूम होता, लेकिन दाँतों के तले पड़ते ही अन्दर का हिस्सा जबान और हलक और तालू को जला देता था और उस अंगारे को मुँह में रखने से ज्यादा खैरियत इसी में थी कि वह अन्दर पहुँच जाये। वहाँ उसे ठण्डा करने के लिए काफ़ी सामान थे। इसलिए दोनों जल्द-जल्द निगल जाते। हालाँकि इस कोशिश में उनकी आँखों से आँसू निकल आते।

घीसू को उस वक्त ठाकुर की बारात याद आई, जिसमें बीस साल पहले वह गया था। उस दावत में उसे जो तृप्ति मिली थी, वह उसके जीवन में, एक याद रखने लायक बात थी और आज भी उसकी याद ताजा थी! बोला–"वह भोज नहीं भूलता। तब से फिर उसी तरह का खाना और भरपेट नहीं मिला। लड़कीवालों ने सबको भरपेट पूरियाँ खिलाई थीं, सबको! छोटे-बड़े सबने पूरियाँ खायीं और असली घी की! चटनी, रायता, तीन तरह के सूखे साग, एक रसेदार तरकारी, दही, चटनी, मिठाई। अब क्या बताऊँ कि उस भोज में क्या स्वाद मिला। कोई रोक-टोक नहीं थी। जो चीज चाहो माँगो और जितना चाहो खाओ। लोगों ने ऐसा खाया, ऐसा खाया, किसी से पानी न पिया गया। मगर परोसनेवाले हैं कि पत्तल में गर्म-गर्म गोल-गोल सुवासित कचौरियाँ डाल देते हैं। मना करते हैं कि नहीं चाहिए, पत्तल पर हाथ से रोके हुए हैं, मगर वह हैं कि दिये जाते हैं और जब मुँह धो लिया, तो पान-इलायची भी मिली, मगर मुझे पान लेने की कहाँ सुध थी? खड़ा न हुआ जाता था! चटपट जाकर अपने कम्बल पर लेट गया। ऐसा दिल दरियाव था वह ठाकुर!"

माधव ने इन पदार्थों का मन-ही-मन मज़ा लेते हुए कहा–"अब हमें कोई ऐसा भोज नहीं खिलाता।"

"अब कोई क्या खिलाएगा? वह जमाना दूसरा था। अब तो सबको किफायत सूझती

है। शादी-ब्याह में मत खर्च करो, क्रिया-कर्म में मत खर्च करो! पूछो, गरीबों का माल बटोर-बटोरकर कहाँ रखोगे! बटोरने में तो कमी नहीं है। हाँ, खर्च में किफायत सूझती है।"

"तुमने एक बीस पूरियाँ खायी होगी?"

"बीस से ज्यादा खायी थीं!"

"मैं पचास खा जाता!"

"पचास से कम मैंने भी न खायी होंगी। अच्छा पट्ठा था। तू तो मेरा आधा भी नहीं है।"

आलू खाकर दोनों ने पानी पिया और वहीं अलाव के सामने अपनी धोतियाँ ओढ़कर, पाँव पेट में डाले सो रहे। जैसे दो बड़े-बड़े अजगर, गेंड्डलियाँ मारे पड़े हों।

और बुधिया अभी तक कराह रही थी।

2

सवेरे माधव ने कोठरी में जाकर देखा, तो उसकी स्त्री ठण्डी हो गई थी। उसके मुँह पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। पथराई हुई आँखें ऊपर टँगी हुई थीं। सारी देह धूल से लथपथ हो रही थी। उसके पेट में बच्चा मर गया था।

माधव भागा हुआ घीसू के पास आया। फिर दोनों जोर-जोर से हाय-हाय करने और छाती पीटने लगे। पड़ोसवालों ने यह रोना-धोना सुना तो दौड़े हुए आये और पुरानी मर्यादा के अनुसार इन अभागों को समझाने लगे।

मगर ज्यादा रोने-पीटने का अवसर न था। कफ़न की और लकड़ी की फ़िक्र करनी थी। घर में तो पैसा इस तरह गायब था, जैसे चील के घोसले में मांस।

बाप-बेटे रोते हुए गाँव के जमींदार के पास गये। वह दोनों की सूरत से नफ़रत करते थे। कई बार इन्हें अपने हाथों पीट चुके थे। चोरी करने के लिए, वादे पर काम पर न आने के लिए। पूछा-"क्या है बे घिसुआ, रोता क्यों है? अब तो तू कहीं दिखाई नहीं देता। मालूम होता है, इस गाँव में रहना नहीं चाहता।"

घीसू ने जमीन पर सिर रखकर आँखों में आँसू भरे हुए कहा-"सरकार! बड़ी विपत्ति में हूँ। माधव की घरवाली रात को गुजर गई। रात भर तड़पती रही सरकार! हम दोनों उसके सिरहाने बैठे रहे। दवा-दारू जो कुछ हो सका, सब कुछ किया, मुदा वह हमें दगा दे गई। अब कोई एक रोटी देनेवाला भी न रहा मालिक! तबाह हो गए। घर उजड़ गया। आपका गुलाम हूँ। अब आपके सिवा कौन उसकी मिट्टी पार लगाएगा। हमारे हाथ में तो जो कुछ था, वह सब तो दवा-दारू में उठ गया। सरकार ही की दया होगी, तो उसकी मिट्टी उठेगी। आपके सिवा किसके द्वार पर जाऊँ?"

ज़मींदार साहब दयालु थे। मगर घीसू पर दया करना काले कम्बल पर रंग चढ़ाना था। जी में तो आया, कह दें चल, दूर हो यहाँ से। यों तो बुलाने से भी नहीं आता, आज जब गरज पड़ी, तो आकर खुशामद कर रहा है। हरामखोर कहीं का, बदमाश! लेकिन यह क्रोध या दण्ड का अवसर न था। जी में कुढ़ते हुए दो रुपये निकालकर फेंक दिये।

मगर सान्त्वना का एक शब्द भी मुँह से न निकाला। उसकी तरफ ताका भी नहीं। जैसे सिर का बोझ़ उतारा हो।

जब ज़मींदार साहब ने दो रुपये दिये, तो गाँव से बनिये-महाजनों को इन्कार का साहब कैसे होता? घीसू ज़मींदार के नाम का ढिंढोरा भी पीटना खूब जानता था। किसी ने दो आने दिये, किसी ने चार आने। एक घंटे में घीसू के पास पाँच रुपये की अच्छी रकम जमा हो गई। कहीं से नाज मिल गया, कहीं से लकड़ी और दोपहर को घीसू और माधव बाजार से कफ़न लाने चले। इधर लोग बाँस-वाँस काटने लगे।

गाँव की नर्म दिल स्त्रियाँ आ-आकर लाश को देखती थीं और उसकी बेकसी पर दो बूँद आँसू गिराकर चली जाती थीं।

3

बाजार में पहुँचकर घीसू बोला–"लकड़ी तो उसे जलाने भर को मिल गई है, क्यों माधव!"

माधव बोला–"हाँ, लकड़ी तो बहुत है, अब कफ़न चाहिए।"

"तो चलो, कोई हल्का-सा कफ़न ले लें।"

"हाँ और क्या? लाश उठते-उठते रात हो जायेगी। रात को कफ़न कौन देखता है?"

"कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते जी तन ढाँकने को चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफ़न चाहिए।"

"कफ़न लाश के साथ जल ही तो जाता है!"

"और क्या रखा रहता है? यही पाँच रुपये पहले मिलते, तो कुछ दवा-दारू कर लेते।"

दोनों एक-दूसरे के मन की बात ताड़ रहे थे। बाज़ार में इधर-उधर घूमते रहे। कभी इस बाज़ार की दूकान पर गये। कभी उसकी दूकान पर। तरह-तरह के कपड़े, रेशमी और सूती देखे, मगर कुछ जँचा नहीं। यहाँ तक कि शाम हो गई। तब दोनों न जाने किस दैवी प्रेरणा से एक मधुशाला के सामने आ पहुँचे और जैसे किसी पूर्व-निश्चित योजना से अन्दर चले गये। वहाँ ज़रा देर तक दोनों असमंजस में खड़े रहे। फिर घीसू ने गद्दी के सामने जाकर कहा–"साहजी, एक बोतल हमें भी देना।"

इसके बाद कुछ चिखौना आया, तली हुई मछलियाँ आयीं और दोनों बरामदे में बैठकर शान्तिपूर्वक पीने लगे।

कई कुज्जियाँ ताबड़तोड़ पीने के बाद दोनों में सरूर में आ गए।

घीसू बोला–"कफ़न लगाने से क्या मिलता? आखिर जल ही तो जाता। कुछ बहू के साथ तो न जाता।"

माधव आसमान की तरफ़ देखकर बोला, मानों देवताओं को अपनी निष्पापता का साक्षी बना रहा हो–"दुनिया का दस्तूर है, लोग बामनों को हज़ारों रुपये क्यों दे देते हैं। कौन देखता है, परलोक में मिलता है या नहीं!"

"बड़े आदमियों के पास धन है। चाहे फूँकें! हमारे पास फूँकने को क्या है?"

"लेकिन लोगों को जवाब क्या दोगे? लोग पूछेंगे नहीं, कफ़न कहाँ है?"

घीसू हंसा–"अबे, कह देंगे कि रुपये कमर से खिसक गए। बहुत ढूँढा, मिले नहीं। लोगों को विश्वास तो न आयेगा, लेकिन फिर वही रुपये देंगे।"

माधव भी हँसा, इस अनपेक्षित सौभाग्य पर बोला–"बड़ी अच्छी थी बेचारी! मरी तो खूब खिला-पिलाकर!"

आधी बोतल से ज़्यादा उड़ गई। घीसू ने दो सेर पूरियाँ मँगाई। चटनी, आचार, कलेजियाँ। शराबखाने के सामने ही दूकान थी। माधव लपककर दो पत्तलों में सारे सामान ले आया। पूरा डेढ़ रुपया और खर्च हो गया। सिर्फ थोड़े-से पैसे बच रहे।

दोनों इस वक्त शान से बैठे हुए पूरियाँ खा रहे थे, जैसे जंगल में कोई शेर अपना शिकार उड़ा रहा हो। न जवाबदेही का खौफ़ था, न बदनामी की फ़िक्र। इन भावनाओं को उन्होंने बहुत पहले ही जीत लिया था।

घीसू दार्शनिक भाव से बोला–"हमारी आत्मा प्रसन्न हो रही है, तो क्या उसे पुन्न न होगा।"

माधव ने श्रद्धा से सिर झुकाकर तसदीक की–"ज़रूर से ज़रूर होगा। भगवान्, तुम अन्तर्यामी हो। उसे बैकुण्ठ ले जाना। हम दोनों हृदय से आशीर्वाद दे रहे हैं। आज जो भोजन मिला, वह कभी उम्र भर न मिला था।"

एक क्षण के बाद माधव के मन में एक शंका जागी। बोला–"क्यों दादा, हम लोग भी तो एक-न-एक दिन वहाँ जायेंगे ही।"

घीसू ने इस भोले-भाले सवाल का कुछ उत्तर न दिया। वह परलोक की बातें सोचकर इस आनन्द में बाधा न डालना चाहता था।

"जो वहाँ वह हम लोगों से पूछे कि तुमने हमें कफ़न क्यों नहीं दिया, तो क्या कहोगे?"

"कहेंगे तुम्हारा सिर!"

"पूछेगी तो जरूर!"

"तू कैसे जानता है कि उसे कफ़न न मिलेगा? तू मुझे ऐसा गधा समझता है? साठ साल क्या दुनिया में घास खोदता रहा हूँ! उसको कफ़न मिलेगा और बहुत अच्छा मिलेगा!"

माधव को विश्वास न आया। बोला–"कौन देगा? रुपये तो तुमने चट कर दिये। वह तो मुझसे पूछेगी। उसकी माँग में सिन्दूर तो मैंने डाला था।"

घीसू गर्म होकर बोला–"मैं कहता हूं, उसे कफ़न मिलेगा! तू मानता क्यों नहीं?"

"कौन देगा, बताते क्यों नहीं?"

"वही लोग देंगे, जिन्होंने कि अबकी दिया। हाँ, अबकी रुपये हमारे हाथ न आयेंगे।"

ज्यों-ज्यों अँधेरा बढ़ता था और सितारों की चमक तेज़ होती थी, मधुशाला की रौनक भी बढ़ती जाती थी। कोई गाता था, कोई डींग मारता था, कोई अपने संगी के गले लिपटा

जाता था। कोई अपने दोस्त के मुँह से कुल्हड़ लगाये देता था।

वहाँ के वातावरण में सरूर था, हवा में नशा। कितने तो यहाँ आकर चुल्लू में मस्त हो जाते थे। शराब से ज़्यादा यहाँ की हवा उन पर नशा करती थी। जीवन की बाधाएँ यहाँ खींच लाती थीं और कुछ देर के लिए वे यहाँ भूल जाते थे कि वे जीते हैं या मरते हैं! या न जीते हैं, न मरते हैं!

और यह दोनों बाप बेटा अब भी मजे ले-लेकर चुसकियाँ ले रहे थे। सबकी निगाहें इनकी ओर जमी हुई थीं। दोनों कितने भाग्य के बली हैं! पूरी बोतल बीच में है।

भरपेट खाकर माधव ने बची हुई पूरियों का पत्तल उठाकर एक भिखारी को दे दिया, जो खड़ा इनकी ओर भूखी आँखों से देख रहा था। और 'देने' के गौरव, आनन्द और उल्लास का उसने अपने जीवन में पहली बार अनुभव किया।

घीसू ने कहा–"ले जा, खूब खा और आशीर्वाद दे! जिसकी कमाई है, वह तो मर गई। मगर तेरा आशीर्वाद उसे जरूर पहुँचेगा। रोयें-रोयें से आशीर्वाद दे; बड़ी गाढ़ी कमाई के पैसे हैं।"

माधव ने फिर आसमान की तरफ़ देखकर कहा–"वह बैकुण्ठ में जायेगी दादा, वह बैकुण्ठ की रानी बनेगी।"

घीसू खड़ा हो गया और जैसे उल्लास की लहरों में तैरता हुआ बोला–"हाँ, बेटा बैकुण्ठ में जायेगी। किसी को सताया नहीं। किसी को दबाया नहीं। मरते-मरते हमारी जिन्दगी की सबसे बड़ी लालसा पूरी कर गई। वह न बैकुण्ठ को जायेगी तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जायेंगे, जो गरीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं और अपने पाप को धोने के लिए गंगा में नहाते हैं और मन्दिरों में जल चढ़ाते हैं!"

श्रद्धालुता का यह रंग तुरन्त ही बदल गया। अस्थिरता नशे की खासियत है। दुःख और निराशा का दौरा हुआ।

माधव बोला–"मगर दादा, बेचारी ने जिन्दगी में बड़ा दुख भोगा। कितना दुःख झेलकर मरी।"

वह आँखों पर हाथ रखकर रोने लगा, चीखें मार-मारकर।

घीसू ने समझाया–"क्यों रोता है बेटा, खुश हो कि वह मायाजाल से मुक्त हो गई। जंजाल से छूट गई। बड़ी भाग्यवान् थी, जो इतनी जल्द मायामोह के बंधन तोड़ दिये।"

और दोनों खड़े होकर गाने लगे–

"ठगिनी क्यों नैना झमकावै! ठगिनी!"

पियक्कड़ों की आंखें इनकी ओर लगी हुई थीं और यह दोनों अपने दिल में मस्त गाते जाते थे। फिर दोनों नाचने लगे। उछले भी, कूदे भी, गिरे भी, मटके भी, भाव भी बनाए, अभिनय भी किए और आखिर नशे में बदमस्त होकर वहीं गिर पड़े। □

उसने कहा था

—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी
(जन्म : सन् 1865 ई.)

1

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है, और कान पक गये हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए, इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट-सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अंगुलियों के पोरों को चींथकर अपने-ही को सताया हुआ बताते हैं, और संसार-भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने, नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले तंग चक्करदार गलियों में, हर-एक लड्ढीवाले के लिये ठहर कर सब्र का समुद्र उमड़ा कर 'बचो खालसाजी।' 'हटो भाईजी।' 'ठहरना भाई जी।' 'आने दो लाला जी।' 'हटो बाछा।'' —कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने और खोमचे और भारेवालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं; चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती, तो उनकी बचनावली के ये नमूने हैं–'हट जा जीणे जोगिए; हट जा करमा वालिए; हट जा पुत्तां प्यारिए; बच जा लम्बी वालिए।' समष्टि में इनके अर्थ हैं, कि तू जीने योग्य है, तू भाग्योंवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहिये के नीचे आना चाहती है? बच जा।

ऐसे बम्बूकार्ट वालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक

---

1. बादशाह

दूकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिक्ख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिये दही लेने आया था, और यह रसोई के लिये बड़ियाँ। दूकानदार एक परदेशी से गुँथ रहा था, जो सेर-भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

"तेरे घर कहाँ हैं?"

"मगरे में; और तेरे?"

"माँझे में; यहाँ कहाँ रहती है?"

"अतरसिंह की बैठक में; वे मेरे मामा होते हैं।"

"मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरुबाजार में है।"

इतने में दूकानदार निबटा, और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुस्कराकर पूछा, –"तेरी कुड़माई[2] हो गई?"

इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई, और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्ज़ीवाले के यहाँ, दूधवाले के यहाँ अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना-भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिये पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध बोली–"हाँ हो गई।"

"कब?"

"कल, देखते नहीं, यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।"[3]

लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छावड़ीवाले की दिन-भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहा कर आती हुई किसी वैष्णवी से टकरा कर अन्धे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

2

"राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है। दिन-रात खन्दकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाना से दस गुना जाड़ा और मेंह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। जमीन कहीं दिखती नहीं; घण्टे-दो-घण्टे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी खन्दक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का जलजला सुना था, यहाँ दिन में पच्चीस जलजले होते हैं। जो कहीं खन्दक से बाहर साफ़ा या कुहनी निकल गई, तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हैं या घास की पत्तियों में

---

2. मँगनी, 3. ओढ़नी

छिपे रहते हैं।"

"लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खन्दक में बिता ही दिये। परसों 'रिलफ़' आ जायेगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका[4] करेंगे और पेट-भर खाकर सो रहेंगे। उसी फरंगी[5] मेम के बाग में–मखमल का सा हरा घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।"

"चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ा कर मार्च का हुक्म मिल जाये। फिर सात जरमनों को अकेला मार कर न लौटूं, तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े–संगीत देखते ही मुँह फाड़ देते हैं, और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था–चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट जाने का कमान दिया, नहीं हो–"

"नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते! क्यों?" सूबेदार हज़ारा सिंह ने मुस्कराकर कहा–"लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा?"

"सूबेदारजी, सच है," लहनासिंह बोला–"पर करें क्या? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं, और खाई में दोनों तरफ से चम्बे की बावलियों के से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाए, तो गरमी आ जाये।"

"उदमी, उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वज़ीरा, तुम चार जने बालटियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदल ले।" –यह कहते हुए सूबेदार सारी खन्दक में चक्कर लगाने लगे।

वज़ीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला–"मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!" इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा–"अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब-भर में नहीं मिलेगा।"

"हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा[6] जमीन यहाँ माँग लूँगा और फलों के बूटे[7] लगाऊँगा।"

"लाड़ी होरा[8] को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलानेवाली फरंगी मेम–"

"चुप कर। यहाँ वालों को शरम नहीं।"

"देश-देश की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तम्बाखू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता

---

4. बकरा मारना, 5. फ्रेंच, 6. जमीन की माप, 7. पेड़, 8. स्त्री होरां–आदर वाचक

हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिये लड़ेगा नहीं।"

"अच्छा, अब बोधसिंह कैसा है?"

"अच्छा है।"

"जैसे मैं जानता ही न होऊँ! रात-भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है, मौत है, और 'निमोनिया' से मरनेवालों को मुरब्बे[9] नहीं मिला करते।"

"मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।"

वज़ीरासिंह ने त्योरी चढ़ाकर कहा-"क्या मरने-मारने की बात लगाई है? मरें जर्मनी और तुरक! हाँ भाइयों, कैसे..."

> दिल्लीं शहर तें पिशौर नुँ जांदिए,
> कर लेणा लौंगा दा बपार मडिए;
> कर लेणा नाड़ेदा सौदा अड़िए-
> (ओय) लाणा चटाका कदुए नुँ।
> कद्द बणाया वे मजेदार गोरिये,
> हुण लाणा चटाका कदुए नुँ।।[10]

कौन जाता था कि दाढ़ियोंवाले, घरबारी सिख ऐसा लुच्चों का गीत गायेंगे, पर सारी खन्दक इस गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गये, मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

3

दोपहर रात गई है। अन्धेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधा सिंह खाली बिस्कुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछा कर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक बरानकोट ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर। बोधासिंह कराहा।

"क्यों बोधा भाई, क्या है?"

"पानी पिला दो।"

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगा कर पूछा-"कहो कैसे हो?" पानी पीकर

---

9. नई नहरों के पास की भूमि, 10. अरी दिल्ली शहर से पेशावर को जाने वाली, लौंगों को व्यापार कर ले और इज़ारबन्द का सौदा कर ले। जीभ चटचटाकर कद्दू खाना है। गोरी! कद्दू मज़ेदार बना है। अब चटचटाकर उसे खाना है।

बोधा बोला–"कँपनी छुट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।"

"अच्छा, मेरी जरसी पहन लो?"

"और तुम?"

"मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है। पसीना आ रहा है।"

"ना, मैं नहीं पहनता। चार दिन से तुम मेरे लिये–"

"हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सबेरे ही आई है। विलायत से बुन-बुनकर भेज रही हैं मेमें, गुरु उनका भला करें।" यों कहकर लहना अपना कोट उतार कर जरसी उतारने लगा।

"सच कहते हो?"

"और नहीं झूठ?" यों कहकर नहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता भर पहनकर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घण्टा बीता। इतने मे खाई के मुँह से आवाज़ आई–"सूबेदार हज़ारा सिंह।"

"कौन लपटन साहब? हुक्म हुजूर!" –कहकर सूबेदार तन कर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

"देखो, इसी समय धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज़ियादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काट कर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़ कर सबको साथ ले उनसे जा मिलो। खन्दक छीनकर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।"

"जो हुक्म।"

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कम्बल उतार कर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेर पर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकाल कर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा–"लो तुम भी पियो।"

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपा कर बोला–"लाओ साहब।" हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह कैदियों से कटे हुए बाल कहाँ से आ गये?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेंट में थे।

"क्या साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायेंगे?"

"लड़ाई खत्म होने पर। क्यों, क्या यह देश पसन्द नहीं?"

"नहीं साहब, शिकार के वे मज़े यहाँ कहाँ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी जिले में शिकार करने गये थे–हाँ-हाँ–वही जब आप खोते[11] पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था? बेशक पाजी कहीं का–सामने से वह नील गाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कन्धे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नील गाय का सिर आ गया था न? आपने कहा था कि रजमंट की मैस में लगायेंगे। हां, पर मैंने वह बिलायत भेज दिया–ऐसे बड़े-बड़े सींग! दो-दो फुट के तो होंगे?"

"हाँ, लहनासिंह, वो, दो फुट चार इंच के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया?"

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ"–कहकर लहनासिंह खन्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अंधेरे में किसी सोने वाले से वह टकराया।

"कौन? वज़ीरासिंह?"

"हाँ, क्यों लहना? क्या क़यामत आ गई? ज़रा तो आँख लगने दी होती?"

4

"होश में आओ। क़यामत आई और लपटन साहब की वर्दी पहन कर आई है।"

"क्या?"

"लपटन साहब या तो मारे गये हैं या कैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहन कर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा और बातें की हैं। सौहरा[12] साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है?"

"तो अब?"

"अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार होरा, कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खन्दक की बात झूठ है। चले जाओ, खन्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खड़के। देर मत करो।"

"हुकम तो यह है कि यहीं–"

"ऐसी तैसी हुकूम की! मेरा हुकुम–जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफसर है, उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।"

---

11. गधे, 12. ससुरा (गाली),

"पर यहाँ तो तुम आठ हो।"

"आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।"

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह खन्दक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुन्दा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'आँख! मीन गौट्ट"[13] कहते हुए चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खन्दक के बाहर फेंके और साहब को घसीट कर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकाल कर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—"क्यों लपटन साहब? मिज़ाज कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नील गायें होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्त्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आये? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डेम' के पाँच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।"

लहना ने पतलून के जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने मानो जाड़े से बचने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—"चालाक तो बड़े हो पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिये। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने के ताबीज़ बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा[14] बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनीवाले बड़े पण्डित है। बेद पढ़-पढ़ कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायेंगे तो गोहत्या बन्द कर देंगे। मण्डी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपया निकाल लो। सरकार का राज्य जानेवाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूड़ दी थी। और गाँव से बाहर निकालकर कहा था कि ज़ो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो—"

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना

---

13. हाय मेरे राम (जर्मन), 14. खटिया

की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कलाप-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया–"क्या है?"

लहनासिंह ने उसे यह कहकर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया' और, औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफा फाड़ कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कस कर बाँधी। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तक कर मार रहा था–वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनिटों में वे–

अचानक आवाज़ आई 'वाह गुरुजी की फतह? वाह गुरुजी का खालसा!!' और धड़ाधड़ बन्दूकों के कायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरु कर दिया।

एक किलकारी और–'अकाल सिक्खाँ दी फौज आई! वाह गुरुजी दी फतह! वाह गुरुजी दा खालसा! सत श्री अकालपुरख!!!' और लड़ाई खत्म हो गई। तिरेसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहिने कन्धे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खन्दक की गीली मट्टी से पूर लिया और बाकी का साफ़ा कसकर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना को दूसरा घाव–भारी घाव लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृतकवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य' कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी, जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और कागजात पाकर वे उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज़ तीन मील दाहिनी ओर की खाई वालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घण्टे के अन्दर-अन्दर आ पहुँची। फील्ड अस्पताल नज़दीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायेंगे, इसलिये मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है सबेरे देखा जायेगा।

बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा–"तुम्हें बोधा की कसम है, और सूबेदारनी जी की सौगन्ध है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।"

"और तुम?"

"मेरे लिये वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना, और जर्मन मुरदों के लिये भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ? वजीरासिंह मेरे पास है ही।"

"अच्छा, पर–"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिये तो, सूबेदारनी होरां को चिट्ठी लिखो, तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उसने कहा था वह मैने कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा–"तैने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?"

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना, और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया।–"वजीरा पानी पिला दे, और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो रहा है।"

5

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्मभर की घटनायें एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं। समय की धुन्ध बिल्कुल उन पर से हट जाती है।

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्जीवाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है, तेरी कुड़माई हो गई? तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा, तो उसने कहा–'हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू?' सुनते ही लहनासिंह को दु:ख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?

"वजीरासिंह, पानी पिला दे।"

पचीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं. 77 रैफल्स में जमादार हो गये हैं। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकदमें की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजिमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है, फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हज़ारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ ही चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेढे[15] में से निकल कर आया। बोला–"लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं, बुलाती हैं। जा मिल आ।" लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं? कब से? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

'मुझे पहचाना?'

'नहीं'।

'तेरी कुड़माई हो गई–धत्–कल हो गई–देखते नहीं, रेशमी बूटोंवाला सालू–अमृतसर में–'

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

'वजीरा, पानी पिला'–उसने कहा था।'

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है–'मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमक-हलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों[16] की एक घँघरिया पल्टन क्यों न बना दी, जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज में भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।' सूबेदारनी रोने लगी। 'अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दूकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे, आप घोड़े की लातों में चले गये थे, और मुझे उठाकर दूकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।'

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी[17] में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

'वजीरासिंह पानी पिला'– 'उसने कहा था।'

लहना का सिर अपनी गोद में रक्खे वज़ीरासिंह बैठा है। जब मांगता है, तब पानी पिला देता है। आध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला–"कौन! कीरतसिंह,?"

वजीरा ने कुछ समझकर कहा–"हाँ।"

"भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट पर मेरा सिर रख ले।" वज़ीरा ने वैसा ही किया।

"हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस, अब के हाड़ में यह आम खूब फलेगा। चचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है, उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।"

वज़ीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा–फ्रान्स और बेलजियम–68वीं सूची–मैदान में घावों से मरा–नं. 77 सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

---

15. जनाने, 16. स्त्रियों, 17. अन्दर का घर, 18. जांघ, 19. आषाढ़

ग्यारह वर्ष का समय

रामचन्द्र शुक्ल
(जन्म : सन् 1884 ई.)

दिन भर बैठे-बैठे मेरे सिर में पीड़ा उत्पन्न हुई; मैं अपने स्थान से उठा और अपने एक नये एकान्तवासी मित्र के यहाँ मैंने जाना विचारा। जाकर मैंने देखा तो वे ध्यानमग्न सिर नीचा किए हुए कुछ सोच रहे थे। मुझे यह देखकर कुछ आश्चर्य नहीं हुआ; क्योंकि यह कोई नई बात न थी। उन्हें थोड़े ही दिन पूरब से इस देश में आए हुआ है। नगर में उनसे मेरे सिवाय और किसी से विशेष जान-पहचान नहीं है; और न यह विशेषतः किसी से मिलते-जुलते ही हैं। केवल मुझसे, मेरे भाग्य से वे मित्रभाव रखते हैं। उदास तो वे हर समय रहा करते हैं। कई बार उनसे मैंने इस उदासीनता का कारण पूछा भी; किन्तु मैंने देखा कि उसके प्रगट करने में उन्हें एक प्रकार का दुःख सा होता है, इसी कारण मैं विशेष पूछा-पाछा नहीं करता।

मैंने पास जाकर कहा "मित्र! आज तुम बहुत उदास जान पड़ते हो। चलो थोड़ी दूर तक घूम आवें। चित्त बहल जाएगा।"

वे तुरन्त खड़े हो गये और कहा, "चलो मित्र, मेरा भी यही जी चाहता है। मैं तो तुम्हारे यहाँ जानेवाला था।"

हम दोनों उठे और नगर से पूर्व की ओर का मार्ग लिया। मार्ग के दोनों ओर की कृषि-सम्पन्न भूमि की शोभा का अनुभव करते और हरियाली के विस्तृत राज्य का अवलोकन करते हम लोग चले। दिन का अधिकांश अभी शेष था; इससे चित्त को स्थिरता थी। पावस की जरावस्था थी इससे ऊपर से भी किसी प्रकार के अत्याचार की संभावना न थी। प्रस्तुत ऋतु की प्रशंसा भी हम दोनों बीच-बीच में करते जाते थे।

अहा! ऋतुओं में उदारता का अभिमान यही कर सकता है। दीन कृषकों को अन्नदान और सूर्य्यातप तप्त पृथिवी को वस्त्रदान देकर यश का भागी यही होता है। इसे तो कवियों की "कौंसिल" से "रायबहादुर" की उपाधि मिलनी चाहिये। यद्यपि पावस की युवावस्था का समय नहीं है; किन्तु उसके यश की ध्वजा फहरा रही है। स्थान-स्थान पर प्रसन्न

सलिलपूर्ण ताल यद्यपि उसकी पूर्व उदारता का परिचय दे रहे हैं।

एतादृश भावों की उलझन में पड़कर, हम लोगों का ध्यान मार्ग की शुद्धता की ओर न रहा। हम लोग नगर से बहुत दूर निकल गये। देखा तो शनैः शनैः भूमि में परिवर्तन लक्षित होने लगा; अरुणिता मिश्रित पहाड़ी, रेतीली भूमि, जङ्गली बैर मकोय की छोटी-छोटी झाड़ियाँ, दृष्टि के अन्तर्गत होने लगीं। अब हम लोगों को जान पड़ा कि हम दक्षिण की ओर झुके जा रहे हैं। सन्ध्या भी हो चली, दिवाकर की डूबती हुई किरणों की अरुण आभा झाड़ियों पर पड़ने लगी। इधर प्राची की ओर दृष्टि गई तो देखा चन्द्रदेव पहले से ही सिंहासनारूढ़ होकर एक पहाड़ी के पीछे से झाँक रहे थे।

अब हम लोग नहीं कह सकते कि किस स्थान पर हैं। एक पगडंडी के आश्रय में अब तक हम लोग चल रहे थे जिस पर उगी हुई घास इस बात की शपथ खा के साक्षी दे रही थी कि वर्षों से मनुष्यों के चरण इस ओर नहीं पड़े हैं। कुछ दूर तक चलकर यह मार्ग भी तृणसागर में लुप्त हो गया। "इस समय क्या कर्तव्य है?" चित्त इसी के उत्तर की प्रतीक्षा में लगा। अन्त में यह विचार स्थिर हुआ कि किसी-किसी खुले स्थान से चारों ओर देख यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है कि हम लोग अमुक स्थान पर हैं।

देवात् सम्मुख ही एक ऊँची पहाड़ी देख पड़ी, उसी को इस कार्य के उपयुक्त स्थान हम लोगों ने विचारा। ज्यों-ज्यों करके पहाड़ी के शिखर तक हम लोग आये। ऊपर आते ही भगवती जह्नुनन्दिनी के दर्शन हुए। आंखें तो सफल हुई। इतने में चारुहासिनी चन्द्रिका भी अट्टहास करके खिल पड़ी। उत्तर-पूर्व की ओर दृष्टि गई। विभिन्न दृश्य सम्मुख आ उपस्थित हुआ। जाह्नवी के तट से कुछ अन्तर पर नीचे मैदान में, बहुत दूर गिरे हुए मकानों के ढेर स्वच्छ चन्द्रिका में स्पष्ट रूप से दिखाई दिये।

मैं सहसा चौंक पड़ा और ये शब्द मेरे मुँह से निकल पड़े "क्या यह वही खंडहर है जिसके विषय में यहाँ अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं?" चारों ओर दृष्टि उठाकर देखने से मुझे पूर्णरूप से निश्चय हो गया कि हो न हो यह वही स्थान है, जिसके सम्बन्ध में मैंने बहुत कुछ सुना है। मेरे मित्र मेरी ओर ताकने लगे। मैंने संक्षेप में उस खंडहर के विषय में जो कुछ सुना था कह सुनाया। हम लोगों के चित्त में कौतूहल की उत्पत्ति हुई। उसको निकट से देखने की प्रबल इच्छा ने मार्ग-ज्ञान की व्यग्रता को हृदय से बहिर्गत कर दिया। उत्तर की ओर उतरना बड़ा दुष्कर प्रतीत हुआ, क्योंकि जंगली वृक्षों और कंटकमय झाड़ियों से पहाड़ी का वह भाग आच्छादित था। पूर्व की ओर से हम लोग सुगमतापूर्वक नीचे उतरे। यहाँ से खंडहर लगभग डेढ़ मील के प्रतीत होता था। हम लोगों ने पैरों को उस ओर मोड़ा, मार्ग में घुटनों तक उगी हुई घास पग-पग पर बाधा उपस्थित करने लगी; किन्तु अधिक विलम्ब तक यह कष्ट हम लोगों को भोगना न पड़ा, क्योंकि आगे चलकर फूटे हुए खपड़ैलों की सिटकियाँ मिलने लगीं, इधर-उधर गिरी हुई दीवारें और मिट्टी के ढूह प्रत्यक्ष होने लगे। हम लोगों ने जाना कि अब यहीं से खंडहर का आरम्भ है। दीवारों की मिट्टी का स्थान क्रमशः ऊँचा होता जाता था,

जिस पर से होकर हम लोग जा रहे थे। इस निर्भयता के लिये हम लोग चन्द्रमा के प्रकाश के भी अनुग्रहीत है। सम्मुख ही एक देवमन्दिर पर दृष्टि जा पड़ी जिसका कुछ भाग तो नष्ट हो गया था; किन्तु शेष प्रस्तरविनिर्मित्त होने के कारण अब तक क्रूर काल के आक्रमण को सहन करता आया था। मन्दिर का द्वार ज्यों का त्यों खड़ा था। किवाड़ सट गये थे। भीतर भगवान भवानीपति बैठे निर्जन कैलाश का आनन्द ले रहे थे; द्वार पर उनका नन्दी भी बैठा था। मैं तो प्रणाम करके वहाँ से हटा; किन्तु देखा तो हमारे मित्र बड़े ध्यान से खड़े हो उस मन्दिर की ओर देख रहे हैं और मन ही मन कुछ सोच रहे हैं। मैंने मार्ग में भी कई बार लक्ष्य किया था कि वे कभी-कभी ठिठक जाते और किसी वस्तु को बड़ी स्थिर दृष्टि से देखने लगते। मैं खड़ा हो गया और पुकारकर मैंने कहा, "कहो मित्र! क्या है? क्या देख रहे हो?" मेरी बोली सुनते ही वे झट मेरे पास दौड़ आए और कहा "कुछ नहीं, मैं मन्दिर देखने लग गया था।" मैंने फिर तो कुछ न पूछा। किन्तु अपने मित्र की ओर देखता जाता था, जिस पर कि विस्मययुक्त एक अद्भुतभाव लक्षित होता था। इस समय खंडहर के मध्य माग में हम लोग खड़े थे। मेरा हृदय इस स्थान को इस अवस्था में देख विदीर्ण होने लगा। प्रत्येक वस्तु से उदासी बरस रही थी, इस संसार की अनित्यता की सूचना मिल रही थी। इस करुणोत्पादक दृश्य का प्रभाव मेरे हृदय पर किस सीमा तक हुआ, शब्दों द्वारा अनुभव कराना असम्भव है।

कहीं खड़े हुए किवाड़ भूमि पर पड़े प्रचण्ड काल को साष्टांग दण्डवत् कर रहे हैं। जिन घरों में किसी अपरिचित की परछाईं पड़ने से कुल की मर्यादा भङ्ग होती थी, वे भीतर से बाहर तक खुले पड़े हैं। रङ्ग-बिरङ्गी चूड़ियों के टुकड़े इधर-उधर पड़े काल की महिमा गा रहे हैं। मैंने इनमें से एक को हाथ में उठाया, उठाते ही यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि "वे कोमल हाथ कहाँ हैं, जो इन्हें धारण करते थे।"

हां! यही स्थान किसी समय नर-नारियों के आमोद-प्रमोद से पूर्ण रहा होगा और बालकों के कल्लोल की ध्वनि चारों ओर से आती रही होगी। वही आज कराल काल के कठोर दाँतों के तले पिस कर चकनाचूक हो गया है। तृणों से आच्छादित गिरी हुई दीवारें, मिट्टी और ईंटों के ढूह, टूटेफूटे चौखटे और किवाड़ इधर-उधर पड़े एक स्वर में मानो पुकार के कह रहे थे-"दिनन को फेर होत मेरु होत माटी को"; प्रत्येक पार्श्व से मानों यही ध्वनि आ रही थी। मेरे हृदय में करुणा का एक समुद्र उमड़ पड़ा जिसमें मेरे विचार सब मग्न होने लगे।

मैं एक स्वच्छ शिला पर, जिसका कुछ भाग तो पृथ्वीतल में धँसा था और शेषांश बाहर था, बैठ गया। मेरे मित्र भी आकर मेरे पास बैठे। मैं तो बैठे-बैठे काल-चक्र की गति पर विचार करने लगा; मेरे मित्र भी किसी विचार में डूबे थे; किन्तु मैं नहीं कह सकता कि वह क्या था। यह सुन्दर स्थान इस शोचनीय और पतित दशा को क्यों प्राप्त हुआ, मेरे चित्त में तो यही प्रश्न बार-बार उठने लगा; किन्तु उसका सन्तोषदायक उत्तर प्रदान करने वाला वहाँ कौन था? अनुमान ने यथासाध्य प्रयत्न किया, परन्तु कुछ फल

न हुआ। माथा घूमने लगा। न जाने कितने और किस-किस प्रकार के विचार मेरे मस्तिष्क से होकर दौड़ गये।

हम लोग अधिक विलम्ब तक इस अवस्था में न रहने पाये। यह क्या? मधुसूदन! यह कौन सा दृश्य है। जो कुछ देखा उससे अवाक् रह गया। कुछ दूर पर एक श्वेत वस्तु इसी खंडहर की ओर आती हुई प्रतीत हुई। मुझे रोमाञ्च हो आया; शरीर काँपने लगा। मैंने अपने मित्र को उसी ओर आकर्षित किया और उंगली उठा के दिखाया। परन्तु कहीं कुछ न देख पड़ा, मैं स्थापित मूर्ति की भाँति बैठा रहा। पुनः वही दृश्य! अबकी बार ज्योत्स्नालोक में स्पष्ट रूप से हम लोगों ने देखा कि एक श्वेत-परिच्छेद-धारिणी स्त्री एक जल का पात्र लिये खंडहर के एक पार्श्व से होकर दूसरी ओर वेग से निकल गई और उन्हीं खंडहरों के बीच फिर न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गई। इस अदृष्ट-पूर्व व्यापार को देख मेरे मस्तक में पसीना आ गया और कई प्रकार के भ्रम उत्पन्न होने लगे। विधाता! तेरी सृष्टि में न जाने कितनी अद्भुत-अद्भुत वस्तु मनुष्य की सूक्ष्म विचार-दृष्टि से वञ्चित पड़ी है। यद्यपि मैंने इस स्थान-विशेष के सम्बन्ध में अनेक भयानक वार्ताएँ सुन रक्खी थीं; किन्तु मेरे हृदय पर भय का विशेष सञ्चार न हुआ। हम लोगों को प्रेतों पर भी इतना दृढ़ विश्वास न था, नहीं तो हम दोनों का एक क्षण भी उस स्थान पर ठहरना दुष्कर हो जाता। रात्रि भी अधिक व्यतीत होती जाती थीं। हम दोनों को अब यह चिन्ता हुई कि यह स्त्री कौन है? इसका उचित परिशोध अवश्य लगना चाहिए।

हम दोनों अपने स्थान से उठे, और जिस ओर यह स्त्री जाती हुई देख पड़ी थी उसी ओर चले। अपने चारों ओर प्रत्येक स्थान को भली प्रकार देखते, हम लोग गिरे हुए मकानों के भीतर जा-जा के श्रृगालों के स्वछंद विहार में बाधा डालने लगे। अभी तक तो कुछ ज्ञात न हुआ। यह बात तो हम लोगों के मन में निश्चय हो गई थी कि हो न हो वह स्त्री खंडहर के किसी गुप्त भाग में गई है। गिरी हुई दीवारों की मिट्टी और ईंटों के ढेर से इस समय हम लोग परिवृत्त थे। बाह्य जगत की कोई वस्तु दृष्टि के अन्तर्गत न थी। हम लोगों को जान पड़ता था कि किसी दूसरे संसार में खड़े हैं। वास्तव में खंडहर के एक बड़े भयानक भाग में इस समय हम लोग खड़े थे। सामने एक बड़ी ईंटों की दीवार देख पड़ी जो औरों की अपेक्षा अच्छी दशा में थी। इसमें एक खुला हुआ द्वार था। इसी द्वार से हम दोनों ने इसमें प्रवेश किया। भीतर एक विस्तृत आँगन था जिसमें बेर और बबूल के पेड़ स्वच्छन्दतापूर्वक खड़े उस स्थान को मनुष्य जाति के सम्बन्ध से मुक्त सूचित करते थे। इसमें पैर धरते ही मेरे मित्र की दशा कुछ और हो गई और वे चट बोल उठे, "मित्र! मुझे ऐसा जान पड़ता है कि जैसे मैंने इस स्थान को और कभी देखा हो-यह नहीं कह सकता कब। प्रत्येक वस्तु यहाँ की पूर्व परिचित सी जान पड़ती है।" मैं अपने मित्र की ओर ताकने लगा। उन्होंने आगे कुछ न कहा। मेरा मित्र इस स्थान के अनुसंधान करने को मुझे बाध्य करने लगा। इधर-उधर देखा तो एक ओर

मिट्टी पड़ते-पड़ते दीवार की ऊँचाई के मध्य भाग तक वह पहुँच गई थी। इस पर से होकर हम दोनों दीवार पर चढ़ गये। दीवार के नीचे दूसरे किनारे से चतुर्दिक् वेष्टित एक कोठरी दिखाई दी, मैं उसमें उतरने का यत्न करने लगा। बड़ी सावधानी से एक उभरी हुई ईंट पर पैर रखकर हम दोनों नीचे उतर गये। यह कोठरी ऊपर से बिल्कुल खुली थी, इसलिए चन्द्रमा का प्रकाश इसमें बे-रोकटोक आ रहा था। कोठरी की दाहिनी ओर एक द्वार था। हम लोगों ने निकट जाकर किवाड़ों को पीछे की ओर धीरे से ढकेला तो जान पड़ा कि भीतर से बन्द हैं।

मेरे तो पैर काँपने लगे। पुनः साहस को धारण कर हम लोगों ने किवाड़ के छोटे-छोटे रन्ध्रों से झाँका तो एक प्रशस्त कोठरी देख पड़ी। एक कोने में मन्द-मन्द एक प्रदीप जल रहा था जिसका प्रकार द्वार तक न पहुंचता था। यदि यह प्रदीप उसमें न होता तो अन्धकार के अतिरिक्त हम लोग और कुछ न देख पाते।

हम लोग कुछ काल तक स्थिर दृष्टि से उसी ओर देखते रहे। इतने में एक स्त्री की आकृति देख पड़ी जो हाथ में कई छोटे पात्र लिये उस कोठरी के प्रकाशित भाग में आई। अब तो किसी बात का संदेह न रहा। एक बार इच्छा हुई कि खटखटायें, किन्तु कई बातों का विचार करके हम लोग ठहर गये। जिस प्रकार से हम लोग कोठरी में आये थे, धीरे-धीरे उसी प्रकार निःशब्द दीवार पर से होकर फिर आँगन में आये। मेरे मित्र ने कहा "इसका शोध अवश्य लगाओ कि यह स्त्री कौन है।" अन्त में हम दोनों आड़ में, इस आशा से कि कदाचित् वह फिर बाहर निकले, बैठे रहे। पौन घण्टे के लगभग हम लोग इसी प्रकार बैठे रहे। इतने में ही श्वेतवसनधारिणी स्त्री आँगन में सहसा आकर खड़ी हो गई। हम लोगों को यह देखने का समय न मिला कि वह किस ओर से आयी। उसका अपूर्व सौन्दर्य देखकर हम लोग स्तम्भित व चकित रह गये। चन्द्रिका में उसके स्वांग की सुंदरता स्पष्ट जान पड़ती थी। गौर वर्ण, शरीर किञ्चित् क्षीण और आभूषणों से सर्वथा रहित; मुख उसका यद्यपि उस पर उदासीनता और शोक का स्थायी निवास लक्षित होता था, एक अलौकिक प्रशान्त कान्ति से देदीप्यमान हो रहा था। सौम्यता उसके अंग-अंग से प्रदर्शित होती थी। वह साक्षात् देवी जान पड़ती थी।

कुछ काल तक किंकर्तव्यविमूढ़ होकर स्तब्ध लोचनों से उसी ओर हम लोग देखते रहे। अन्त में हमने अपने को सम्हाला और इसी अवसर को अपने कार्योपयुक्त विचारा। हम लोग अपने स्थान से उठे और तुरन्त उस देवरूपिणी के सम्मुख हुए। वह देखते ही बड़े वेग से पीछे हटी। मेरे मित्र ने गिड़गिड़ा कर कहा, "देवि! ढिठाई क्षमा करो। मेरे भ्रमों का निवारण करो।" वह स्त्री क्षणभर के लिए चुप रही, फिर स्निध और गम्भीर स्वर में बोली, "तुम कौन हो और क्यों मुझे व्यर्थ कष्ट देते हो।" इसका उत्तर ही क्या था? मेरे मित्र ने फिर विनीत भाव से कहा, "देवि! मुझे बड़ा कौतूहल है दया करके यहाँ का सब रहस्य कहो।"

इस पर उसने उदास स्वर से कहा, "तुम हमारा परिचय लेकर क्या करोगे? इतना

जान लो कि मेरे समान अभागिनी इस समय इस पृथ्वीमण्डल में कोई नहीं है।"

मेरे मित्र से न रहा गया, हाथ जोड़कर उन्होंने फिर निवेदन किया, "देवि! अपने वृत्तान्त से मुझे परिचित करो। इसी हेतु हम लोगों ने इतना साहस किया है। मैं भी तुम्हारे ही समान दुखिया हूँ। मेरा इस संसार में कोई नहीं है।" मैं अपने मित्र का यह भाव देखकर चकित रह गया।

स्त्री ने करुण स्वर से कहा, "तुम मेरे नेत्रों के सम्मुख भूला-भुलाया मेरा दुःख फिर उपस्थित करने का आग्रह कर रहे हो। अच्छा बैठो।"

मेरे मित्र निकट एक पत्थर पर बैठे गये। मैं भी उन्हीं के पास जा बैठा। कुछ काल तक सब लोग चुप रहे। अन्त में वह स्त्री बोली–"इसके प्रथम कि मैं अपने वृत्तान्त से तुम्हें परिचित करुँ, तुम्हें शपथपूर्वक यह प्रतिज्ञा करनी होगी कि तुम्हारे सिवाय यह रहस्य संसार में और किसी के कानों तक न पहुँचे, नहीं तो मेरा इस स्थान पर रहना दुष्कर हो जायेगा और आत्महत्या ही मेरे लिये एकमात्र उपाय शेष रह जाएगा।"

हम लोगों के नेत्र गीले हो आये। मेरे मित्र ने कहा– "देवि! मुझसे तुम किसी प्रकार का भय न करो, ईश्वर मेरा साक्षी है।"

स्त्री ने तब इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया–"यह खंडहर जो तुम देखते हो, आज से 10 वर्ष पूर्व एक सुंदर ग्राम था। अधिकांश ब्राह्मण क्षत्रियों की इसमें बस्ती थी। यह घर जिसमें हम लोग बैठे हैं, चन्द्रशेखर मिश्र नामी एक प्रतिष्ठित और कुलीन ब्राह्मण का निवास स्थान था। घर में उनकी स्त्री और एक पुत्र था; इस पुत्र के सिवाय उन्हें और कोई सन्तान न थी। आज 11 वर्ष हुए मेरा विवाह इसी चन्द्रशेखर मिश्र के पुत्र के साथ हुआ था।"

इतना सुनते ही मेरे मित्र सहसा चौंक पड़े। "हे परमेश्वर! यह सब स्वप्न है या प्रत्यक्ष?" ये शब्द उनके मुख से निकले ही थे कि उनकी दशा विचित्र हो गई। उन्होंने अपने को बहुत सम्भाला और फिर से सम्भल कर बैठे। वह स्त्री उनका यह भाव देखकर विस्मित हुई और उनसे पूछा, "क्यों, क्या है?"

मेरे मित्र ने विनीत भाव से उत्तर दिया, "कुछ नहीं, यों ही मुझे एक बात का स्मरण आया। कृपा करके आगे कहो।" स्त्री ने फिर कहना आरम्भ किया–

"मेरे पिता का घर काशी में··· महल्ले में था। विवाह के एक वर्ष पश्चात् इस ग्राम में एक भयानक दुर्घटना उपस्थित हुई। यहीं से मेरे दुर्दयनीय दुःख का जन्म हुआ। सन्ध्या को सब ग्रामीण अपने-अपने कार्य से निश्चिन्त होकर अपने-अपने घरों को लौटे। बालकों का कोलाहल बन्द हुआ। निद्रा देवी ने ग्रामीणों के चिन्ताशून्य हृदयों में अपना डेरा जमाया। आधी रात से अधिक बीत चुकी थी; कुत्ते भी थोड़ी देर तक भूककर अन्त में चुप हो रहे। प्रकृति निस्तब्ध हुई, सहसा ग्राम में कोलाहल मचा और धमाके के कई शब्द हुए। लोग आंखें मींजते उठे। चारपाई के नीचे पैर देते हैं तो घुटने भर पानी में खड़े? कोलाहल सुनकर बच्चे भी जगे। एक दूसरे का नाम ले-लेकर लोग चिल्लाने लगे।

अपने-अपने घरों में से लोग बाहर निकल कर खड़े हुए। भगवती जाह्नवी को द्वार पर बहते पाया। भयानक विपत्ति का कोई उपाय नहीं। जल का वेग क्रमशः अधिक बढ़ने लगा। पैर कठिनता से ठहरते थे। जिधर दृष्टि उठाकर देखा जल ही जल दिखाई दिया। एक-एक करके सब सामग्रियाँ बहने लगीं। संयोग-वश एक नाव कुछ दूर पर आती देख पड़ी। आशा! आशाा!! आशा!!!

नौका आई, लोग टूट पड़े और बलपूर्वक चढ़ने का यत्न करने लगे। मल्लाहों ने भारी विपत्ति सम्मुख देखी। नाव पर अधिक बोझ होने के भय से उन्होंने तुरन्त अपनी नाव बढ़ा दी। बहुत लोग रह गये। नौका पवनगति से गमन करने लगी। लोग उतरे। चन्द्रशेखर मिश्र भी नाव पर से उतरे और अपने पुत्र का नाम लेकर पुकारा। कोई उत्तर न मिला। उन्होंने अपने साथ ही उसे नाव पर चढ़ाया था। किन्तु भीड़-भाड़ नाव पर होने के कारण वह उनसे पृथक् हो गया था, मिश्र जी बहुत घबड़ाए और तुरन्त नाव लेकर लौटे। देखा, बहुत से लोग रह गये थे, उनसे पूछ-पाछ किया। किसी ने कुछ पता न दिया। निराशा भयंकर रूप धारण करके उनके सामने उपस्थित हुई।

सन्ध्या का समय था, मेरे पिता दरवाजे पर बैठे थे। सहसा मिश्रजी घबड़ाए हुए आते देख पड़े। इन्होंने आकर आद्योपान्त पूर्वोल्लिखित घटना कह सुनाई, और तुरन्त उन्मत्त की भाँति वहाँ से चल दिये। लोग पुकारते ही रह गये? वे एक क्षण भी वहाँ न ठहरे। तब से फिर कभी वे दिखाई नहीं दिये। ईश्वर जाने वे कहाँ गये। मेरे पिता भी दत्तचित्त होकर अनुसन्धान करने लगे। उन्होंने सुना कि ग्राम के बहुत से लोग नाव पर चढ़-चढ़कर इधर भाग गये हैं। इसलिए उन्हें आशा थी। इस प्रकार ढूँढ़ते-ढाँढ़ते कई मास व्यतीत हो गये। अब तक तो समाचार की प्रतीक्षा में थे और इन्हें आशा थी; किन्तु अब उन्हें भी चिन्ता हुई। चन्द्रशेखर मिश्र का भी तब से कहीं कुछ समाचार न मिला। जहाँ-जहाँ मिश्र जी का सम्बन्ध था मेरे पिता स्वयं गये; किन्तु चारों ओर से निराश लौटे; किसी का कुछ अनुसन्धान न लगा। एक वर्ष बीता, दो वर्ष बीते, तीसरा वर्ष आरम्भ हुआ। पिता बहुत इधर-उधर दौड़े, अन्त में ईश्वर और भाग्य के ऊपर छोड़कर बैठे रहे। तीसरा वर्ष भी व्यतीत हो गया।

मेरी अवस्था उस समय 14 वर्ष की हो चुकी थी; अब तक तो मैं निर्बोध बालिका थी। अब क्रमशः मुझे अपनी वास्तविक दशा का ज्ञान होने लगा। मेरा समय भी अहर्निश इसी चिन्ता में अब व्यतीत होने लगा। शरीर दिन पर दिन क्षीण होने लगा। मेरे देवतुल्य पिता ने यह बात जानी। वे सदा मेरा दुःख भुलाने का यत्न करते रहते थे। अपने पास बैठाकर रामायण आदि की कथा सुनाया करते थे। पिता अब वृद्ध होने लगे; दिवा-रात्रि की चिन्ता ने उन्हें और भी वृद्ध बना दिया। घर के समस्त कार्य-सम्पादन का भार मेरे बड़े भाई के ऊपर पड़ा। उनकी स्त्री का स्वभाव बड़ा क्रूर था। कुछ दिन तो किसी प्रकार चला। अन्त में वह मुझसे डाह करने लगी और कष्ट देना प्रारम्भ किया। मैं चुपचाप सब सहन करती थी। धीरे-धीरे आश्वासवाक्य के स्थान पर वह तीक्ष्ण वचनों से मेरे

चित्त अधिक दुखाने लगी। यदि कभी मैं अपने भाई से निवेदन करती तो वे भी कुछ न बोलते, आनाकानी कर जाते। और मेरे पिता की वृद्धावस्था के कारण कुछ चल नहीं सकती थी। मेरे दुःख का समझनेवाला वहाँ कोई नहीं देख पड़ता था। मेरी माता का पहले ही परलोकवास हो चुका था। मुझे अपनी दशा पर बहुत दुःख हुआ। हाँ! मेरा स्वामी यदि इस समय होता तो क्या, मेरी वही दशा होती? पिता के घर क्या इन्हीं वचनों द्वारा मेरा सत्कार किया जाता? यही सब विचार करके मेरा हृदय फटने लगा था। अब क्रमशः मेरा हृदय मेघाच्छन्न होने लगा। मुझे संसार शून्य दिखाई देने लगा। एकान्त में बैठकर अपनी अवस्था पर अश्रुवर्षण करती। उसमें भी यह भय लगा रहता कि कहीं ये भौजाई न पहुँच जाये। एक दिन उसने मुझे इसी अवस्था में पाया तो तुरंत व्यंग्य वचनों द्वारा मुझे आश्वासन देने लगी। मेरा शोकार्त हृदय अग्निशिखा की भाँति प्रज्वलित हो उठा, किन्तु मौनावलम्बन के सिवाय अन्य उपाय ही क्या था? दिन-दिन मुझे यह दुःख असह्य होने लगा। एक रात्रि को मैं उठी; किसी से कुछ न कहा; और सूर्योदय के प्रथम ही अपने पिता का गृह मैंने परित्याग किया।

मैं अब यह नहीं कह सकती कि उस समय मेरा क्या विचार था? मुझे एक बार अपने पति के स्थान को देखने की लालसा हुई। दुःख और शोक से मेरी दशा उन्मत्त की सी हो गई थी। संसार में मैंने दृष्टि उठा के देखा तो मुझे और कुछ न दिखलाई दिया, केवल चारों ओर दुःख। सैकड़ों कठिनाइयाँ झेलकर अन्त में मैं इस स्थान तक आ पहुँची। उस समय मेरी अवस्था केवल 16 वर्ष की थी। मैंने इस स्थान को उस समय भी प्रायः इसी दशा में पाया था। यहाँ आने पर मुझे कई चिह्न ऐसे मिले जिनसे मुझे यह निश्चय हो गया कि चन्द्रशेखर मिश्र का घर यही है। इस स्थान को देखकर मेरे आर्त हृदय पर बड़ा कठोर आघात पहुँचा।" इतना कहते-कहते हृदय के आवेग ने शब्दों को उसके हृदय में ही बन्द रक्खा; बाहर प्रगट न होने दिया। क्षणिक पर्यन्त वह चुप रही, सिर नीचा किए भूमि की ओर देखती रही। इधर मेरे मित्र की दशा कुछ और ही हो रही थी; लिखित चित्र की भाँति बैठे वे एकटक ताक रहे थे, इन्द्रियाँ अपना कार्य उस समय भूल गई थीं। स्त्री ने फिर कहना आरम्भ किया–

"इस स्थान को देख मेरा चित्त बहुत दग्ध हुआ। हां! यदि ईश्वर चाहता तो किसी दिन मैं इसी गृह की स्वामिनी होती। आज ईश्वर ने मुझको इस अवस्था में दिखलाया। उसके आगे किसका वश है? अनुसन्धान करने पर मुझे दो कोठरियाँ मिलीं जो सर्व प्रकार से रक्षित और मनुष्य की दृष्टि से दुर्भेद्य थीं। लगभग चारों ओर मिट्टी पड़ जाने के कारण किसी को उनकी स्थिति का सन्देह नहीं हो सकता था। मुझे बहुत-सी सामग्रियाँ भी इनमें प्राप्त हुईं जो मेरी तुच्छ आवश्यकतानुसार बहुत थीं। मुझे यह निर्जन स्थान अपने पिता के कष्टागार से प्रियतर प्रतीत हुआ। यहीं मेरे पति के बाल्यावस्था के दिन व्यतीत हुए थे। यही स्थान मुझे प्रिय है। यहीं मैं अपने दुःखमय जीवन का शेष भाग, उसी करुणालय जगदीश्वर की, जिसने मुझे इस अवस्था में डाला, आराधना में बिताऊँगी। यही विचार

मैंने स्थिर किया। ईश्वर को मैंने धन्यवाद दिया, जिसने ऐसा उपर्युक्त स्थान मेरे लिए ढूँढ़कर निकाला। कदाचित् तुम पूछोगे कि इस अभागिनी ने अपने लिए इस प्रकार का जीवन क्यों उपर्युक्त विचारा? तो उसका उत्तर है कि यह दुष्ट संसार भाँति-भाँति की वासनाओं से पूर्ण है, जो मनुष्य को उसके सत्य पथ से विचलित कर देती है, दुष्ट और कुमार्गी लोगों के अत्याचार से वञ्चित रहना भी कठिन कार्य है।"

इतना कहकर वह स्त्री ठहर गई। मेरे मित्र की ओर उसने देखा। वे कुछ मिनट तक काष्ठपुतलिका की भाँति बैठे रहे; अन्त में एक लम्बी ठंडी सांस भरके उन्होंने यह कहा, "ईश्वर! यह स्वप्न है या प्रत्यक्ष?" स्त्री उनका यह भाव देख-देखकर विस्मित हो रही थी। उसने पूछा, क्यों; कैसा चित्त है? मेरे मित्र ने अपने को सम्हाला और उत्तर दिया, 'तुम्हारी कथा का प्रभाव मेरे चित्त पर बहुत हुआ है; कृपा करके आगे कहो।"

स्त्री ने कहा, "मुझे अब कुछ कहना शेष नहीं है। आज पाँच वर्ष मुझे इस स्थान पर आए हुए; संसार में किसी मनुष्य को आज तक यह प्रगट नहीं हुआ। यहाँ प्रेतों के भय से कोई पदार्पण नहीं करता। इससे मुझे अपने को गोपन रखने में विशेष कठिनता नहीं पड़ती। संयोगवश रात्रि में किसी की दृष्टि मुझ पर पड़ी भी तो चुड़ैल के भ्रम से मेरे निकट तक आने का किसी को साहस न हुआ। यह आज प्रथम ऐसा संयोग उपस्थित है, तुम्हारे साहस को मैं सराहती हूँ और प्रार्थना करती हूँ कि तुम अपने शपथ पर दृढ़ रहोगे। संसार में अब मैं प्रगट होना नहीं चाहती; प्रगट होने से मेरी बड़ी दुर्दशा होगी। मैं यहीं अपने पति के स्थान पर अपना जीवन शेष करना चाहती हूँ। इस संसार में अब बहुत दिन न रहूँगी।"

मैंने देखा मेरे मित्र का चित्त भीतर ही भीतर आकुल और संतप्त हो रहा था; हृदय का वेग रोक कर उन्होंने प्रश्न किया, "क्यों! तुम्हें अपने पति का कुछ स्मरण है?"

स्त्री के नेत्रों से अनर्गल वारिधारा प्रवाहित हुई। बड़ी कठिनतापूर्वक उसने उत्तर दिया। "मैं उस समय बालिका थी। विवाह के समय मैंने उन्हें देखा था। वह मूर्ति यद्यपि मेरे हृदय-मन्दिर में विद्यमान है; प्रचण्ड काल भी उसको वहाँ से हटाने में असमर्थ है।"

मेरे मित्र ने कहा, "देवि! तुमने बहुत कुछ रहस्य प्रगट किया; जो कुछ शेष है उसका वर्णन कर अब मैं इस कथा की पूर्ति करता हूँ।"

स्त्री विस्मयोत्फुल्ल लोचनों से मेरे मित्र की ओर निहारने लगी। मैं भी आश्चर्य से उन्हीं की ओर देखने लगा। उन्होंने कहना आरम्भ किया—

"इस आख्यायिका में यही ज्ञात होना शेष है कि चन्द्रशेखर मिश्र के पुत्र की क्या दशा हुई। चन्द्रशेखर मिश्र और उनकी पत्नी क्या हुए। सुनो, नाव पर मिश्र जी ने अपने पुत्र को अपने साथ ही बैठाया। नाव पर भीड़ अधिक हो जाने के कारण वह उनसे पृथक हो गया। उन्होंने समझा कि वह नाव ही पर है; कोई चिन्ता नहीं। इधर मनुष्यों की धक्का-मुक्की से वह लड़का नाव पर से नीचे जा रहा। ठीक उसी समय मल्लाह ने नाव खोल दी। उसने कई बार अपने पिता को पुकारा, किन्तु लोगों के कोलाहल में उन्हें

कुछ सुनाई न दिया। नाव चली गई। बालक वहीं खड़ा रह गया और लोग किसी प्रकार अपना-अपना प्राण लेके इधर-उधर भागे। नीचे भयानक जल-प्रवाह, ऊपर अनन्त आकाश। लड़के ने एक छप्पर को बहते हुए अपनी ओर आते देखा; तुरन्त वह उसी पर बैठ गया। इतने में जल का एक बहुत ऊँचा प्रबल झोंका आया। छप्पर लड़के सहित शीघ्र गति से बहने लगा। वह चुपचाप मूर्तिवत् उसी पर बैठा रहा। उसे यह ध्यान नहीं कि इस प्रकार कै दिन तक वह बहता गया। वह भय और दुविधा से संज्ञाहीन हो गया था। संयोगवश एक व्यापारी की नाव जिस पर रूई लदी थी पूरब की ओर जा रही थी। नौका का स्वामी भी बजरे पर ही था। उसकी दृष्टि उस लड़के पर पड़ी। वह उसे नाव पर ले गया। लड़के की अवस्था उस समय मृतप्राय थी। अनेक यत्न के उपरान्त वह होश में लाया गया। उस सज्जन ने लड़के की नाव पर बड़ी सेवा की। नौका बराबर चलती रही, बीच में कहीं न रुकी, कई दिनों के उपरान्त वह कलकत्ते पहुँची।

वह बंगाली सज्जन उस लड़के को अपने घर ले गया और उसे उसने अपने परिवार में सम्मिलित किया। बालक ने अपने माता-पिता के देखने की इच्छा प्रगट की। उसने उसे बहुत समझाया और शीघ्र अनुसन्धान करने का वचन दिया। लड़का चुप हो गया।

इसी प्रकार कई मास व्यतीत हो गये। क्रमशः वह अपने पास के लोगों में हिलमिल गया। बङ्गाली महाशय के एक पुत्र था—दोनों में भ्रातृस्नेह स्थापित हो गया। वह सज्जन उस लड़के के भावी हित की चेष्टा में तत्पर हुआ। ईस्ट इंडिया कंपनी के स्थापित किये हुए एक अंग्रेजी स्कूल में, अपने पुत्र के साथ-साथ उसे भी वह शिक्षा देने लगा। क्रमशः उसे अपने घर का ध्यान कम होने लगा। वह दत्तचित्त होकर शिक्षा में अपना सारा समय देने लगा। इसी प्रकार कई वर्ष व्यतीत हो गये। उसके चित्त में अब अन्य प्रकार के विचारों ने निवास किया। अब पूर्वपरिचित लोगों के ध्यान के लिये उसके मन में कम स्थान शेष रह गया। मनुष्य का स्वभाव ही इस प्रकार का है। 9 वर्ष का समय निकल गया।

इसी बीच में एक बड़ी चित्ताकर्षक घटना उपस्थित हुई। बङ्गदेशी सज्जन के उस पुत्र का विवाह हुआ। चन्द्रशेखर का पुत्र भी उस समय वहाँ उपस्थित था। उसने सब देखा; दीर्घकाल की निद्रा भंग हुई। सहसा उसे ध्यान हो आया "मेरा भी विवाह हुआ है; अवश्य हुआ है।" उसे अपने विवाह का बारम्बार ध्यान आने लगा। अपनी पाणिग्रहीता भार्या का भी उसे स्मरण हुआ। स्वदेश में लौटने को उसका चित्त व्याकुल होने लगा। रात दिन इसी चिन्ता में व्यतीत होने लगे।

हमारे कतिपय पाठक हमपर दोषारोपण करेंगे कि "हैं! न कभी साक्षात् हुआ, न वार्तालाप हुआ, न लम्बी-लम्बी कोर्टशिप हुई; यह प्रेम कैसा?" महाशय! रुष्ट न हूजिए। इस अदृष्ट प्रेम का धर्म और कर्तव्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसकी उत्पत्ति केवल सदाशय और निःस्वार्थ हृदय में ही हो सकती है। इसकी जड़ संसार के और प्रकार के प्रचलित प्रेमों से दृढ़तर और अधिक प्रशस्त है। आपको सन्तुष्ट करने को मैं इतना ही कहे देता

हूं कि इंग्लैंड के भूतपूर्व प्रधानमंत्री लार्ड बेकन्सफील्ड का भी यही मत था।

युवक का चित्त अधिक डाँवाडोल होने लगा। एक दिन उसने उस देवतुल्य सज्जन पुरुष से अपने चित्त की अवस्था प्रगट की और बहुत विनय के साथ विदा माँगी। आज्ञा पाकर उसने स्वदेश की ओर यात्रा की। देश में आने पर उसे विदित हुआ कि ग्राम में अब कोई नहीं है। उसने लोगों से अपने पिता के विषय में पूछ-पाछ किया। कुछ लोगों ने कहा कि थोड़े दिन हुए वे दोनों इस नगर में थे; और अब वे तीर्थस्थानों में देशाटन कर रहे हैं। वह अपनी धर्मपत्नी के दर्शनों की अभिलाषा से सीधे काशी गया। वहाँ तुम्हारे पिता के घर का वह अनुसन्धान करने लगा। बहुत दिनों के पश्चात् तुम्हारे ज्येष्ठ भ्राता से उसने साक्षात् हुआ, जिससे तुम्हारे संसार से सहसा लोप हो जाने की बात ज्ञात हुई। वह निराश होकर संसार में घूमने लगा।

इतना कहकर मेरे मित्र चुप हो रहे। इधर शेष भाग सुनने को हम लोगों का चित्त ऊब रहा था; आश्चर्य से उन्हीं की ओर हम ताक रहे थे। उन्होंने फिर उस स्त्री की ओर देखकर कहा, "कदाचित् तुम पूछोगी, कि इस समय अब वह कहाँ है? यह वही अभागा मनुष्य तुम्हारे सम्मुख बैठा है।"

हम दोनों के शरीर में बिजुली सी दौड़ गई, वह स्त्री भूमि पर गिरने लगी; मेरे मित्र ने दौड़कर उसको सँभाला। वह किसी प्रकार उन्हीं के सहारे बैठी। कुछ क्षण के उपरान्त उसने बहुत धीमे स्वर में कहा, "अपना हाथ दिखाओ।"

उन्होंने चट अपना हाथ फैला दिया, जिस पर एक काला तिल दिखाई दिया। स्त्री कुछ काल तक उसी की ओर देखती रही; फिर मुख ढांप कर सिर नीचा करके बैठी रही। लज्जा का प्रवेश हुआ। क्योंकि यह एक हिन्दू रमणी को उसके पति के साथ प्रथम संयोग था।

आज इतने दिनों के उपरान्त मेरे मित्र का गुप्त-रहस्य प्रकाशित हुआ। उस रात्रि को मैं अपने मित्र का खंडहर में अतिथि रहा। सबेरा होते ही हम सब लोग प्रसन्नचित्त नगर में आये। □

विधवा

ज्वालादत्त शर्मा

(जन्म : सन् 1888 ई.)

1

राधाचरण की अकाल-मृत्यु से उसके चाचा-चाची को बहुत शोक हुआ। किन्तु अभागिनी पार्वती के लिये तो यह संसार ही अंधकारमय हो गया। उसके लिये तो संसार में आशा, उत्साह और सुख का सोलहो आने नाश हो गया। उसने इस घोर दुःख को, इस अनभ्र वज्रपात को दिल का खून करके, किसी तरह सहन किया। वह न रोई, न चिल्लाई। उसने इस असह्य दुःख को मन की पूरी ताकत से चुपचाप सहन किया। शोक के भारी बोझे से पार्वती का सुकोमल मन निस्सन्देह चूर-चूर हो गया। किन्तु विधि के इस विपरीत विधान में किसी का क्या वश था!

राधाचरण के चाचा, रामप्रसाद औसत दर्जे के आदमी थे। राधाचरण के पिता, गुरुप्रसाद का देहान्त, जब उसकी अवस्था पाँच वर्ष की थी, तभी हो गया था। सुनिति माता भी, पति की मृत्यु के एक वर्ष बाद ही, स्वर्ग-लोक-गामिनी हो गयी थीं। इसलिए बालक रामचरण का पालन-पोषण चाचा रामप्रसाद और उनकी पत्नी हरदेवी ने ही किया था। उनके पास कुछ पैतृक मिलकियत थी, जिसकी आमदनी से घर भर का खर्च चलता था। रहने को पक्का मकान था। पर इस पैतृक मिलकियत और रहने के मकान में-जायदाद के क्षय-रोग-कर्जे के कीटाणुओं ने प्रवेश कर लिया था। रामप्रसाद ने अपनी कन्या चमेली के विवाह में शहर के मूर्ख और निठल्ले आदमियों के मुँह से चिकनी-चुपड़ी बातें सुनने के लिए बहुत रुपया बरबाद किया था। विवाह के बाद, कोई एक सप्ताह तक, पकवान की सुगन्धि के साथ-साथ रामप्रसाद की इस मूर्खतापूर्ण उदारता की बू भी मुहल्ले में सर्वत्र और शहर में यत्र-तत्र फैल रही थी। खस्ता कचौरी, मोतीचूर के लड्डू, गोल बालूशाही, कुरकुरी इमरती और मसालेदार तरकारियों के साथ-साथ चमकते हुए 'इन्दु-सम-उज्ज्वल' रूपराज की दक्षिणा की बात जहाँ-तहाँ

होती थी। किन्तु रामप्रसाद के यश की उस स्निग्ध चाँदनी में, उसके विमल यश सफेद चादर में, कोई कलंक न हो, कोई धब्बा न हो, सो बात नहीं। दुष्ट समालोचक, जिन्होंने ज्यौनार में कई दिनों पहले से अल्पाहार करते रहने के कारण, बुरी तरह खस्ता कचौरी और मेवा-मिली मुलायम मिठाइयों का ध्वंस किया था, अपने दुष्ट पर प्रकृतिदत्त स्वभाव से, मजबूर होकर बाल-की-खाल निकालने और रामप्रसाद की दूध की गंगा में विष मिलाने लगे। कोई कहता था–'कचौरियों में मोंयन कम डाला गया', और कोई बताता था कि 'शाक में नोन ज़्यादा हो गया था।' कोई लड्डुओं की बूँदी को ठोस, तो बेसन की बरफी को सख्त करार देता था। मतलब यह कि रामप्रसाद की मूर्खता का श्राद्ध करने वाले नर-पुंगवों की भी कमी न थी। किन्तु घरों की मालकिनें जिन्होंने अपने बच्चों से रुपये छीनकर बटुओं में भर लिये थे, और इस तरह एक अनिर्वचनीय आनंद का अनुभव किया था, रामप्रसाद की प्रशंसा अपनी प्रलयंकारी बुद्धि की सहायता से शत-शत मुख से कर रही थीं। इस प्रशंसा-रूप बीमारी का दौरा भी एक महीने से अधिक न रहा। हलवाइयों के हिसाब के साफ होते ही लोगों के बेकार, अतएव खाली दिमाग भी इस खपत से खाली हो गये। छः मास के बाद, रामप्रसाद के उकसाने पर भी किसी को लड्डुओं की बूँदियों में तरावट न मालूम होती थी–कोई विषय का उत्थान न करता था। इससे रामप्रसाद के श्लाघा सुनने की अभिलाषा पर तुषार-पात हो जाया करता था, किन्तु उसी आशालता को पल्लवित करने वाला सूदखोर छज्जूमल महाजन पड़ोस का हक करीब-करीब रोज निभा देता था।

जिस साल रामप्रसाद की लड़की चमेली का विवाह हुआ था, उसी साल राधाचरण बी.ए. में तीसरे नम्बर पर पास हुआ था। राधाचरण को स्कूल से ही, उसकी योग्यता के कारण छात्रवृत्ति मिली थी। पर बी.ए. की फीस और किताबों के लिए चाचा रामप्रसाद ने 150 रुपये उसे जरूर दिये थे। उसी साल 'गरीब-नवाज़' लाला छज्जूमल ने यथानियम अगले-पिछले जोड़कर रामप्रसाद से पाँच हजार रुपयों का दस्तावेज़ लिखा कर उसकी इज्ज़त बचाई थी। कोई तीन हज़ार रुपये उसने लड़की के विवाह में स्वाहा किये थे। किन्तु कर्ज का प्रसंग उठते ही रामप्रसाद भतीजे की पढ़ाई का उल्लेख करते थे। उनके हिसाब से यदि राधाचरण न पढ़ता, तो उन्हें ऋणी न बनना पड़ता। छोटी-छोटी बातों पर रामप्रसाद राधाचरण से कहते–"अभी तूने मेरी क्या सेवा की है? एक साल से पचास रुपये महीना कमाने लगा है। मुझे देख, तेरी पढ़ाई के कारण ही तबाह हो गया। इतना देना हो गया।"

सुशील राधाचरण अपने मूर्ख चाचा की बात का उत्तर न देता था। नीची गर्दन करके वह सब कुछ सुन लेता था।

राधाचरण की मृत्यु से चाचा और चाची को बेशक बहुत दुःख हुआ, पर उस दुःख की तीव्र आग में जलते हुए भी रामप्रसाद ने राधाचरण के कारण कर्जदारी का जिक्र करने की प्रवृत्ति को बड़े यत्न से सुरक्षित रक्खा।

2

शोक-की प्रबल लहरों में बही जाने वाली रामप्रसाद दम्पत्ति ने अपने धेवते का सहारा पाकर बहुत कुछ शान्ति लाभ किया। भाद्रपद की वर्षा के बाद जिस तरह सूर्य और अधिक असह्य हो उठता है, उसी तरह शोक सागर में स्नान करके रामप्रसाद दम्पत्ति का कठोर हृदय और सख्त हो गया। अब वे बात-बात में कहते थे-"राधे हमें मार गया। वह हमारा भतीजा नहीं शत्रु था। हमें बरबाद करने आया था।"

पार्वती शोक-महानदी की जिस प्रबल लहर में बही जा रही थी, उसमें तिनके का भी सहारा नहीं था। वह थी और अनन्त शोक की लहरी थी। उसके भाद्रपद के तरुण सूर्य की प्रखर धूप उतापहीन थी-प्रकाशहीन थी। शरत्काल के लुभावने चन्द्रमा की चिकनी चाँदनी उसके लिये सिंह के सूर्य की धूप से भी कहीं अधिक प्रखर थी। उसके मन में शोक की प्रचण्ड अग्नि धू-धू जल रही थी। बाहर रामप्रसाद दम्पत्ति का कठोर व्यवहार उस अबला को बेदम किये देता था। शोक की अनन्त ज्वाला में, अनन्त विरह के प्रचण्ड अनल में, निराशा के घने अन्धकार में, उपेक्षा के दुर्गन्धिपूर्ण संसार में-सब कहीं-उसे परलोकगत पति का पूत और पवित्र मुख-पद्म दिखाई देता था, मानों वह उससे मौन भाषा में कहता था-"प्रिय पार्वती, धैर्य धारण करो, त्रितापदग्ध संसार में जब तक हो, जैसे बने, काल-यापन कर दो। स्वर्ग में मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मैं तुम्हें अवश्य मिलूँगा। क्योंकि तुम मेरी हो, और मैं तुम्हारा हूँ।"

पार्वती का छलनी की तरह छिदा हुआ हृदय शान्त हो जाता था। रामप्रसाद दम्पत्ति का कठोर व्यवहार उसके लिए सुकोमल हो जाता था। संसार भी उसकी दृष्टि में उतनी घृणा का पात्र नहीं रहता था। उस पर से उसकी विरक्ति की मात्रा कम हो जाती थी। संसार के अन्तरिक्ष में ही, इसी संसार के आकाश में ही, उसके परलोकवासी पति के प्रभावपूर्ण मुख का प्रतिबिम्ब मध्याकाश में न सही, हृदयाकाश में ही सही-दिखाई पड़ता था। इसलिये संसार उसके लिये उतना हेय नहीं रहता था। कुछ काम की चीज हो जाता था।

सास के कुलिशसम कठोर वाक्यों और उससे भी बढ़कर पुरुष-तर पार्थिव व्यवहारों को वह अनायास सह लेती थी। मृत्यु-शय्या पर पड़े पति के ज्योतिहीन नेत्रों का कातर भाव उसे कभी न भूलता था। उसके आखिरी शब्द-'प्रिय पार्वती'-आज भी उसके कानों में गूँज रहे थे। उस कातर भाव की शब्दहीन भाषा का मर्म भी उसने ठीक-ठीक समझ लिया था। चाचा-चाची का कठोर स्वभाव और पार्वती के पौसाल की शोचनीय अवस्था ही उस कातर भाव का प्रधान उपादान थी।

पार्वती हिन्दी-मिडिल पास थी। राधाचरण ने बड़े आग्रह से उसे अंग्रेजी भी पढ़ाई थी। उसका विचार था, कि वह उससे प्रवेशिका परीक्षा दिलायेगा। किन्तु उसकी अकाल मृत्यु ने, बहुत-सी अन्य बातों के साथ-साथ इस विचार को कार्य में परिणत न होने दिया।

पति की मृत्यु के बाद अभागिनी पार्वती को पुस्तक छूने का मौका ही न मिलता था। घर में उसकी कोई सत्ता ही न थी। सास राधाचरण की मृत्यु का कारण उसे ही समझती थी। पार्वती अन्न पीसती है, चौका बरतन साफ करती है, भोजन बनाती है। किन्तु फिर भी सास-ससुर की सहानुभूति का पात्र नहीं बनती। फिर भी उनके मुँह से कभी मीठी नहीं सुनती। सुनती है, कर्जदारी का कारण, अपने दुर्भाग्य की गाथा और कभी-कभी गूढ़ प्रेम के परदे में पति की निन्दा।

पार्वती को कुटिलता-पूर्ण संसार में सहानुभूति का चिन्ह कहीं दिखाई न देता था। उसके एक चचेरा भाई था। वह कहीं चपरासी था, पर था विवाहित। इसलिये गरीबी का मारा सन्तान की बहुतायत से मालामाल था।

अत्यन्त गर्मी पड़ने के बाद वर्षा होती है। बहुत तप चुकने पर घराधाम जल की अनन्त धाराओं में प्लावित हो जाता है। पार्वती ने भी निराशा के घोर अन्धकार में, सास-ससुर के कठोर व्यावहाररूप नरक में, उपेक्षा के समुद्र में, शोक के महासागर में ध्रुव तारे का दर्शन किया, उसे देखकर दिग्द्रष्टा पार्वती ने कर्त्तव्य-पथ का निश्चय कर लिया। सामने खड़ी आलमारी में भरी हुई, पुस्तकें उसे मानो अपनी-अपनी भाषा में सान्त्वना देने लगीं। वे कहने लगीं—"पार्वती, तू लिखी-पढ़ी है, हम तेरी साथिन हैं। दु:ख में, शोक में, संताप में सदा-सर्वदा हम तेरी साथिन हैं। हमें घृणा करनी नहीं आती, उपेक्षा करनी नहीं आती। हमसे भले कोई दिक हो जाये, हमें किसी से दिक नहीं होतीं।" पुस्तकों की विभिन्न, पर मौन, भाषा को उसने साफ-साफ समझा। उसके भग्न हृदय में शान्ति की अस्फुट किरण का उदय हुआ। आलमारी की चुनी हुई किताबों में उसने साक्षात् अभयदा सरस्वती के दर्शन किये। बहुत समय के बाद मानो माँ-सरस्वती के इशारे से ही उसने आलमारी में से पुस्तक निकाली। पुस्तक थी सुप्रसिद्ध ग्रन्थकार स्माइल्स साहब की 'आत्मावलम्बन'। चटाई पर बैठकर पार्वती उसे पढ़ने लगी।

पुस्तक के अभी दो-चार पृष्ठ ही पढ़े होंगे, कि रामप्रसाद की स्त्री वहाँ आ पहुँची। पार्वती को पुस्तक पढ़ते देखकर उसके शरीर में आग लग गई। उसने अपने अभ्यस्त अनेक कुवाक्यों का विष उगल कर अन्त में कहा—"पुस्तकें पढ़ कर ही तू राधे को चट कर गई। तू नार नहीं नागन हैं। भगवान्! भगवान्! मेरे घर में ऐसी डायन कहाँ से आ गई? वह था—तबाह कर गया। तू है—तबाह करने की फिक्र में है।"

हिरन के बच्चे पर शेरनी को गुर्राता देखकर जिस तरह उसका प्रणयी शेर भी गरजने लगता है, उसी तरह रामप्रसाद भी गरीब पार्वती पर टूट पड़ा। उसने भी स्वस्ति-वाचन के बाद कहा—"ठीक ही तो कहती है, यह नार नहीं नागन है। कहीं को मुँह काला भी तो नहीं करती। मैं ऐसी नागन को पालना नहीं चाहता। उसे खा गई, अब मुझे खायेगी क्या?"

इधर रामप्रसाद बक रहा था, उधर पार्वती के हृदय में अनेक तरंगे उठ रही थीं। उन्हीं तरंगों में उसने अपने पति राधाचरण के दर्शन किए। इस समय उसकी आँख में कातरता

के साथ-साथ दु:ख भी था, विषाद भी था और अभागिनी पार्वती के लिए थी–गहरी सहानुभूति। स्माइल्स साहब की आत्मा भी अबला पार्वती को पुस्तक के रूप में खूब बल प्रदान कर रही थी। पार्वती ने पुस्तक को बन्द कर दिया। पुस्तक के आवरण-पृष्ठ पर सोने के अक्षरों में छपे 'आत्मावलम्बन' के मनोहर शब्द पार्वती के अश्रुपूर्ण नेत्रों को अपनी ओर खींचने लगे।

3

दूसरे दिन प्रात:काल पार्वती ने बड़ी शान्ति से अपनी सास को समझा दिया कि वह कुछ दिनों के लिए अपने भाई के पास जाना चाहती है। आप उसे एक चिट्ठी लिखवा दीजिए।

सास को मनचाही बात हाथ लग गई। उसने उसी समय स्त्री-जन-सुलभ नमक-मिर्च लगाकर अपने पति रामप्रसाद से कह दिया। उन्होंने पहले तो 'हाँ हूँ' की। फिर धर्म और स्वभाव की साथिनी स्त्री के कहने-सुनने पर सुखदयाल को एक चिट्ठी लिख दी।

चार दिन बाद बहू चली जाएगी–इसलिए बहू के साथ अधिक कठोर व्यवहार न करना चाहिये, यह सोचकर रामप्रसाद दम्पत्ति का व्यवहार पार्वती के साथ अपेक्षाकृत अच्छा हो गया। घर के कामों के साथ अब उसे गालियों का बोझा वहन नहीं करना पड़ता। पर कर्जदारी के कारण का जिक्र यथानियम प्रतिदिन एक दो बार हो जाता।

राधाचरण को मरे अभी पूरा एक वर्ष भी नहीं हुआ था। इस थोड़े समय में ही घर की हर एक चीज पार्वती के लिए बिल्कुल बदल गई थी। घर के आदमियों के साथ घर के दरो-दीवार भी उसे काटने को दौड़ते थे। मूल्य समाप्त न होने के कारण अभी तक उसके नाम कुछ समाचार-पत्र आते थे। पार्वती समय मिलने पर उन्हें पढ़ लेती थी। आज के 'हितकारी' में उसने 'आवश्यकता' के स्तम्भ को गौर से पढ़ा।

तीसरे दिन जवाब आ गया कि शनैश्चर की रात को सुखदयाल बहन को लेने के लिए आवेगा। बृहस्पतिवार को पत्र मिला था। पार्वती को सिर्फ दो रोज़ का मिहमान समझकर, सास और ससुर का कठोर हृदय ओर ढीला पड़ गया। पार्वती की सेवा और उसके कभी न डिगने वाले शील में उन्हें अब बहुत कुछ भलाई दिखाई देने लगी। विच्छेद के विचार से निस्संदेह उनकी मानसिक कलुषता को बहुत कुछ दूर कर दिया।

काल भगवान् किसी की उपेक्षा नहीं करते। सूर्य के रथ का धूरा कभी नहीं टूटता। काल भगवान् के प्रधान सहचर सूर्यदेव सुखी-दुखी सभी को पीछे छोड़ते हुए रथ बढ़ाये चले ही जाते हैं। शनैश्चर की रात को सुखदयाल–दैन्य और दारिद्र की मूर्ति सुखदयाल–आ गया। बहन को गले लगा कर वह बहुत रोया। दूसरे दिन प्रात:काल की ट्रेन से वह पार्वती को लेकर अपने घर को रवाना हो गया।

पार्वती ने चलते समय सिर्फ अपने पति की पुस्तकों का एक ट्रंक अपने साथ लिया। बाकी न कोई जेवर और न दो धोतियों को छोड़कर कोई कपड़ा। भरा हुआ घर, जो

उसके लिये पहले ही खाली हो चुका था, उसने भी खाली कर दिया। चलते समय सास ने ऊपर मन से जल्द आने के लिए कहा और स्त्री-जन-सुलभ अश्रुवर्षण का परिहास भी दिखाया।

पार्वती ने निष्कपट मन से जिस समय सास के चरण छुए, उस समय गरम-गरम आँसुओं की कुछ बूँदों ने भी हरदेवी के चरण छूने में उसके साथ प्रतियोगिता की।

4

पार्वती के आने से सुखदयाल की गरीबी-पर पैतृक और इसीलिये पक्का घर स्वर्ग बन गया। उसके बालक, जो निर्धनता के कारण शिक्षा न पा सकते थे, बुआ पार्वती के आने से पढ़ने लगे। सुखदयाल की बड़ी लड़की शान्ति उससे हिन्दी-शिक्षा के साथ-साथ सिलाई का काम भी सीखने लगी। थोड़े ही दिनों में पार्वती और शान्ति को सूई के प्रताप से कुछ कम दो रुपये रोज की आमदनी होने लगी। पार्वती के कहने पर सुखदयाल एक अच्छी गाय भी खरीद लाया। अब उसके घर में सब कुछ था। विद्या थी, धन था और गोरस था। सुखदयाल की स्त्री चमेली पार्वती को अपनी समृद्धि का मूल कारण समझती थी। वह उसे साक्षात् देवी समझती थी। प्रातःकाल उठकर उसके चरण छूती थी। घर का हर काम उसकी आज्ञा लेकर करती थी।

एक वर्ष बीत गया। पार्वती हिन्दू-गर्ल्स-स्कूल में हिन्दी पढ़ाती है। इसी वर्ष उसने प्रवेशिका परीक्षा पास कर ली है। 50 रु. मासिक वेतन मिलता है। अब सुखदयाल के बालक, जो एक वर्ष पहले लावारिस और आवारा घूमते-फिरते थे, साफ कपड़े पहनकर भले बालकों की तरह बगल में पुस्तकें दबाये स्कूल जाते हैं। लड़की शान्ति भी पार्वती के साथ स्कूल में काम करती है। देवि-स्वरूपिणी बहन पार्वती की बदौलत भाई सुखदयाल ने भी चपरासगिरी के कर्कश हाथों से छुटकारा पाकर सौदागरी की दूकान खोल ली है।

सुखदयाल का घर भी अच्छा खासा बालिका-विद्यालय था। महल्ले भर की छोटी-बड़ी अनेक लड़कियाँ स्कूल से इतर समय में पढ़ने और सूई का काम सीखने आती थीं। विद्या-दान का द्वार सदा उन्मुक्त रहता था। पार्वती के परोपकार आदि सद्गुणों की प्रशंसा मुहल्ले से बढ़कर शहर-भर में फैल गई थी।

5

चार वर्ष और बीत गये। पार्वती ने प्राइवेट तौर पर पहली कक्षा में बी.ए. पास किया। रायपुर से कलेक्टर की पत्नी ने अपने हाथ से पार्वती की सफेद साड़ी पर प्रतिष्ठा-सूचक मेडल पहनाया। हिन्दू-गर्ल्स-स्कूल की प्रधान शिक्षयित्री (लेडी प्रिन्सिपल) के पद पर (जिसकी शोभा, उपयुक्त हिन्दू-पण्डिता के न मिलने कारण, अब तक क्रिश्चियन लेडियाँ बढ़ाती रहीं) पण्डिता पार्वती को आसीन किया गया। शहर-भर में पार्वती का

यशोगान होने लगा। वेतन भी एकदम 250 रु. हो गया।

रविवार का दिन था। स्कूल के बड़े कमरे में प्रबन्ध-कारिणी-समिति के सदस्यों की अन्तरंग सभा हो रही थी। मेम्बर सभी स्त्रियाँ थीं। राय बहादुर रामकिशोर की पत्नी, जो स्कूल की आनरेरी सेक्रेटरी थीं, प्रबन्ध सम्बन्धी अनेक विषय पेश कर रही थीं। रायबहादुर की पत्नी ने कहा–"अब मैं आज की बैठक का आखिरी विषय अर्थात् स्कूल के चपरासी के काम के लिये आई हुई दरखास्तें पेश करती हूँ। मेरी सम्मति में जिन लोगों की दरखास्तें हैं, उन्हें बिना देखे नौकर रखना ठीक न होगा। चपरासी बूढ़ा तो होगा ही, पर साथ-ही-साथ चिड़चिड़ा या जियादह कमजोर भी न होना चाहिए, और यह ऐसी बातें हैं, जो बिना देखे ठीक नहीं हो सकतीं। अब मैं इस विषय में आपकी या बाईजी की (मतलब था, प्रिन्सिपल पार्वती से) जैसी आज्ञा हो वैसा करुं?"

उपस्थित अन्य महिलाओं ने एक स्वर में कहा–"इस विषय में बाईजी की आज्ञानुसार ही काम होना चाहिये। क्योंकि बाईजी की आज्ञायें सहन करने और दरबानी के लिये ही चपरासी की नियुक्ति होगी।"

पार्वती ने अपने शान्त, पर प्रभापूर्ण मुख-कमल को खिलाते हुए कहा–"मैं रायबहादुर की पत्नी से सहमत हूँ। आदमी को देखकर ही रखना अच्छा होगा। मनुष्य के चेहरे से उसके गुण-दोषों का बहुत पता लग जाता है। उस दिन 'रैशनल थाट' में 'मिस्टर अरण्डल का, आपने सेक्रेटरी महोदया, इसी विषय पर एक लेख पढ़ा था?"

रायबहादुर की पत्नी ने कहा–"पढ़ा तो था, पर समझा था कम। आजकल आपका पूरा समय और शक्ति 'विधवा-आश्रम' की स्थापना में लग रहे हैं। इस तरह आप देश की बड़ी भारी सेवा कर रही हैं। आपका कुछ भी समय खाली होता, तो मैं आपसे अंग्रेजी साहित्य का थोड़ा बहुत अध्ययन करके अपनी इस कमी को पूरा करती। पर मेरे मूर्ख रह जाने से देश की विधवाओं की दुःखभरी शोचनीय अवस्था को सुधार देने वाले 'विधवा-आश्रम' की स्थापना कहीं बढ़कर आवश्यक और एकान्त कर्तव्य है।"

पार्वती ने मुस्कराते हुए कहा–"धन्यवाद! आपकी सहायता और ईश्वर की कृपा से ही यह काम पूरा हो सकेगा। आप सुनकर प्रसन्न होंगी कि हमारे प्रजा-प्रिय छोटे लाल महोदय ने हिमालय-पार्श्व के उस बड़े भूखण्ड को विधवा-आश्रम के लिये देने की कृपा की है। चन्दा भी कुछ कम एक लाख हो गया है। ईश्वर की कृपा हुई, तो अब यह कार्य शीघ्र ही पूर्ण हो जायेगा।"

रायबहादुर की पत्नी ने बड़े हर्ष से कहा–"अब काम के पूरा होने में कुछ सन्देह नहीं। जिस दिन आपने आश्रम के लिये अपना जीवन देने का महाप्रण किया था, हमें क्या, देश के सभी हितैषियों को, उसी दिन काम के पूरा होने का पक्का भरोसा हो गया था।"

पार्वती ने बड़ी सरलता से कहा–"बहन, धन्यवाद! हाँ, तुम्हारी अँगरेजी साहित्य पढ़ने की बात रह जाती है। उसके विषय में मेरा निवेदन है कि आप रायबहादुर साहब से पढ़ें। स्त्रियों के लिए पति से बढ़कर शिक्षक और कोई नहीं। लड़कियों को माता-पिता या

अन्य कोई शिक्षक पढ़ा सकता है। पर स्त्रियों का, या साहित्य की भाषा में प्रौढ़ाओं का, परम गुरु और शिक्षक पति ही है। आशा है आप मुझे इस वक्तव्य के लिये क्षमा करेंगी।"

रायबहादुर की पत्नी ने सौजन्य दिखाते हुए लेडी-प्रिंसिपल को धन्यवाद दिया और साथ ही सभा का कार्य भी समाप्त कर दिया।

6

कंगाल भारत की विभूति का कल्पित स्वप्न देखकर आज भी अनेक विदेशी चौंक उठते हैं। किन्तु जिन लोगों ने भारत के गाँव देखे हैं, एक-वस्त्र धारी कृश-काय अस्थि चर्मविशिष्ट भारत-गौरव किसानों को देखा है, वे भारत की विभूति को खूब समझते हैं।

गर्ल्स-स्कूल में आठ रुपये की चपरासीगीरी के लिए इतने आदमी आवेंगे किसी को ख्याल भी न था। अनेक बूढ़े आदमी पाँत बाँधे थे। रायबहादुर की पत्नी और सेकेण्ड मिस्ट्रेस सुशीला देवी ने उस भीड़ में से चार आदमियों को चुन लिया। इन्हीं में से एक को बड़ी बाईजी चुनेंगी। हिन्दू-गर्ल्स-स्कूल में परदे और सदाचार का विशेष ध्यान रखा जाता है। इसीलिए किसी नौकर की नियुक्ति के विषय में बहुत सावधानता से काम लेना पड़ता है। स्कूल-भर में चपरासी का काम ही बूढ़े मर्द के सुपुर्द था। बाकी सब कामों पर स्त्रियाँ ही नियुक्त थीं।

दस बजते-बजते लेडी-प्रिंसिपल की गाड़ी स्कूल के बरामदे में पहुँच गई। विभिन्न कक्षाओं की विभिन्न पंक्तियों में खड़ी बालिकाओं ने बड़ी श्रद्धा से प्रधानाध्यापिका को प्रणाम किया। गाड़ी से उतरकर वे सीधी ऑफिस में पहुंची। रायबहादुर की पत्नी वहाँ पहले से उपस्थित थीं। प्रिंसिपल के पहुँचने पर दासी ने बारी-बारी से उन चारों आदमियों को बुलाया।

पहले आदमी को देखते ही पार्वती के विस्मय का ठिकाना न रहा। वह बूढ़ा आदमी और कोई न था—अभागा रामप्रसाद था। उसे देखकर पण्डिता पार्वती के भावुक हृदय में क्षण भर के लिए लज्जा का उदय हुआ। किन्तु उसने तत्काल ही अपने को सँभाल लिया।

सौ मील की दूरी पर आठ रुपये की नौकरी के लिये वह क्यों आया है? मालूम होता है, उसकी मिलकियत और मकान चाटुकार पड़ोसी सूदखोरों की विशाल तोंद में जरूर समा गया। रामप्रसाद के मलिन और चिन्तित मुख को देख कर करुण-हृदय पार्वती का मन अन्तःस्थल तक हिल ग.या। उसने दूसरी तरफ को मुँह करके अनमने भाव से सन्देह निवारण के लिए पूछा—"आपका नाम?"

"रामप्रसाद पाण्डे।"

"मकान?"

"बिलासपुर।"

"इतनी दूर नौकरी के लिये क्यों आये?"

"माँ, पेट की खातिर!"

"घर पर खेती-बारी न थी?"

"माँ, सब कुछ था। खेती क्या, जमींदारी भी थी।"

"वह क्या हुई?"

"कर्ज में बिक गई।"

"कर्ज क्यों लिया था?"

"माँ, दुःख की बातें हैं। उन्हें भूल जाना ही अच्छा है।"

"फिर भी सुनाईये तो?"

"भतीजे की पढ़ाई के लिए।"

"और क्या?"

"और कुछ नहीं–"

"लड़की की शादी में फजूलखर्ची नहीं की थी?"

बूढ़े का चेहरा उतर गया। उसने पार्वती का चेहरा कभी न देखा था, और अब तो विद्या, मान और अधिकार की दीप्ति ने उसे बिल्कुल बदल दिया था। बूढ़ा मन-ही-मन बाईजी को देवी समझने लगा। रायबहादुर की पत्नी भी इन प्रश्नोत्तरी को एकाग्र मन से सुन रही थी।

"माँ, तुम देवी हो। सचमुच लड़की की शादी में ही बरबाद हुआ हूँ।"

"तो भतीजे की पढ़ाई में भी कुछ-न-कुछ रुपया कर्ज लेना ही पड़ा होगा?"

"माँ, सिर्फ डेढ़ सौ रुपये!"–कहते-कहते बूढ़े के कोटर लीघ नेत्रों में आँसू भर आये।

"अच्छा, आप बाहर बैठिये।"

बाकी तीन आदमियों में से एक आदमी को चुन लिया गया। बूढ़ा रामप्रसाद उसी समय लेडी-प्रिंसिपल के बँगले पर पहुँचाया गया।

आठ रुपये की नौकरी के लिये आए हुए रामप्रसाद को बँगले के नौकरों ने जब मालिक की तरह ठहराया गया देखा, तब उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ।

शाम को भोजनोपरान्त पार्वती ने कहा–"आप मुझे पहचानते हैं?"

"माँ, आप स्कूल की बड़ी बाई हैं।"

"मैं आप के भतीजे की अभागिनी स्त्री हूँ।"

बूढ़े की निद्रा टूट गई। उसे मूर्छा आने लगी, पार्वती की भतीजी शान्ति ने संभाल लिया।

पार्वती ने बहुत चाहा कि रामप्रसाद यहीं रहे। पर वह राजी न हुआ। आत्म-ग्लानि की तीव्र अग्नि से वह अन्दर-ही-अन्दर जल रहा था। चलते समय पार्वती ने कभी-कभी दर्शन देने का वचन ले लिया। फिर पार्वती ने एक-एक हजार के दो नोटों को लिफाफे में बन्द करके ससुर के हाथ में दिया और बड़ी नम्रता से कहा–"यह चिट्ठी माँ जी को दे दीजियेगा। और अब की बार उन्हें जरूर साथ लाइयेगा।" □

शरणागत

वृन्दावनलाल वर्मा
(जन्म : सन् 1889 ई.)

1

रज्जब कसाई अपना रोजगार करके ललितपुर लौट रहा था। साथ में स्त्री थी, और गाँठ में दो सौ-तीन सौ की बड़ी रकम। मार्ग बीहड़ था और सुनसान। ललितपुर काफी दूर था, बसेरा कहीं न कहीं लेना ही था; इसलिए उसने मड़पुरा नामक गाँव में ठहर जाने का निश्चय किया। उसकी पत्नी को बुखार हो आया था, रकम पास में थी, और बैलगाड़ी किराये पर करने में खर्च ज्यादा पड़ता, इसलिए रज्जब ने उस रात आराम कर लेना ही ठीक समझा।

परन्तु ठहरता कहाँ? जात छिपाने से काम नहीं चल सकता था। उसकी पत्नी नाक और कानों में चाँदी की बालियाँ डाले थी, और पैजामा पहने थी। इसके सिवा गाँव के बहुत से लोग उसको पहचानते भी थे, वह उस गाँव के बहुत-से कर्मण्य और अकर्मण्य ढोर खरीदकर ले जा चुका था।

अपने व्यवहारियों से उसने रात भर के बसेरे के लायक स्थान की याचना की। किसी ने भी मंजूर न किया। उन लोगों ने अपने ढोर रज्जब को अलग-अलग और लुके-छिपे बेचे थे। ठहरने में तुरन्त ही तरह-तरह की खबरें फैलतीं, इसलिए सबों ने इन्कार कर दिया।

गांव में एक गरीब ठाकुर रहता था। थोड़ी-सी जमीन थी, जिसको किसान जोते हुए थे। जिसका हल-बैल कुछ भी न था। लेकिन अपने किसानों से दो-तीन साल का पेशगी लगान वसूल कर लेने में ठाकुर को किसी विशेष बाधा का सामना नहीं करना पड़ता था। छोटा-सा मकान था, परन्तु उसको गाँव वाले गढ़ी के आदरव्यंजक शब्द से पुकारा करते थे, और ठाकुर को डर के मारे "राजा" शब्द सम्बोधन करते थे।

शामत का मारा रज्जब इसी ठाकुर के दरवाजे पर अपनी ज्वरग्रस्त पत्नी को लेकर पहुँचा। ठाकुर पौर में बैठा हुक्का पी रहा था। रज्जब ने बाहर से ही सलाम करके कहा···'दाऊजू,

एक बिनती है।'

ठाकुर ने बिना एक रत्ती-भर इधर-उधर हिले-डुले पूछा–"क्या?"

रज्जब बोला–"मैं दूर से आ रहा हूँ। बहुत थका हुआ हूँ। मेरी औरत को ज़ोर से बुखार आ गया है। जाड़े में बाहर रहने से न जाने इसकी क्या हालत हो जायेगी, इसलिए रात भर के लिए कहीं दो हाथ जगह दे दी जाये।"

"कौन लोग हो?" ठाकुर ने प्रश्न किया।

"हूँ तो कसाई।" रज्जब ने सीधा उत्तर दिया। चेहरे पर उसके बहुत गिड़गिड़ाहट थी।

ठाकुर की बड़ी-बड़ी आँखों में कठोरता छा गई। बोला–"जानता है, यह किसका घर है? यहाँ तक आने की हिम्मत कैसे की तूने?"

रज्जब ने आशा-भरे स्वर में कहा–"यह राजा का घर है, इसलिए शरण में आया हुआ हूँ।"

तुरन्त ठाकुर की आँखों की कठोरता गायब हो गई। ज़रा नरम स्वर में बोला–"किसी ने तुमको बसेरा नहीं दिया?"

"नहीं महाराज", रज्जब ने उत्तर दिया–"बहुत कोशिश की, परन्तु मेरे खोटे पेशे के कारण कोई सीधा नहीं हुआ।" और वह दरवाजे के बाहर ही एक कोने से चिपटकर बैठ गया। पीछे उसकी पत्नी कराहती, काँपती हुई गठरी सी बनकर सिमट गई!

ठाकुर ने कहा–"तुम अपनी चिलम लिये हो?"

"हाँ, सरकार!" रज्जब ने उत्तर दिया।

ठाकुर बोला–"तब भीतर आ जाओ, और तमाखू अपनी चिलम से पी लो। अपनी औरत को भीतर कर लो। हमारी पौर के एक कोने में पड़े रहना।"

जब वे दोनों भीतर आ गये, तो ठाकुर ने पूछा–"तुम कब यहाँ से उठ कर चले जाओगे?" जवाब मिला–"अँधेरे में ही महाराज! खाने के लिए रोटियाँ बाँधे हूँ, इसलिए पकाने की जरूरत न पड़ेगी।"

"तुम्हारा नाम?"

"रज्जब!"

2

थोड़ी देर बाद ठाकुर ने रज्जब से पूछा–"कहाँ से आ रहे हो?" रज्जब ने स्थान का नाम बतलाया।

"वहाँ किसलिए गये थे?"

"अपने रोजगार के लिए।"

"काम तुम्हारा बहुत बुरा है।"

"क्या करूँ, पेट के लिए करना ही पड़ता है। परमात्मा ने जिसके लिए जो रोज़गार नियत किया है, वही उसको करना पड़ता है।"

"क्या नफा हुआ?" प्रश्न करने में ठाकुर को जरा संकोच हुआ, और प्रश्न का उत्तर देने में रज्जब को उससे बढ़कर।

रज्जब ने जवाब दिया—"महाराज, पेट के लायक कुछ मिल गया है। यों ही।" ठाकुर ने इस पर कोई ज़िद नहीं की।

रज्जब एक क्षण बाद बोला—"बड़े भोर उठकर चला जाऊँगा। तब तक घर के लोगों की तबीयत भी अच्छी हो जायेगी।"

इसके बाद दिन भर के थके हुए पति-पत्नी सो गये। काफी रात गये कुछ लोगों ने एक बँधे इशारे से ठाकुर को बाहर बुलाया। एक फटी-सी रजाई ओढ़े ठाकुर बाहर निकल आया।

आगन्तुकों में से एक ने धीरे से कहा—"दाऊजू, आज तो खाली हाथ लौटे हैं। कल सन्ध्या का सगुन बैठा है।"

ठाकुर ने कहा—"आज जरूरत थी। खैर, कल देखा जायेगा। क्या कोई उपाय किया था?"

"हाँ", आगन्तुक बोला—"एक कसाई रुपये की मोट बाँधे इसी ओर आया है। परन्तु हम लोग जरा देर में पहुँचे। वह खिसक गया। कल देखेंगे। जरा जल्दी।"

ठाकुर ने घृणा-सूचक स्वर में कहा—"कसाई का पैसा न छुएँगे।"

"क्यों?"

"बुरी कमाई है।"

"उसके रुपयों पर कसाई थोड़े ही लिखा है।"

"परन्तु उसके व्यवसाय से वह रुपया दूषित हो गया है।"

"रुपया तो दूसरों का ही है। कसाई के हाथ आने से रुपया कसाई नहीं हुआ।"

"मेरा मन नहीं मानता, वह अशुद्ध है।"

"हम अपनी तलवार से उसको शुद्ध कर लेंगे।"

ज्यादा बहस नहीं हुई। ठाकुर ने सोचकर अपने साथियों को बाहर का बाहर ही टाल दिया।

भीतर देखा। कसाई सो रहा था, और उसकी पत्नी भी।

ठाकुर भी सो गया।

3

सबेरा हो गया, परन्तु रज्जब न जा सका। उसकी पत्नी का बुखार तो हल्का हो गया था, परन्तु शरीर भर में पीड़ा थी, और वह एक कदम भी नहीं चल सकती थी।

ठाकुर उसे वहीं ठहरा हुआ देखकर कुपित हो गया। रज्जब से बोला—"मैंने खूब मेहमान इकट्ठे किए हैं। गाँव भर थोड़ी देर में तुम लोगों को मेरी पौर में टिका हुआ देखकर तरह-तरह की बकवास करेगा। तुम बाहर जाओ। इसी समय।"

रज्जब ने बहुत विनती की, परन्तु ठाकुर न माना। यद्यपि गाँव-भर उसके दबदबे को मानता था, परन्तु अव्यक्त लोकमत का दबदबा उसके भी मन पर था। इसलिए रज्जब गाँव के बाहर सपत्नीक, एक पेड़ के नीचे जा बैठा, और हिन्दू मात्र को मन-ही-मन कोसने लगा।

उसे आशा थी कि पहर आध-पहर में उसकी पत्नी की तबीयत इतनी स्वस्थ हो जायेगी कि वह पैदल यात्रा कर सकेगी। परन्तु ऐसा न हुआ, तब उसने एक गाड़ी किराये पर कर लेने का निर्णय किया।

मुश्किल से एक चमार काफी किराया लेकर ललितपुर गाड़ी ले जाने के लिए राजी हुआ। इतने में दोपहर हो गई! उसकी पत्नी को जोर का बुखार हो आया। वह जाड़े के मारे थर-थर काँप रही थी, इतनी कि रज्जब की हिम्मत उसी समय ले जाने की न पड़ी। गाड़ी में अधिक हवा लगने के भय से रज्जब ने उस समय तक के लिए यात्रा को स्थगित कर दिया, जब तक कि उस बेचारी की कम से कम कँपकँपी बन्द न हो जाये।

घण्टे-डेढ़ घन्टे बाद उसकी कँपकँपी तो बन्द हो गई, परन्तु ज्वर बहुत तेज हो गया। रज्जब ने अपनी पत्नी को गाड़ी में डाल दिया और गाड़ीवान से जल्दी चलने को कहा।

गाड़ीवान बोला—"दिन भर तो यहीं लगा दिया। अब जल्दी चलने को कहते हो!"

रज्जब ने मिठास के स्वर में उससे फिर जल्दी करने के लिए कहा।

वह बोला—"इतने किराये में काम नहीं चलेगा, अपना रुपया वापस लो। मैं तो घर जाता हूँ।"

रज्जब ने दाँत पीसे। कुछ क्षण चुप रहा। सचेत होकर कहने लगा—"भाई, आफत सबके ऊपर आती है। मनुष्य-मनुष्य को सहारा देता है, जानवर तो देते नहीं। तुम्हारे भी बाल-बच्चे हैं। कुछ दया के साथ काम लो।"

कसाई को दया पर व्याख्यान देते सुनकर गाड़ीवान को हँसी आ गई।

उसको टस से मस न होता देखकर रज्जब ने और पैसे दिये। तब उसने गाड़ी हाँकी।

पाँच-छः मील चलने के बाद संध्या हो गई। गाँव कोई पास में न था। रज्जब की गाड़ी धीरे-धीरे चली जा रही थी। उसकी पत्नी बुखार में बेहोश-सी थी। रज्जब ने अपनी कमर टटोली, रकम सुरक्षित बँधी पड़ी थी।

रज्जब को स्मरण हो आया कि पत्नी के बुखार के कारण अंटी का कुछ बोझ कम कर देना पड़ा है—और स्मरण हो आया गाड़ीवान का वह हठ, जिसके कारण उसको कुछ पैसे व्यर्थ ही दे देने पड़े थे। उसको गाड़ीवान पर क्रोध था, परन्तु उसको प्रकट करने की उस समय उसके मन में इच्छा न थी।

बातचीत करके रास्ता काटने की कामना से उसने वार्तालाप आरम्भ किया—

"गाँव तो यहाँ से दूर मिलेगा।"

"बहुत दूर, वहीं ठहरेंगे।"

"किसके यहाँ?"

"किसी के यहाँ नहीं। पेड़ के नीचे। कल सबेरे ललितपुर चलेंगे।"

"कल को फिर पैसा माँग उठना।"

"कैसे माँग उठूँगा? किराया ले चुका हूँ। अब फिर कैसे मांगूगा?"

"जैसे आज गाँव में हठ करके माँगा था। बेटा, ललितपुर होता, तो बतला देता!"

"क्या बतला देते? क्या संत-मेंत गाड़ी में बैठना चाहते थे?"

"क्यों बे, क्या रुपये देकर भी संत-मेंत का बैठाना कहाता है? जानता है, मेरा नाम रज्जब है। अगर बीच में गड़बड़ करेगा, तो नालायक को यहीं छुरे से काटकर कहीं फेंक दूँगा और गाड़ी लेकर ललितपुर चल दूँगा।"

रज्जब क्रोध को प्रकट नहीं करना चाहता था, परन्तु शायद अकारण ही वह भली-भाँति प्रकट हो गया।

गाड़ीवान ने इधर-उधर देखा। अँधेरा हो गया था। चारों ओर सुनसान था। आसपास झाड़ी खड़ी थी। ऐसा जान पड़ता था, कहीं से कोई अब निकला और अब निकला। रज्जब की बात सुनकर उसकी हड्डी काँप गई। ऐसा जान पड़ा, मानों पसलियों को उसकी ठण्डी छुरी छू रही हो।

गाड़ीवान चुपचाप बैलों को हाँकने लगा। उसने सोचा—गाँवों के आते ही गाड़ी छोड़कर नीचे खड़ा हो जाऊँगा, और हल्ला-गुल्ला करके गाँव वालों की मदद से अपना पीछा रज्जब से छुड़ाऊँगा। रुपये-पैसे भले ही वापस कर दूँगा, परन्तु और आगे न जाऊँगा। कहीं सचमुच मार्ग में मार डाले!

गाड़ी थोड़ी दूर और चली होगी कि बैल ठिठककर खड़े हो गये। रज्जब सामने न देख रहा था, इसलिए जरा कड़ककर गाड़ीवान से बोला—"क्यों बे बदमाश, सो गया क्या?"

अधिक कड़क के साथ सामने रास्ते पर खड़ी हुई एक टुकड़ी में से किसी के कठोर कण्ठ से निकला··· "खबरदार, जो आगे बढ़ा।"

रज्जब ने सामने देखा कि चार-पाँच आदमी बड़े-बड़े लठ बाँधकर न जाने कहाँ से आ गये हैं। उनमें तुरन्त ही एक ने बैलों की जुआरी पर एक लठ पटका और दो बायें-दायें आकर रज्जब पर आक्रमण करने को तैयार हो गये।

गाड़ीवान गाड़ी छोड़कर नीचे जा खड़ा हुआ। बोला··· "मालिक, मैं तो गाड़ीवान हूँ। मुझसे कोई सरोकार नहीं।"

"यह कौन है?" एक ने गरजकर पूछा।

गाड़ीवान की घिग्घी बँध गई। कोई उत्तर न दे सका।

रज्जब ने कमर की गाँठ को एक हाथ से सँभालते हुए बहुत ही नम्र स्वर में कहा—"मैं बहुत गरीब आदमी हूँ। मेरे पास कुछ नहीं है। मेरी औरत गाड़ी में बीमार पड़ी है। मुझे जाने दीजिए।"

उन लोगों में से एक ने रज्जब के सिर पर लाठी उबारी। गाड़ीवान खिसकना चाहता था कि दूसरे ने उसको पकड़ लिया।

अब उसका मुँह खुला। बोला–"महाराज, मुझको छोड़ दो। मैं तो किराये से गाड़ी लिये जा रहा हूँ। गाँठ में खाने के लिए तीन-चार आने पैसे ही हैं।"

"और यह कौन है? बतला।" उन लोगों में से एक ने पूछा।

गाड़ीवान ने तुरन्त उत्तर दिया–"ललितपुर का एक कसाई।"

रज्जब के सिर पर जो लाठी उबारी गई थी, वह वहीं रह गई। लाठीवाले के मुँह से निकला–"तुम कसाई हो? सच बताओ!"

"हाँ, महाराज!" रज्जब ने सहसा उत्तर दिया–"मैं बहुत गरीब हूँ। हाथ जोड़ता हूँ मुझको मत सताओ। मेरी औरत बहुत बीमार है।"

औरत जोर से कराही

लाठीवाले उस आदमी ने अपने एक साथी से कान में कहा–"इसका नाम रज्जब है। छोड़ो। चलें यहां से।"

उसने न माना। बोला–"इसका खोपड़ा चकनाचूर करो दाऊजू, यदि वैसे न माने तो। असाई-कसाई हम कुछ नहीं मानते।"

"छोड़ना ही पड़ेगा," उसने कहा–"इस पर हाथ नहीं पसारेंगे और न इसका पैसा छुएंगे।"

दूसरा बोला–"क्या कसाई होने के डर से दाऊजू, आज तुम्हारी बुद्धि पर पत्थर पड़ गये हैं। मैं देखता हूँ!" और उसने तुरन्त लाठी का एक सिरा रज्जब की छाती में अड़ाकर तुरन्त रुपया-पैसा निकाल देने का हुक्म दिया। नीचे खड़े उस व्यक्ति ने जरा तीव्र स्वर में कहा–"नीचे उतर आओ। उससे मत बोलो। उसकी औरत बीमार है।"

"हो, मेरी बला से", गाड़ी में चढ़े हुए लठैत ने उत्तर दिया–"मैं कंसाइयों की दवा हूँ।" और उसने रज्जब को फिर धमकी दी।

नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने कहा–"खबरदार, जो उसे छुआ। नीचे उतरो, नहीं तो तुम्हारा सिर चकनाचूर किए देता हूँ। वह मेरी शरण आया था।"

गाड़ीवाला लठैत झख-सी मारकर नीचे उतर आया।

नीचेवाले व्यक्ति ने कहा–"सब लोग अपने-अपने घर जाओ। राहगीरों को तंग मत करो।" फिर गाड़ीवान से बोला–"जा रे, हाँक ले जा गाड़ी। ठिकाने तक पहुँचा आना, तब लौटना, नहीं तो अपनी खैर मत समझियो। और, तुम दोनों में से किसी ने भी कभी इस बात की चर्चा कहीं की, तो भूसी की आग में जलाकर खाक कर दूंगा।"

गाड़ीवान गाड़ी लेकर बढ़ गया। उन लोगों में से जिस आदमी ने गाड़ी पर चढ़कर रज्जब के सिर पर लाठी तानी थी, उसने क्षुब्ध स्वर में कहा–"दाऊजू, आगे से कभी आपके साथ न आऊँगा।"

दाऊजू ने कहा–"न आना। मैं अकेले ही बहुत कर गुजरता हूँ। परन्तु बुन्देला शरणागत के साथ घात नहीं करता, इस बात को गाँठ बाँध लेना।" □

आकाशदीप

जयशंकर प्रसाद
(जन्म : सन् 1889 ई.)

"बंदी!"
"क्या है? सोने दो।"
"मुक्त होना चाहते हो?"
"अभी नहीं, निद्रा खुलने पर, चुप रहो।"
"फिर अवसर न मिलेगा।"
"बड़ा शीत है, कहीं से एक कंबल डालकर कोई शीत से मुक्त करता।"
"आँधी की संभावना है। यही अवसर है। आज मेरे बंधन शिथिल हैं।"
"तो क्या तुम भी बंदी हो?"
"हाँ, धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी हैं।"
"शस्त्र मिलेगा?"
"मिल जाएगा। पोत से संबद्ध रज्जु काट सकोगे?"
"हाँ।"

समुद्र में हिलोरें उठने लगीं। दोनों बंदी आपस में टकराने लगे। पहले बंदी ने अपने को स्वतंत्र कर लिया। दूसरे का बंधन खोलने का प्रयत्न करने लगा। लहरों के धक्के एक-दूसरे को स्पर्श से पुलकित कर रहे थे। मुक्ति की आशा-स्नेह का असंभावित आलिंगन। दोनों ही अंधकार में मुक्त हो गए। दूसरे बंदी ने हर्षातिरेक से उसको गले लगा लिया। सहसा उस बंदी ने कहा-"यह क्या? तुम स्त्री हो?"

"क्या स्त्री होना कोई पाप है?"-अपने को अलग करते हुए स्त्री ने कहा।
"शस्त्र कहाँ है-तुम्हारा नाम?"
"चंपा।"

तारक-खचित नील अंबर और समुद्र के अवकाश में पवन ऊधम मचा रहा था। अंधकार से मिलकर पवन दुष्ट हो रहा था। समुद्र में आंदोलन था। नौका लहरों में विकल

थी। स्त्री सतर्कता से लुढ़कने लगी। एक मतवाले नाविक के शरीर से टकराती हुई सावधानी से उसका कृपाण निकालकर, फिर लुढ़कते हुए, बंदी के समीप पहुँच गई। सहसा पोत से पथ-प्रदर्शक ने चिल्लाकर कहा–"आँधी!"

आपत्ति-सूचक तूर्य बजने लगा। सब सावधान होने लगे। बंदी युवक उसी तरह पड़ा रहा। किसी ने रस्सी पकड़ी, कोई पाल खोल रहा था। पर युवक बंदी ढुलककर उस रज्जु के पास पहुँचा, जो पोत से संलग्न थी। तारे ढँक गए। तरंगे उद्वेलित हुईं, समुद्र गरजने लगा। भीषण आँधी, पिशाचिनी के समान नाव को अपने हाथों में लेकर कंदुक-क्रीड़ा और अट्टहास करने लगी।

एक झटके के साथ ही नाव स्वतंत्र थी। उस संकट में भी दोनों बंदी खिलखिलाकर हँस पड़े। आँधी के हाहाकार में उसे कोई न सुन सका।

अनंत जलनिधि में उषा का मधुर आलोक फूट उठा। सुनहली किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्कराने लगी। सागर शांत था। नाविकों ने देखा, पोत का पता नहीं। बंदी मुक्त हैं।

नायक ने कहा–"बुधगुप्त! तुमको मुक्त किसने किया?"

कृपाण दिखाकर बुधगुप्त ने कहा–"इसने।"

नायक ने कहा–"तो तुम्हें फिर बंदी बनाऊँगा।"

"किसके लिए? पोताध्यक्ष मणिभद्र अतल जल में होगा–नायक! अब इस नौका का स्वामी मैं हूँ।"

"तुम? जलदस्यु बुधगुप्त? कदापि नहीं।" –चौंककर नायक ने कहा और अपना कृपाण टटोलने लगा! चंपा ने इसके पहले उस पर अधिकार कर लिया था। वह क्रोध से उछल पड़ा।

"तो तुम द्वंद्वयुद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाओ; जो विजयी होगा, वह स्वामी होगा।" –इतना कहकर बुधगुप्त ने कृपाण देने का संकेत किया। चंपा ने कृपाण नायक के हाथ में दे दिया।

भीषण घात-प्रतिघात आरंभ हुआ। दोनों कुशल, दोनों त्वरित गतिवाले थे। बड़ी निपुणता से बुधगुप्त ने अपना कृपाण दाँतों से पकड़कर अपने दोनों हाथ स्वतंत्र कर लिए। चंपा भय और विस्मय से देखने लगी। नाविक प्रसन्न हो गए। परंतु बुधगुप्त ने लाघव से नायक का कृपाणवाला हाथ पकड़ लिया और विकट हुंकार से दूसरा हाथ कटि में डाल उसे गिरा दिया। दूसरे ही क्षण प्रभात की किरणों में बुधगुप्त का विजयी कृपाण उसके हाथों में चमक उठा। नायक की कातर आँखें प्राण-भिक्षा माँगने लगीं।

बुधगुप्त ने कहा–"बोलो, अब स्वीकार है कि नहीं?"

"मैं अनुचर हूँ, वरुणदेव की शपथ। मैं विश्वासघात नहीं करूँगा।" बुधगुप्त ने उसे छोड़ दिया।

चंपा ने युवक जलदस्यु के समीप आकर उसके क्षतों को अपनी स्निग्ध दृष्टि और कोमल करों से वेदना-विहीन कर दिया। बुधगुप्त के सुगठित शरीर पर रक्त-बिंदु विजय-तिलक कर रहे थे।

विश्राम लेकर बुधगुप्त ने पूछा, "हम लोग कहाँ होंगे?"

"बालीद्वीप से बहुत दूर, संभवतः एक नवीन द्वीप के पास, जिसमें अभी हम लोगों का बहुत कम आना-जाना होता है। सिंहल के वणिकों का वहाँ प्राधान्य है।"

"कितने दिनों में हम लोग वहाँ पहुँचेंगे?"

"अनुकूल पवन मिलने पर दो दिन में। तब तक के लिए खाद्य का अभाव न होगा।"

सहसा नायक ने नाविकों को डाँड़ लगाने की आज्ञा दी, और स्वयं पतवार पकड़कर बैठ गया। बुधगुप्त के पूछने पर उसने कहा–"यहाँ एक जलमग्न शैलखंड है। सावधान न रहने से नाव टकराने का भय है।"

"तुम्हें इन लोगों ने बंदी क्यों बनाया?"

"वणिक् मणिभद्र की पाप-वासना ने।"

"तुम्हारा घर कहाँ है?"

"जाह्नवी के तट पर। चंपा-नगरी की एक क्षत्रिय बालिका हूँ। पिता इसी मणिभद्र के यहाँ प्रहरी का काम करते थे। माता का देहावसान हो जाने पर मैं भी पिता के साथ नाव पर ही रहने लगी। आठ बरस से समुद्र ही मेरा घर है। तुम्हारे आक्रमण के समय मेरे पिता ने ही सात दस्युओं को मारकर जल-समाधि ली। एक मास हुआ, मैं इस नील नभ के नीचे, नील जलनिधि के ऊपर, एक भयानक अनंतता में निस्सहाय हूँ–अनाथ हूँ। मणिभद्र ने मुझसे एक दिन घृणित प्रस्ताव किया। मैंने उसे गालियाँ सुनाईं। उसी दिन से बंदी बना दी गई।" चंपा रोष से जल रही थी।

"मैं भी ताम्रलिप्ति का एक क्षत्रिय हूँ, चंपा! परंतु दुर्भाग्य से जलदस्यु बनकर जीवन बिताता हूँ। अब तुम क्या करोगी?"

"मैं अपने अदृष्ट को अनिर्दिष्ट ही रहने दूँगी। वह जहाँ ले जाए।" –चंपा की आँखें निस्सीम प्रदेश में निरुद्देश्य थीं। किसी आकांक्षा के लाल डोरे न थे। धवल अपांगों में बालकों के सदृश विश्वास था। हत्या-व्यवसायी दस्यु भी उसे देखकर काँप गया। उसके मन में एक संभ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी। समुद्र-वृक्ष पर विलंबमयी राग-रंजित संध्या थिरकने लगी। चंपा के असंयत कुंतल उसकी पीठ पर बिखरे थे। दुर्दांत दस्यु ने देखा, अपनी महिमा में अलौकिक एक तरुण बालिका! वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा। उसे एक नई वस्तु का पता चला। वह थी–कोमलता!

उसी समय नायक ने कहा–"हम लोग द्वीप के पास पहुँच गए।"

बेला से नाव टकराई। चंपा निर्भीकता से कूद पड़ी। माँझी भी उतरे। बुधगुप्त ने

कहा–"जब इसका कोई नाम नहीं है, तो हम लोग इसे चंपा-द्वीप कहेंगे।"

चंपा हँस पड़ी।

पाँच बरस बाद–

शरद के धवल नक्षत्र नील गगन में झलमला रहे थे। चंद्र की उज्ज्वल विजय पर अंतरिक्ष में शरदलक्ष्मी ने आशीर्वाद के फूलों और खीलों को बिखेर दिया।

चंपा के एक उच्चसौध पर बैठी हुई तरुणी चंपा दीपक जला रही थी। बड़े यत्न से अभ्रक की मंजूषा में दीप धर कर उसने अपनी सुकुमार उँगलियों से डोरी खींची। वह दीपाधार ऊपर चढ़ने लगा। भोली-भोली आँखें उसे ऊपर चढ़ते बड़े हर्ष से देख रही थीं। डोरी धीरे-धीरे खींची गई। चंपा की कामना थी कि उसका आकाशदीप नक्षत्रों से हिलमिल जाए; किंतु वैसा होना असंभव था। उसने आशाभरी आँखें फिरा लीं।

सामने जल-राशि का रजत श्रृंगार था। वरुण बालिकाओं के लिए लहरों से हीरे और नीलम की क्रीड़ा शैल-मालाएँ बन रही थीं–और वे मायाविनी छलनाएँ–अपनी हँसी का कलनाद छोड़कर छिप जाती थीं। दूर-दूर से धीवरों का वंशी-झनकार उनके संगीत-सा मुखरित होता था। चंपा ने देखा कि तरल संकुल जलराशि में उसके कंडील का प्रतिबिम्ब अस्त-व्यस्त था। वह अपनी पूर्णता के लिए सैकड़ों चक्कर काटता था। वह अनमनी होकर उठ खड़ी हुई। किसी को पास न देखकर पुकारा–"जया!"

एक श्यामा युवती सामने आकर खड़ी हुई। वह जंगली थी। नील नभोमंडल-से मुख में शुद्ध नक्षत्रों की पंक्ति के समान उसके दाँत हँसते ही रहते। वह चंपा को रानी कहती, बुधगुप्त की आज्ञा थी।

"महानाविक कब तक आवेंगे, बाहर पूछो तो।" चंपा ने कहा। जया चली गई।

दूरागत पवन चंपा के अंचल में विश्राम लेना चाहता था। उसके हृदय में गुदगुदी हो रही थी। आज न जाने क्यों वह बेसुध थी। एक दीर्घकाय दृढ़ पुरुष ने उसकी पीठ पर हाथ रख चमत्कृत कर दिया। उसने फिर कर कहा–"बुधगुप्त!"

"बावली हो क्या? यहाँ बैठी हुई अभी तक दीप जला रही हो, तुम्हें यह काम करना है?"

"क्षीरनिधिशायी अनंत की प्रसन्नता के लिए क्या दासियों से आकाशदीप जलवाऊँ?"

"हँसी आती है। तुम किसको दीप जलाकर पथ दिखलाना चाहती हो? उसको, जिसको तुमने भगवान् मान लिया है?"

"हाँ, वह भी कभी भटकते हैं, भूलते हैं; नहीं तो, बुधगुप्त को इतना ऐश्वर्य क्यों देते?"

"तो बुरा क्या हुआ, इस द्वीप की अधीश्वरी चंपारानी!"

"मुझे इस बंदीगृह से मुक्त करो। अब तो बाली, जावा और सुमात्रा का वाणिज्य केवल तुम्हारे ही अधिकार में है महानाविक! परंतु मुझे उन दिनों की स्मृति सुहावनी लगती है, जब तुम्हारे पास एक ही नाव थी और चंपा के उपकूल में पण्य लाद कर

हम लोग सुखी जीवन बिताते थे–इस जल में अगणित बार हम लोगों की तरी आलोकमय प्रभात में तारिकाओं की मधुर ज्योति में–थिरकती थी। बुधगुप्त! उस विजन अनंत में जब माँझी सो जाते थे, दीपक बुझ जाते थे, हम-तुम परिश्रम से थककर पालों में शरीर लपेटकर एक-दूसरे का मुँह क्यों देखते थे? वह नक्षत्रों की मधुर छाया···"

"तो चंपा! अब उससे भी अच्छे ढंग से हम लोग विचर सकते हैं। तुम मेरी प्राणदात्री हो, मेरी सर्वस्व हो।"

"नहीं-नहीं, तुमने दस्युवृत्ति छोड़ दी परंतु हृदय वैसा ही अकरुण, सतृष्ण और ज्वलनशील है। तुम भगवान् के नाम पर हँसी उड़ाते हो। मेरे आकाशदीप पर व्यंग कर रहे हो। नाविक! उस प्रचंड आँधी में प्रकाश की एक-एक किरण के लिए हम लोग कितने व्याकुल थे। मुझे स्मरण है, जब मैं छोटी थी, मेरे पिता नौकरी पर समुद्र में जाते थे–मेरी माता, मिट्टी का दीपक बाँस की पिटारी में भागीरथी के तट पर बाँस के साथ ऊँचें टाँग देती थी। उस समय वह प्रार्थना करती–'भगवान्! मेरे पथ-भ्रष्ट नाविक को अंधकार में ठीक पथ पर ले चलना।' और जब मेरे पिता बरसों पर लौटते तो कहते–'साध्वी! तेरी प्रार्थना से भगवान् ने संकटों में मेरी रक्षा की है।' वह गदगद् हो जाती। मेरी माँ? आह नाविक! यह उसी की पुण्य-स्मृति है। मेरे पिता, वीर पिता की मृत्यु के निष्ठुर कारण, जल-दस्यु! हट जाओ।" –सहसा चंपा का मुख क्रोध से भीषण होकर रंग बदलने लगा। महानाविक ने कभी यह रूप न देखा था। वह ठठाकर हँस पड़ा।

"यह क्या, चंपा? तुम अस्वस्थ हो जाओगी, सो रहो।" –कहता हुआ चला गया। चंपा मुट्ठी बाँधे उन्मादिनी-सी घूमती रही।

निर्जन समुद्र के उपकूल में वेला से टकराकर लहरें बिखर जाती थीं। पश्चिम का पथिक थक गया था। उसका मुख पीला पड़ गया। अपनी शांत गंभीर हलचल में जलनिधि विचार में निमग्न था। वह जैसे प्रकाश की उन्मलिन किरणों से विरक्त था।

चंपा और जया धीरे-धीरे उस तट पर आकर खड़ी हो गईं। तरंग से उठते हुए पवन ने उनके वसन को अस्त-व्यस्त कर दिया। जया के संकेत से एक छोटी-सी नौका आई। दोनों के उस पर बैठते ही नाविक उतर गया। जया नाव खेने लगी। चंपा मुग्ध-सी समुद्र के उदास वातावरण में अपने को मिश्रित कर देना चाहती थी।

"इतना जल! इतनी शीतलता! हृदय की प्यास न बुझी। पी सकूँगी? नहीं! तो जैसे वेला में चोट खाकर सिंधु चिल्ला उठता है, उसी के समान रोदन करूँ? या जलते हुए स्वर्ण गोलक सदृश अनंत जल में डूबकर बुझ जाऊँ?"–चंपा के देखते-देखते पीड़ा और ज्वलन से आरक्त बिंब धीरे-धीरे सिंधु में चौथाई-आधा, फिर संपूर्ण विलीन हो गया। एक दीर्घ निश्वास लेकर चंपा ने मुँह फेर लिया। देखा, तो महानाविक का बजरा उसके पास है। बुधगुप्त ने झुककर हाथ बढ़ाया। चंपा उसके सहारे बजरे पर चढ़ गई। दोनों पास-पास बैठ गए।

"इतनी छोटी नाव पर इधर घूमना ठीक नहीं। पास ही वह जलमग्न शैलखंड है। कहीं नाव टकरा जाती या ऊपर चढ़ जाती, चंपा तो?"

"अच्छा होता, बुधगुप्त! जल में बंदी होना कठोर प्राचीरों से तो अच्छा है।"

"आह चंपा, तुम कितनी निर्दयी हो! बुधगुप्त को आज्ञा देकर देखो तो, वह क्या नहीं कर सकता। जो तुम्हारे लिए नए द्वीप की सृष्टि कर सकता है, नई प्रजा खोज सकता है, नए राज्य बना सकता है, उसकी परीक्षा लेकर देखो तो ··· । कहो, चंपा! वह कृपाण से अपना हृदय-पिंड निकाल अपने हाथों अतल जल में विसर्जन कर दे।" –महानाविक –जिसके नाम से बाली, जावा और चंपा का आकश गूँजता था, पवन थर्राता था–घुटनों के बल चंपा के सामने छलछलाई आँखों से बैठा था।

सामने शैलमाला की चोटी पर हरियाली में विस्तृत जल-देश में, नील पिंगल संध्या, प्रकृति की सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्नलोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्यपूर्ण नीलजाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अंतरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील कमलों में भर उठी। उस सौरभ से पाग़ल चंपा ने बुधगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिए। वहाँ एक आलिंगन हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिंधु का। किंतु उस परिरंभ में सहसा चैतन्य होकर चंपा ने अपनी कंचुकी से एक कृपाण निकाल लिया।

"बुधगुप्त! आज मैं अपने प्रतिशोध का कृपाण अतल जल में डुबा देती हूँ। हृदय ने छल किया, बार-बार धोखा दिया!"–चमककर वह कृपाण समुद्र का हृदय बेधता हुआ विलीन हो गया।

"तो आज से मैं विश्वास करूँ, क्षमा कर दिया गया?" –आश्चर्य-कंपित कंठ से महानाविक ने पूछा।

"विश्वास? कदापि नहीं, बुधगुप्त! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहूँ? मैं तुम्हें घृणा करती हूँ, फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ। अंधेर है जलदस्यु। तुम्हें प्यार करती हूँ।"–चंपा रो पड़ी।

वह स्वप्नों की रंगीन संध्या, तम से अपनी आँखें बंद करने लगी थी। दीर्घ निश्वास लेकर महानाविक ने कहा–"इस जीवन की पुण्यतम घड़ी की स्मृति में एक प्रकाश-गृह बनाऊँगा, चंपा! यहीं उस पहाड़ी पर। संभव है कि मेरे जीवन की धुँधली संध्या उससे आलोकपूर्ण हो जाए।"

चंपा के दूसरे भाग में एक मनोरम शैलमाला थी। वह बहुत दूर तक सिंधु-जल में निमग्न थी। सागर का चंचल जल उस पर उछलता हुआ उसे छिपाए था। आज उसी शैलमाला पर चंपा के आदि-निवासियों का समारोह था। उन सबों ने चंपा को वनदेवी-सा सजाया था। ताम्रलिप्ति के बहुत-से सैनिक नाविकों की श्रेणी में वन-कुसुम-विभूषिता चंपा शिविकारूढ़ होकर जा रही थी।

शैल के एक ऊँचे शिखर पर चंपा के नाविकों को सावधान करने के लिए सुदृढ़ दीप-स्तंभ बनवाया गया था। आज उसी का महोत्सव है। बुधगुप्त स्तंभ के द्वार पर खड़ा था। शिविका से सहायता देकर चंपा को उसने उतारा। दोनों ने भीतर पदार्पण किया था कि बाँसुरी और ढोल बजने लगे। पंक्तियों में कुसुम-भूषण से सजी वन-बालाएँ फूल उछालती हुई नाचने लगीं।

दीप-स्तंभ की ऊपरी खिड़की से यह देखती हुई चंपा ने जया से पूछा—"यह क्या है जया? इतनी बालिकाएँ कहाँ से बटोर लाईं?"

"आज रानी का ब्याह है न?" —कहकर जया ने हँस दिया।

बुधगुप्त विस्तृत जलनिधि की ओर देख रहा था। उसे झकझोरकर चंपा ने पूछा—"क्या यह सच है?"

"यदि तुम्हारी इच्छा हो तो यह सच भी हो सकता है, चंपा! कितने वर्षों से मैं ज्वालामुखी को अपनी छाती में दबाए हूँ।"

"चुप रहो, महानाविक! क्या मुझे निस्सहाय और कंगाल जानकर तुमने आज सब प्रतिशोध लेना चाहा?"

"मैं तुम्हारे पिता का घातक नहीं हूँ, चंपा! वह एक दूसरे दस्यु के शस्त्र से मरे!"

"यदि मैं इसका विश्वास कर सकती। बुधगुप्त, वह दिन कितना सुंदर होता, वह क्षण कितना स्पृहणीय! आह! तुम इस निष्ठुरता में भी कितने महान् होते!"

जया नीचे चली गई थी। स्तंभ के संकीर्ण प्रकोष्ठ में बुधगुप्त और चंपा एकांत मेप एक-दूसरे के सामने बैठे थे।

बुधगुप्त ने चंपा के पैर पकड़ लिए। उच्छ्वसित शब्दों में वह कहने लगा—चंपा, हम लोग जन्मभूमि-भारतवर्ष से कितनी दूर इन निरीह प्राणियों में इंद्र और शची के समान पूजित हैं। पर न जाने कौन अभिशाप हम लोगों को अभी तक अलग किए है। स्मरण होता है वह दार्शनिकों का देश! वह महिमा की प्रतिमा! मुझे वह स्मृति नित्य आकर्षित करती है; परंतु मैं क्यों नहीं जाता? जानती हो, इतना महत्त्व प्राप्त करने पर भी मैं कंगाल हूँ! मेरा पत्थर-सा हृदय एक दिन सहसा तुम्हारे स्पर्श से चंद्रकांतमणि की तरह द्रवित हुआ।

"चंपा! मैं ईश्वर को नहीं मानता, मैं पाप को नहीं मानता, मैं दया को नहीं समझ सकता, मैं उस लोक में विश्वास नहीं करता। पर मुझे अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा हो चली है। तुम न जाने कैसे एक बहकी हुई तारिका के समान मेरे शून्य में उदित हो गई हो। आलोक की एक कोमल रेखा इस निविड़तम में मुस्कराने लगी। पशु-बल और धन के उपासक के मन में किसी शांत और एकांत कामना की हँसी खिलखिलाने लगी; पर मैं न हँस सका!"

"चलोगी चंपा? पोतवाहिनी पर असंख्य धनराशि लादकर राजरानी-सी जन्मभूमि के अंक में? आज हमारा परिणय हो, कल ही हम लोग भारत के लिए प्रस्थान करें।

महानाविक बुधगुप्त की आज्ञा सिंधु की लहरें मानती हैं। वे स्वयं उस पोत-पुंज को दक्षिण पवन के समान भारत में पहुँचा देंगी। आह चंपा! चलो।"

चंपा ने उसके हाथ पकड़ लिएं। किसी आकस्मिक झटके ने एक पलभर के लिए दोनों के अधरों को मिला दिया। सहसा चैतन्य होकर चंपा ने कहा–"बुधगुप्त! मेरे लिए सब भूमि मिट्टी है; सब जल तरल है; सब पवन शीतल है। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्वलित नहीं। सब मिलाकर मेरे लिए एक शून्य है। प्रिय नाविक! तुम स्वदेश लौट जाओ, विभवों का सुख भोगने के लिए, और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दुख की सहानुभूति और सेवा के लिए।"

"तब मैं अवश्य चला जाऊँगा, चंपा! यहाँ रहकर मैं अपने हृदय पर अधिकार रख सकूँ–इसमें संदेह है। आह! उन लहरों में मेरा विनाश हो जाए।"–महानाविक के उच्छ्वास में विकलता थी। फिर उसने पूछा–"तुम अकेली यहाँ क्या करोगी?"

"पहले विचार था कि कभी-कभी इस दीप-स्तंभ पर से आलोक जलाकर अपने पिता की समाधि का इस जल में अन्वेषण करुँगी। किंतु देखती हूँ, मुझे भी इसी में जलना होगा, जैसे आकाशदीप।"

एक दिन स्वर्ण-रहस्य के प्रभात में चंपा ने अपने दीप-स्तंभ पर से देखा–सामुद्रिक नावों की एक श्रेणी उपकूल छोड़कर पश्चिम-उत्तर की ओर महाजल-व्याल के समान संतरण कर रही है। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

यह कितनी ही शताब्दियों पहले की कथा है। चंपा आजीवन उस दीप-स्तंभ में आलोक जलाती रही। किंतु उसके बाद भी बहुत दिन, दीपनिवासी, उस माया-ममता और स्नेह-सेवा की देवी की समाधि सदृश पूजा करते थे।

एक दिन काल के कठोर हाथों ने उसे भी अपनी चंचलता से गिरा दिया। □

रक्षा बन्धन

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'
(जन्म : सन् 1891 ई.)

1

"मां, मैं भी राखी बांधूगी।"

श्रावण की धूमधाम है। नगरवासी स्त्री-पुरुष बड़े आनंद तथा उत्साह से श्रावणी का उत्सव मना रहे हैं। बहनें भाइयों के और ब्राह्मण अपने यजमानों के राखियां बांध-बांध कर चांदी कर रहे हैं। ऐसे ही समय एक छोटे-से घर में एक दस वर्ष की बालिका ने अपनी माता से कहा, "मां, मैं भी राखी बांधूगी।"

उत्तर में माता ने एक ठंडी सांस भरी और कहा, "किसके बांधेगी बेटी, आज तेरा भाई होता तो ··· ।"

माता आगे कुछ कह न सकी। उसका गला रुंध गया और नेत्र अश्रुपूर्ण हो गए।

अबोध बालिका ने इठलाकर कहा, "तो क्या भइया ही के राखी बांधी जाती है और किसी के नहीं? भइया नहीं है तो अम्मां, मैं तुम्हारे ही राखी बांधूगी।"

इस दुःख के समय भी पुत्री की बात सुनकर माता मुस्कराने लगी और बोली, "अरी तू इतनी बड़ी हो गई, भला कहीं मां के राखी बांधी जाती है।"

बालिका ने कहा, "वाह, जो पैसा दे उसीके राखी बांधी जाती है।"

माता–"अरी कंगली! पैसे पर नहीं–भाई ही के राखी बांधी जाती है।"

बालिका उदास हो गई।

माता घर का काम-काज करने लगी। घर का काम शेष करके उसने पुत्री से कहा, "आ तुझे न्हिला (नहला) दूं।"

बालिका मुख गम्भीर करके बोली, "मैं नहीं नहाऊंगी।"

माता–"क्यों, नहाएगी क्यों नहीं?"

बालिका–"मुझे क्या किसी के राखी बांधनी है?"

माता–"अरी राखी नहीं बांधनी है तो क्या नहाएगी भी नहीं? आज त्यौहार का दिन है। चल उठ नहा।"

बालिका–"राखी नहीं बांधूगी तो तिवहार काहे का?"

माता–(कुछ क्रुद्ध होकर) "अरी कुछ सिड़न हो गई है। राखी-राखी रट लगा रखी है। बड़ी राखी बांधनेवाली बनी है। ऐसी ही होती तो आज यह दिन देखना पड़ता! पैदा होते ही बाप को खा बैठी। ढाई बरस की होते-होते भाई से घर छुड़ा दिया। तेरे ही कर्मों से सबनास (सर्वनाश) हो गया।"

बालिका बड़ी अप्रतिभ हुई और आंखों में आंसू भरे हुए चुपचाप नहाने हो उठ खड़ी हुई।

एक घंटा पश्चात् हम उसी बालिका को उसके घर के द्वार पर खड़े देखते हैं। इस समय भी उसके सुन्दर मुख पर उदासी विद्यमान है। अब भी उसके बड़े-बड़े नेत्रों में पानी छलछला रहा है।

परन्तु बालिका इस समय द्वार पर क्यों? जान पड़ता है, वह किसी कार्यवश खड़ी है, क्योंकि उसके द्वार के सामने से जब कोई निकलता है, तब वह बड़ी उत्सुकता से उसकी ओर ताकने लगती है। मानो वह मुख से कुछ कहे बिना केवल इच्छाशक्ति ही से, उस पुरुष का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करती थी, परन्तु जब इसमें उसे सफलता नहीं होती, तब उसकी उदासी बढ़ जाती है।

इसी प्रकार एक, दो, तीन करके कई पुरुष, बिना उसकी ओर देखे, निकल गए।

अन्त में बालिका निराश होकर घर के भीतर लौट जाने को उद्यत ही हुई थी कि एक सुन्दर युवक की दृष्टि, जो कुछ सोचता हुआ धीरे-धीरे जा रहा था, बालिका पर पड़ी। बालका की आंखें युवक की आंखों से जा लगीं। न जाने उन उदास तथा करुणापूर्ण नेत्रों में क्या जादू भरा था कि युवक ठिठककर खड़ा हो गया और बड़े ध्यान से सिर से पैर तक देखने लगा। ध्यान से देखने पर युवक को ज्ञात हुआ कि बालिका की आंखें अश्रुपूर्ण हैं। तब वह अधीर हो उठा। निकट जाकर पूछा, "बेटी, क्यों रोती हो?"

बालिका इसका कुछ उत्तर न दे सकी। परन्तु उसने अपना एक हाथ युवक की ओर बढ़ा दिया। युवक ने देखा, बालिका के हाथ में एक लाल डोरा है। उसने पूछा, "यह क्या है?" बालिका ने आंखें नीची करके उत्तर दिया, "राखी"। युवक समझ गया। उसने मुस्कराकर अपना दाहिना हाथ आगे बढ़ा दिया।

बालिका का मुख कमल-सा खिल उठा उसने बड़े चाव से युवक के हाथ में राखी बांध दी।

राखी बंधवा चुकने पर युवक ने जेब में हाथ डाला और दो रुपये निकालकर बालिका को देने लगा। परन्तु बालिका ने उन्हें लेना स्वीकार न किया। बोली, "नहीं, पैसे दो।"

युवक-ये पैसे से भी अच्छे हैं।

बालिका–नहीं, मैं पैसे लूंगी, यह नहीं।

युवक–ले लो बिटिया, इसे पैसे मंगा लेना। बहुत-से मिलेंगे।

बालिका–नहीं, पैसे दो।

युवक ने चार आने पैसे निकालकर कहा, "अच्छा, पैसे भी ले और यह भी ले।"

बालिका–नहीं, खाली पैसे लूंगी।

"तुझे दोनों लेने पड़ेंगे।" यह कहकर युवक ने बलपूर्वक पैसा तथा रुपये बालिका के हाथ पर रख दिए।

इतने में घर के भीतर से किसी ने पुकारा, "अरी सरसुती (सरस्वती), कहां गई?"

बालिका ने 'आई' कहकर युवक की ओर कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि डाली और चली गई।

2

गोलागंज (लखनऊ) की एक बड़ी तथा सुन्दर अट्टालिका के एक सुसज्जित कमरे में एक युवक चिंता-सागर में निमग्न बैठा है। कभी वह ठण्डी सांसें भरता है, कभी रूमाल से आंखें पोंछता है, कभी आप ही आप कहता है, 'हा! सारा परिश्रम व्यर्थ गया। सारी चेष्टाएं निष्फल हुई। क्या करूँ? कहां जाऊं। उन्हें कहां ढूंढूं। सारा उन्नाव छान डाला, परन्तु फिर भी पता न लगा।' युवक आगे कुछ और कहने को था कि कमरे का द्वार खुला और नौकर अन्दर आया।

युवक ने विरक्त होकर पूछा, "क्यों, क्या है?"

नौकर–सरकार, अमरनाथ बाबू आए हैं।

युवक–(संभलकर) अच्छा, यहीं भेज दो।

नौकर के चले जाने पर युवक ने रूमाल से आंखें पोंछ डालीं और मुख पर गम्भीरता लाने की चेष्टा करने लगा।

द्वार फिर खुला और एक युवक अन्दर आया।

युवक–आओ भाई अमरनाथ!

अमरनाथ–कहो घनश्याम, आज अकेले कैसे बैठे हो? कानपुर से कब लौटे?

घनश्याम–कल आया था।

अमरनाथ–उन्नाव भी अवश्य ही उतरे होगे?

घनश्याम–(एक ठण्डी सांस भरकर) हां, उतरा था। परन्तु व्यर्थ! वहां अब मेरा क्या रखा है?

अमरनाथ–परन्तु करोगे क्या? हृदय नहीं मानता है क्यों? और सच पूछो तो बात ही ऐसी है। यदि तुम्हारे स्थान पर मैं होता तो मैं भी ऐसा ही करता।

घनश्याम–क्या कहूं मित्र, मैं तो हार गया। तुम तो जानते ही हो कि मुझे लखनऊ आकर रहते एक वर्ष हो गया और जब से यहां आया हूं उन्हें ढूंढने में कुछ भी कसर उठा नहीं रखी, परन्तु सब व्यर्थ।

अमरनाथ–उन्होंने उन्नाव न जाने क्यों छोड़ दिया और कब छोड़ा–इसका भी कोई

पता नहीं चलता।

घनश्याम–इसका तो पता चल गया न, कि वे लोग मेरे चले जाने के एक वर्ष पश्चात् उन्नाव से चले गए। परन्तु कहां चले गए, यह नहीं मालूम।

अमरनाथ–यह किससे मालूम हुआ?

घनश्याम–उसी मकानवाले से, जिसके मकान में हम लोग रहते थे।

अमरनाथ–हा शोक!

घनश्याम–कुछ नहीं, यह सब मेरे ही कर्मों का फल है। यदि मैं उन्हें छोड़कर न जाता; यदि गया था तो उनकी खोज-खबर लेता रहता। परन्तु मैं तो दक्षिण जाकर रुपया कमाने में इतना व्यस्त रहा कि कभी याद ही न आई। और जो आई भी तो क्षण-मात्र के लिए। उफ, क्या कोई अपने घर को भी भूल जाता है! मैं ही ऐसा अधम ···

अमरनाथ–(बात काटकर) अजी नहीं, सब समय की बात है।

घनश्याम–मैं दक्षिण न जाता तो अच्छा था।

अमरनाथ–तुम्हारा दक्षिण जाना तो व्यर्थ नहीं हुआ। यदि न जाते तो इतना धन···

घनश्याम–अजी चूल्हे में जाए धन! ऐसा धन किस काम का? मेरे हृदय में सुख-शांति नहीं, तो धन किस मर्ज की दवा है?

अमरनाथ–ऐं, यह हाथ में लाल डोरा क्यों बांधा है?

घनश्याम–इसकी तो बात ही भूल गया। यह राखी है।

अमरनाथ–भाई वाह, अच्छी राखी है! लाल डोरे को राखी बताते हो। यह किसने बांधी है? किसी बड़े कंजूस ब्राह्मण ने बांधी होगी। दुष्ट ने एक पैसा तक खर्चना पाप समझा। डोरे से ही काम निकाला।

घनश्याम–संसार में यदि कोई बढ़िया से बढ़िया राखी बन सकती है तो मुझे उससे भी कहीं अधिक प्यारा यह लाल डोरा है।–यह कहकर घनश्याम ने उसे खोलकर बड़े यत्नपूर्वक अपने बक्स में रख लिया।

अमरनाथ–भई, तुम भी विचित्र मनुष्य हो। आखिर यह डोरा बांधा किसने है?

घनश्याम–एक बालिका ने।

पाठक समझ गए होंगे कि घनश्याम कौन है।

अमरनाथ–बालिका ने कैसे बांधा और कहां?

घनश्याम–कानपुर में।

घनश्याम ने सारी घटना कह सुनाई।

अमरनाथ–यदि यह बात है तो सत्य ही यह डोरा अमूल्य है।

घनश्याम–न जाने क्यों, उस बालिका का ध्यान मेरे मन से नहीं उतरता।

अमरनाथ–उसकी सरलता तथा प्रेम ने तुम्हारे हृदय पर प्रभाव डाला है। भला उसका नाम क्या है?

घनश्याम–नाम तो मुझ नहीं मालूम। भीतर से किसी ने उसका नाम लेकर पुकारा था, परन्तु मैं सुन न सका।

अमरनाथ–अच्छा, खैर! अब तुमने क्या करना विचारा है?

घनश्याम–धैर्य धरकर चुपचाप बैठने के अतिरिक्त और मैं कर ही क्या सकता हूं। मुझसे जो हो सका, मैं कर चुका।

अमरनाथ–हां, यही ठीक भी है। ईश्वर पर छोड़ दो! देखो क्या होता है।

3

पूर्वोक्त घटना हुए पांच वर्ष व्यतीत हो गए। घनश्यामदास पिछली बातें प्रायः भूल गए हैं। परन्तु उस बालिका की याद कभी-कभी आ जाती है। उसे देखने वे एक बार कानपुर गए थे परन्तु उसका पता न चला। उस घर में पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह वहां से, अपनी माता-सहित, बहुत दिन हुए न जाने कहां चली गई। इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों समय बीतता गया उसका ध्यान भी कम होता गया। पर अब भी जब वे अपना बक्स खोलते हैं तब कोई वस्तु देखकर चौंक पड़ते हैं और साथ ही कोई पुराना दृश्य आंखों के सामने आ जाता है।

घनश्याम अभी तक अविवाहित हैं। पहले तो उन्होंने निश्चय कर लिया था कि विवाह करेंगे ही नहीं। पर मित्रों के कहने और स्वयं अपने अनुभव ने उनका यह विचार बदल दिया। अब वे विवाह करने पर तैयार हैं। परन्तु अभी तक कोई कन्या उनकी रुचि के अनुसार नहीं मिली।

जेठ का महीना है। दिन-भर की जला देनेवाली धूप के पश्चात् सूर्यास्त का समय अत्यन्त सुखदायी प्रतीत हो रहा है। इस समय घनश्यामदास अपनी कोठी के बाग में मित्रों सहित बैठे मन्द-मन्द शीतल वायु का आनन्द ले रहे हैं। आपस में हास्यरसपूर्ण बातें हो रही हैं। बातें करते-करते एक मित्र ने कहा, "अजी अभी तक अमरनाथ नहीं आए?"

घनश्याम–वह मनमौजी आदमी है। कहीं रम गया होगा।

दूसरा–नहीं रमा नहीं, वह आजकल तुम्हारे लिए दुल्हिन ढूंढ़ने की चिन्ता में रहता है।

घनश्याम–बड़े दिल्लगीबाज़ हो।

दूसरा–नहीं, दिल्लगी की बात नहीं है।

तीसरा–हां, परसों मुझसे भी वह कहता था कि घनश्याम का विवाह हो जाए तो मुझे चैन पड़े।

ये बातें हो ही रही थीं कि अमरनाथ लपकते हुए आ पहुंचे।

घनश्याम–आओ यार, बड़ी उमर है–अभी तुम्हारी ही याद हो रही थी।

अमरनाथ–इस समय बोलिए नहीं, नहीं एकाध को मार बैठूंगा।

दूसरा–जान पड़ता है, कहीं से पिटकर आए हो।

अमरनाथ–तू फिर बोला–क्यों?

दूसरा–क्यों, बोलना किसी के हाथ क्या बेच खाया है?

अमरनाथ–अच्छा, दिल्लगी छोड़ो, एक आवश्यक बात है।

सब उत्सुक होकर बोले, "कहो, कहो, क्या बात है?"

अमरनाथ–(घनश्याम से) तुम्हारे लिए दुल्हिन ढूंढ ली है।

सब–(एक स्वर से) फिर क्या, तुम्हारी चांदी है।

अमरनाथ–फिर वही दिल्लगी। यार, तुम लोग अजीब आदमी हो।

तीसरा–अच्छा बताओ, कहां ढूंढ़ी?

अमरनाथ–यहीं, लखनऊ में।

दूसरा–लड़की का पिता क्या करता है?

अमरनाथ–पिता तो स्वर्गवास करता है।

तीसरा–यह बुरी बात है।

अमरनाथ–लड़की है और उसकी माँ। बस, तीसरा कोई नहीं। विवाह में कुछ मिलेगा भी नहीं। लड़की की माता बड़ी गरीब है।

दूसरा–यह उससे भी बुरी बात है।

तीसरा–उल्लू मर गए, पट्ठे छोड़ गए। घर भी ढूंढ़ा तो गरीब। कहां हमारे घनश्याम इतने धनाढ्य और कहां सुसराल इतनी दरिद्र! लोग क्या कहेंगे?

अमरनाथ–अरे भाई, कहने और न कहनेवाले हमीं तुम हैं। और यहां उनका कौन बैठा है, जो कहेगा।

घनश्यामदास ने ठण्डी सांस ली।

तीसरा–आपने क्या भलाई देखी जो यह सम्बन्ध करना विचारा है।

अमरनाथ–लड़की की भलाई। लड़की लक्ष्मी-रूपा है। जैसी सुन्दर वैसी ही सरल। ऐसी लड़की यदि दीपक लेकर ढूंढ़ी जाए तो भी कदाचित् ही मिले।

दूसरा–हां, यह अवश्य एक बात है।

अमरनाथ–परन्तु लड़की की माता लड़का देखकर विवाह करने को कहती है।

तीसरा–यह तो व्यवहार की बात है।

घनश्याम–और, मैं भी लड़की देखकर विवाह करुंगा।

दूसरा–यह भी ठीक ही है।

अमरनाथ–तो इसके लिए क्या विचार है?

तीसरा–विचार क्या, लड़की देखेंगे।

अमरनाथ–तो कब?

घनश्याम–कल।

4

दूसरे दिन शाम को घनश्याम और अमरनाथ गाड़ी पर सवार होकर लड़की देखने चले। गाड़ी चक्कर खाती हुई अहियागंज की एक गली के सामने जा खड़ी हुई। गाड़ी से उतरकर दोनों मित्र गली में घुसे। लगभग सौ कदम चलकर अमरनाथ एक छोटे-से मकान के सामने खड़े हो गए और मकान का द्वार खटखटाया।

घनश्याम बोले, "मकान देखने से तो बड़े गरीब जान पड़ते हैं।"

अमरनाथ–हां, बात तो ऐसी ही है, परन्तु यदि लड़की तुम्हारे पसन्द आ जाए तो सब सहन किया जा सकता है।

इतने में द्वार खुला और दोनों भीतर गए। सन्ध्या हो जाने के कारण मकान में अंधेरा हो गया था। अतएव ये लोग द्वार खोलनेवाले को स्पष्ट न देख सके।

एक दालान में पहुंचने पर वे दोनों चारपाइयों पर बिठा दिए गए और बिठानेवाली ने, जो स्त्री थी, कहा, "मैं ज़रा दिया जला लूं।"

अमरनाथ–हां, जला लो।

स्त्री ने दीपक जलाया और पास ही एक दीवट पर उसे रख दिया, फिर इनकी ओर मुख करके वह नीचे चटाई पर बैठ गई। परन्तु ज्योंही उसने घनश्याम पर अपनी दृष्टि डाली–एक हृदयभेदी आह उसके मुख से निकली–और वह ज्ञानशून्य होकर गिर पड़ी।

स्त्री की ओर कुछ अंधेरा था, इस कारण उन लोगों को उसका मुख स्पष्ट न दिखाई पड़ता था। घनश्याम उसे उठाने को उठे। परन्तु ज्योंही उन्होंने उसका सिर उठाया और रोशनी उसके मुख पर पड़ी त्योंही घनश्याम के मुख से निकला, "मेरी माता!" और उठकर वे भूमि पर बैठ गए।

अमरनाथ विस्मित हो काष्ठवत् बैठे रहे। अन्त में कुछ क्षण उपरान्त बोले, "उफ, ईश्वर की महिमा बड़ी विचित्र है। जिनके लिए तुमने न जाने कहां-कहां की ठोकरें खाईं वे अन्त में किस प्रकार मिले।"

घनश्याम अपने को संभालकर बोले, "थोड़ा पानी मंगाओ।"

अमरनाथ–किससे मंगाऊँ? यहां तो कोई और दिखाई ही नहीं पड़ता। परन्तु हां, वह लड़की तुम्हारी ··· कहते-कहते अमरनाथ रुक गए। फिर उन्होंने पुकारा, "बिटिया, थोड़ा पानी दे जाओ।" परन्तु कोई उत्तर न मिला।

अमरनाथ ने फिर पुकारा, "बेटी, तुम्हारी मां अचेत हो गई हैं। थोड़ा पानी दे जाओ।"

इस 'अचेत' शब्द में न जाने क्या बात थी कि तुरन्त ही घर के दूसरी ओर बरतन खड़कने का शब्द हुआ। तत्पश्चात् एक पूर्ण वयस्का लड़की लोटा लिए आई। लड़की मुंह कुछ ढंके हुए थी। अमरनाथ ने पानी लेकर घनश्याम की माता की आंखें तथा मुख धो दिया। थोड़ी देर में उसे होश आया। उसने आंखें खोलते ही फिर घनश्याम को देखा। तब वह शीघ्रता से उठकर बैठ गई और बोली, "ऐं, मैं क्या स्वप्न देख रहीं हूं? घनश्याम

क्या तू मेरा खोया हुआ घनश्याम है? या कोई और?"

माता ने पुत्र को उठाकर छाती से लगा लिया और अश्रुबिन्दु विसर्जन किए। परन्तु वे बिन्दु सुख के थे अथवा दु:ख के, कौन कहे?

लड़की ने यह सब देख-सुनकर अपना मुंह खोल दिया और 'भैया-भैया' कहती हुई घनश्याम से लिपट गई। घनश्याम ने देखा लड़की कोई और नहीं, वही बालिका है जिसने पांच वर्ष पूर्व उनके राखी बांधी थी और जिसकी याद प्राय: उन्हें आया करती थी।

श्रावण का महीना है और श्रावणी का महोत्सव। घनश्यामदास की कोठी खूब सजाई गई है। घनश्याम अपने कमरे में बैठे एक पुस्तक पढ़ रहे हैं। इतने में एक दासी ने आकर कहा, "बाबू भीतर चलो।" घनश्याम भीतर गए। माता ने उन्हें एक आसन पर बिठाया और उनकी भगिनी सरस्वती ने उनके तिलक लगाकर राखी बांधी। घनश्याम ने दो अशर्फियां उसके हाथ में धर दी और मुस्कराकर बोले, "क्या पैसे भी देने होंगे?"

सरस्वती ने हंसकर कहा, "नहीं भैया, ये अशर्फियां पैसों से अच्छी हैं। इनसे बहुत-से पैसे आएंगे।"

□

कानों में कँगना

राजा राधिकारमण सिंह
(जन्म : सन् 1891 ई.)

1

"किरण! तुम्हारे कानों में यह क्या है?"

उसने कानों से चंचल लट को हटा कर कहा—"कँगना।"

"अरे कानों में कँगना?" सचमुच दो कँगन कानों को घेर कर बैठे थे।

"हाँ—तब कहाँ पहनूँ?"

किरण अभी भोली थी। दुनिया में जिसे भोली कहते हैं, वैसी भोली नहीं। उसे वन के फूलों का भोलापन समझो। नवीन चमन के फूलों की भंगी नहीं; विविध खाद या रस से जिनकी जीविका है, निरन्तर काट-छाँट से जिनका सौन्दर्य है, जो दो घड़ी चंचल चिकने बाल की भूषा हैं—जो दो घड़ी तुम्हारे फूलदान की शोभा। वन के फूल ऐसे नहीं। प्रकृति के हाथों से लगी है, मेघों की धारा से बढ़ी हैं। चटुल दृष्टि इन्हें पाती नहीं। जगत्-वायु इन्हें छूती नहीं। यह सरल, सुन्दर, सौरभमय जीवन है। जब जीवित रहे, तब चारों तरफ अपने प्राण-धन से हरे-भरे रखे; जब समय आया, तब अपनी माँ के गोद में झर पड़े।

आकाश स्वच्छ था—नील, उदार, सुन्दर। पत्ते श्रान्त थे। सन्ध्या हो चली थी। सुनहली किरणें सुन्दर पर्वत की चूड़ा से देख रही थीं। वह पतली किरण अपनी मृत्युशय्या से इस शून्य निविड़ कानन में क्या ढूँढ़ रही थी, कौन कहे? किसे एक टक देखती थी, कौन जाने? अपनी लीला-भूमि को सस्नेह करुण चाहती थी या हमारे बाद वहाँ क्या हो रहा है, इसे जोहती थी—मैं क्या बता सकता हूँ? जो हो, उसकी उस भंगी में अकांक्षा अवश्य थी। मैं तो खड़ा-खड़ा उन बड़ी-बड़ी आँखों की किरण लूटता था। आकाश में तारों को देखा या उन जगमग आँखों को देखा, बात एक ही थी। हम दूर से तारों के सुन्दर, शून्य, झिकमिक को बार-बार देखते हैं, लेकिन वह निःस्पन्द निश्चेष्ट ज्योति

सचमुच भावहीन है, या आप-ही-आप अपनी अन्तर-लहरी में मस्त है, इसे जानना आसान नहीं। हमारी ऐसी आँखें कहाँ कि उनके सहारे उस निगूढ़ अन्तर में डूब कर थाह लें?

मैं रसाल की डाली थाम कर पास ही खड़ा था। वह बालों को हटा कर कँगन दिखाने की भंगी प्राणों में रह-रह उठती थी। जब माखन चुराने वाले ने गोपियों के सर के मटके को तोड़ कर उनके भीतरी क़िले को तोड़ डाला, या नूरजहाँ ने अंचल से कबूतर को उड़ा कर शहनशाह के कठोर हृदय की धज्जियाँ उड़ा दीं; फिर नदी के किनारे बसन्त-वल्लभ रसाल-पल्लवों की छाया में बैठी, किसी अपरूप बालिका की यह सरल, स्निग्ध भंगिमा एक मानव-अन्तर पर क्यों न दौड़े?

किरण इन आँखों के सामने प्रतिदिन आती ही जाती थी। कभी आम के टिकोरे से आँचल भर लाती, कभी मौलसरी के फूलों की माला बना लाती, लेकिन कभी भी ऐसी बाल-सुलभ लीला आँखों से होकर हृदय तक नहीं उतरी। आज क्या था, कौन शुभ या अशुभ क्षण था कि अचानक वह बनैली लता मन्दारमाला से भी कहीं मनोरम दीख पड़ी? कौन जानता था कि चाल से कुचाल जाने में, हाथों के कँगन भूल कर कानों में पहनने में इतने माधुरी है? दो टके के कँगने में इतनी शक्ति है? गोपियों को कभी स्वप्न में भी न झलका था कि बाँस की बाँसुरी में घूँघट खोल कर नचा देने की शक्ति है?

मैंने चटपट उसके कानों से कँगन उतार लिया। फिर धीरे-धीरे उसकी उँगलियों पर चढ़ाने लगा। न जाने उस घड़ी कैसी खलबली थी। मुँह से अचानक निकल आया-"किरण! आज की यह घटना मुझे मरते दम तक न भूलेगी। यह भीतर तक पैठ गयी।"

उसकी बड़ी-बड़ी आँखें और भी बड़ी हो गईं। मुझे चोट-सी लगी। मैं तत्काल योगीश्वर की कुटी की ओर चल पड़ा। प्राण भी उसी समय नहीं चल दिए, यही विस्मय था।

2

एक दिन था कि इस दुनिया में दुनिया से दूर रह कर भी लोग दूसरी दुनिया का सुख उठाते थे। हरिचन्दन के पल्लवों की छाया भूलोक पर कहाँ मिले, लेकिन किसी समय हमारे यहाँ भी ऐसे वन थे जिनके वृक्षों के साये में दो घड़ी घाम निवारने के लिये स्वर्ग से देवता भी उतर आते थे। जिस पंचवटी का अनन्त यौवन देखकर राम की आँखें भी खिल उठी थीं, वहाँ के निवासियों ने कभी अमरतरु के सुन्दर फूलों की माला नहीं चाही, मन्दाकिनी के छींटों की शीतलता नहीं ढूँढ़ी। वृन्दावन का सानी कहीं वन भी था? कल्प-वृक्ष की छाया में शान्ति अवश्य है; लेकिन कदम की छाँह की शांति कहाँ मिल सकती है? हमारी-तुम्हारी आँखों ने कभी नन्दनोत्सव की लीला नहीं देखी, लेकिन इसी भूतल पर एक दिन ऐसा उत्सव हो चुका है, जिसको देख-देख कर प्रकृति तथा रजनी छः महीने तक ठगी रही, शत-शत देवांगनाओं ने पारिजात के फूलों की वर्षा से नन्दन-कानन को उजाड़ डाला।

समय ने सब कुछ पलट दिया। अब ऐसे बन नहीं, जहाँ कृष्ण गोलोक से उतर कर दो घड़ी वंशी टेर दें। ऐसे कुटीर नहीं, जिसके दर्शन से रामचन्द्र का भी अन्तर प्रसन्न हो, या ऐसे मुनीश नहीं, जो धर्म धुरन्धर धर्मराज को भी धर्म में शिक्षा दें। यदि एक-दो भूले-भटके हों भी, तब अभी तक उन पर दुनिया का पर्दा नहीं उठा—जगन्माया की माया नहीं लगी। लेकिन वे कब तक बचे रहेंगे? लोक अपने यहाँ अलौलिक बातें कब होने देगा? भवसागर के जलतरंगों पर छिद्र होना कब संभव है?

हृषीकेश के पास एक सुन्दर बन है; सुन्दर नहीं, अपरूप सुन्दर है। वह प्रमोद-वन के विलास-निकुन्जों जैसा सुन्दर नहीं, वरंच चित्रकूट या पंचवटी की महिमा से मण्डित है। वहाँ चिकनी चाँदनी में बैठकर कनक-घुँघुरू की इच्छा नहीं होती, वरंच प्राणों में ऐसी आवेग-धारा उठती है, जो कभी अनन्त साधना के कूल पर पहुँचाती है, कभी जीव-जगत् के एक-एक तत्व से दौड़ मिलाती है। गंगा की अनन्त गरिमा, वन की निविड़ योग-निद्रा नहीं देख पड़ेगी। कौन कहे, वहाँ जाकर यह चंचल चित्त क्या चाहता है—गम्भीर अलौकिक आनन्द, या शान्त सुन्दर मरण?

इस वन में कुटी बनाकर योगीश्वर रहते थे। योगीश्वर, योगीश्वर ही थे। यद्यपि वह भू-तल ही पर रहते थे, तथापि उन्हें इस लोक का जीव कहना यथार्थ नहीं था। उनकी चित्त-वृत्ति सरस्वती के श्रीचरणों में थी या ब्रह्मलोक की अनन्त शान्ति में लिपटी थी, और वह बालिका—स्वर्ग से एक रश्मि उतर कर उस घने जंगल में उजेला करती फिरती थी। वह लौकिक-माया-बद्ध जीवन नहीं था। इसे बन्धन-रहित, बाधाहीन नाचती किरणों की लेखा कहिये। मानो निर्मुक्त, चंचल मलय-वायु फूल-फूल पर, डाली-डाली पर डोलती फिरती हो, या कोई मूर्तिमान अमर संगीत बेरोक-टोक हवा पर या जल के तरंग-भंग पर नाच रहा हो। मैं ही वहाँ इस लोक का प्रतिनिधि था। मैं ही उन्हें उनकी अलौकिक स्थिति से इस जटिल मर्त्यराज में खैंच लाता था।

कोई साल भर से मैं योगीश्वर के यहाँ आता-जाता था। पिता की आज्ञा थी कि उनके यहाँ जाकर अपने धर्म के ग्रन्थ सब पढ़ डालो। योगीश्वर और बाबा लड़कपन के साथी थे। इसीलिये उनकी मुझ पर इतनी दया थी। किरण उनकी लड़की थी, उस कुटीर में एक वही दीपक थी। जिस दिन की घटना मैं लिख आया हूँ, उसी दिन सबेरे मेरे अध्ययन की पूर्णाहुति थी, और मैं बाबा के कहने पर एक जोड़ा पीताम्बर, पाँच स्वर्ण-मुद्रा तथा किरण के लिये दो कनक-कंगन आचार्य के निकट ले गया था। योगीश्वर ने सब लौटा दिये, केवल कंगन को किरण उठा ले गई। वे नहीं मालूम, क्या समझकर चुप रह गये। समय का अद्भूत चक्र है। जिस दिन मैंने धर्म-ग्रन्थ से मुँह मोड़ा, उसी दिन कामदेव के यहाँ जाकर उनकी किताब का पहला पन्ना उलटा।

दूसरे दिन मैं योगीश्वर से मिलने गया। वह किरण को पास बिठाकर न जाने क्या-क्या पढ़ा रहे थे। उनकी आँखें गम्भीर थीं! मुझको देखते ही वह उठ पड़े और मेरे कन्धे पर हाथ रखकर गद्गद स्वर से बोले—"नरेन्द्र! अब मैं चला, किरण तुम्हारे हवाले है।" यह

कह कर उन्होंने उसकी सुकोमल अँगुलियों को मेरे हाथ में रख दिया। लोचनों के कोने पर दो बूँदें निकल कर झाँक पड़ीं। मैं सहम उठा। क्या उन पर सब बातें विदित थीं? क्या उनकी तीव्र दृष्टि मेरी अन्तर्लहरी तक डूब चुकी थी? वे ठहरे नहीं, चल दिये। मैं काँपता रह गया। किरण देखती रह गई।

वन-वायु भी अवाक् हो गयी। सन्नाटा छा गया। हम दोनों चल पड़े। किरण मेरे कन्धे पर हाथ रक्खे थी। हठात् अन्तर से कोई कड़ककर कह उठा–"हाय नरेन्द्र! वह क्या? तुम इस वन-फूल को किस उद्यान में ले चले? इस बन्धन-विहीन स्वर्गीय जीवन को किस लोक-जाल में बाँधने ले चले?"

3

कंकड़ी जल में जाकर कोई स्थाई विवर नहीं फोड़ सकती। क्षणभर जल का समतल भले ही उलट-पुलट हो, लेकिन इधर-उधर से जल-तरंग दौड़कर उस छिद्र का चिन्ह-मात्र भी नहीं रहने देते। जगत् की भी यही चाल है। यदि स्वर्ग से देवेन्द्र भी आकर इस लोक-चला-चल में खड़े हों, फिर संसार देखते-ही-देखते उन्हें अपना बना लेगा। इस काली कोठरी में आकर इसकी कालिमा से बची रही ऐसी शक्ति अब आकाश कुसुम ही समझो। दो दिन में राम 'हाय जानकी-हाय जानकी' कह कर वन-वन डोलते फिरे। दो क्षण में यही विश्वामित्र को स्वर्ग से घसीट लाये।

किरण की भी यही अवस्था हुई। कहाँ प्रकृति की निर्मुक्त गोद, कहाँ जगत् का जटिल बन्धन-पाश? कहाँ-से-कहाँ आ पड़ी! वह अलौकिक भोलापन, वह निसर्ग-उच्छावास-हाथों-हाथ लुट गये। उस वनफूल की विमलकान्ति लौकिक चमन की मायावी मनोहारिता में परिणत हुई। अब आँखें उठाकर आकाश से नीरव बातचीत करने का अवसर कहाँ से मिले! मलय-वायु से मिलकर मलयाचल के फूलों की पूछताछ क्योंकर हो?

जब किशोरी नये साँचे में ढल कर उतरी, उसे पहचानना भी कठिन था। अब वह लाल चोली, हरी साड़ी पहन कर, सर पर सिन्दूर-लेखा सजाती और हाथों में कंगन, कानों में वाली, गले में कंठी तथा कमर में करधनी–दिन-दिन उसके चित्त को नचाये मारती थीं। जब कभी वह सज-धज कर चाँदनी में कोठे पर उठती और बसन्त-वायु उसके आँचल से मोतिया की लपट लाकर मेरे बरामदे में भर देता; उस समय किसी मतवाली माधुरी या तीव्र मदिरा के नशे से मेरा मस्तिष्क घूम जाता और मैं चटपट अपना प्रेम-चीत्कार फूलदार रंगीन चिट्ठी में भर कर जूही के हाथ ऊपर भिजवाता, या बाजार से दौड़कर कटकी गहने या विलायती चूड़ी खरीद लाता। लेकिन जो हो, अब भी कभी-कभी उसके प्रफुल्ल बदन पर उस अलोक-आलोक की छटा पूर्वजन्म की सुख-स्मृतिवत् चली आती थी और आँखें उसी जीवन्त सुन्दर झिकमिक का नाच दिखाती थीं। जब अन्तर प्रसन्न था, तब बाहरी चेष्टा पर प्रतिबिम्ब क्यों न पड़े!

यों ही साल-दो-साल मुरादाबाद में कट गये। एक दिन मोहन के यहाँ नाच देखने गया। वहीं किन्नरी से आँखें मिलीं; मिली क्या, लीन हो गईं। नवीन यौवन, कोकिल-कण्ठ, चतुर चंचल चेष्टा तथा मायावी चकमक-अब चित्त को चलाने के लिए और क्या चाहिये। किन्नरी सचमुच किन्नरी ही। नाचने वाली नहीं, नचानेवाली थी! पहली बार देखकर उसे इस लोक की सुन्दरी समझना दुस्तर था। एक लपट-सी लगती-कोई नशा-सी चढ़ जाती। यारों ने मुझे और भी चढ़ा दिया। आँखें मिलती-मिलती मिल गईं। हृदय को भी साथ-साथ घसीट ले गईं।

फिर क्या था-इतने दिनों की धर्म-शिक्षा, शतवत्सर की पूज्या लक्ष्मी, बाप-दादों की कुल-प्रतिष्ठा, पत्नी से पवित्र प्रेम-एक-एक करके ये सब उस प्रदीप्त वासना-कुण्ड में भस्म होने लगे। अग्नि और भी बढ़ती गई। किन्नरी की चिकनी दृष्टि, चिकनी बातें घी बरसाती रहीं। घर-बार सब जल उठा। मैं भी निरन्तर जलने लगा; लेकिन ज्यों-ज्यों जलता गया, जलने की इच्छा जलाती रही।

पाँच महीने कट गये। नशा उतरा नहीं। बनारसी साड़ी, पारसी जैकेट, मोती का हार, कटकी कर्णफूल-सब कुछ लाकर उस मायाकरी के अलक-रज्जित चरणों पर रक्खे। किरण हेमन्त की मालती बनी थी। जिस पर एक फूल नहीं-एक पल्लव नहीं। घर की बधू क्या करती? जो अनन्त सूत्र से बँधा था, जो अनन्त जीवन का सगी था, वही हाथों-हाथ पराये के हाथ बिक गया। किन्तु ये तो दो दिन के चकमकी खिलौने थे, इन्हें शरीर बदलते क्या देर लगे? दिन भर बहाना की माला गूँथ-गूँथ किरण के गले में और शाम को मोती की माला उस नाचने वाली या नचानेवाली के गले में सशंक, निर्लज डाल देता-यही मेरा कर्तव्य, धर्म, नियम हो उठा। एक दिन सारी बातें खुल गईं। किरण, पछाड़ खाकर जमीन पर जा पड़ी। उसकी आँखों में आँसू न थे, मेरी आँखों में दया न थी।

4

बरसात की रात थी। रिमझिम-रिमझिम बूँदों की झड़ी लगी थी। चाँदनी मेघों से आँख-मुँदौली खेल रही थी। बिजली, काले कपाट से बार-बार झाँकती थी। किसे चंचला देखती थी, और बादल किस मरोड़ से रह-रहकर चिल्लाते थे, इन्हें सोचने का मुझे सवार ही न था। मैं तो किन्नरी के दरवाजे से हताश लौटा था; आँखों के ऊपर न चाँदनी थी, न बदली थी। त्रिशंकु ने स्वर्ग जाते-जाते बीच में ही टँग कर किस दुःख को उठाया-और मैं तो अपने स्वर्ग के दरवाजे पर सिर रख कर निराश लौटा था-मेरी वेदना क्यों न बड़ी हो?

हाय! मेरी अँगुलियों में एक अँगूठी भी रहती तो उसे नज़र कर उसके चरणों पर लोटता।

घर पर आते ही जूही को पुकार उठा-"जूही! जूही!! किरण के पास कुछ भी

बचा-वचा हो तो फौरन् जाकर माँग लाओ।"

ऊपर से कोई आवाज नहीं आई, केवल सिर के ऊपर से एक काला बादल कालान्त चीत्कार से चिल्ला उठा। मेरा मस्तिष्क घूम गया। मैं तत्क्षण कोठे पर दौड़ा।

बस, सन्दूक, झाँपे जो कुछ मिला सब तोड़ डाला; लेकिन मिला कुछ भी नहीं। आलमारी में केवल मकड़े का जाल था। श्रृंगार-बक्स में एक छिपकली बैठी थी। उसी दम किरण पर झपटा।

पास जाते ही सहम गया। वह एक तकिये के सहारे निःसहाय, निस्पंद लेटी हुई थी। केवल चाँदनी ने, खिड़की से आकर उसे गोद में ले रक्खा था और वायु उस शान्त शरीर पर जल भिगोया पंखा झूल रही थी। मुख पर अपरूप छटा थी। कौन कहे, कहीं जीवन की शेष रश्मि क्षण-भर वहीं अँटकी हो। आँखों में एक जीवन्त ज्योति थी। शायद प्राण शरीर से निकल कर किसी आसरे से वहीं बैठ रहा था। मैं फिर पुकार उठा—"किरण तुम्हारे पास कोई और गहना भी बच गया है?"

"हाँ"—क्षीण कण्ठ की काकली थी।

"कहाँ है, अभी देखने दो।"

उसने धीरे से घूँघट सरका कर कहा—"वही कानों का कँगना।"

सिर तकिये से ढल पड़ा। आँखें भी झिप गईं। वह जीवन्त रेखा कहाँ उड़ गई-क्या इतने ही के लिये अब तक ठहरी थी?

मेरी आँखें मुख पर जा पड़ीं—वहीं कँगन थे। वैसे ही कानों को घेरकर बैठे थे। मेरी स्मृति तड़िद्वेग से नाच उठी। दुष्यन्त ने अँगूठी पहचान ली। भूली शकुन्तला, तत्क्षण याद आ गयी थी। लेकिन दुष्यन्त सौभाग्यशाली थे, चक्रवर्ती राजा थे—अपनी प्राणप्रिया को आकाश-पाताल छान कर ढूँढ़ निकाला। मेरी किरण तो इस भूतल पर नहीं थी, कि किसी तरह प्राण देकर भी पता पाता। परलोक से ढूँढ़ निकालूँ-ऐसी शक्ति इस दीन-हीन मानव में कहाँ?

सारी बातें सूझ गईं। चढ़ा नशा उतर पड़ा—आँखों पर की पट्टी खुल गई; लेकिन हाय! खुली भी तो उसी समय, जब जीवन में केवल अंधकार ही अंधकार रह गया! □

दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी

आचार्य चतुरसेन शास्त्री
(जन्म : सन् 1891 ई.)

1

गर्मी के दिन थे। बादशाह ने इसी फागुन में सलीमा से नई शादी की थी। सल्तनत के सब झंझटों से दूर रह कर नई दुलहिन के साथ प्रेम और आनन्द की कलोल करने वह सलीमा को लेकर कश्मीर के दौलतखाने में चले आए थे।

रात दूध में नहा रही थी। दूर के पहाड़ों की चोटियाँ बर्फ से सफेद होकर चाँदनी में बहार दिखा रही थीं। आरामबाग़ के महलों के नीचे पहाड़ी नदी बल खाकर बह रही थी।

मोतीमहल के एक कमरे में शमादान जल रहा था, और उसकी खुली खिड़की के पास बैठी सलीमा रात का सौंदर्य निहार रही थी। खुले हुए बाल उसकी फीरोजी रंग की ओढ़नी पर खेल रहे थे। चिकन के काम से सजी और मोतियों से गुँथी हुई उस फीरोज़ी रंग की ओढ़नी पर, कसी हुई कमख़ाब की कुरती और पन्नों की कमरपेटी पर, अंगूर के बराबर बड़े मोतियों की माला झूम रही थी। सलीमा का रंग भी मोती के समान था। उसकी देह की गठन निराली थी। संगमरमर के समान पैरों के ज़री के काम के जूते पड़े थे, जिन पर दो हीरे धक्-धक् चमक रहे थे।

कमरे में एक क़ीमती ईरानी क़ालीन का फ़र्श बिछा हुआ था, जो पैर रखते ही हाथ-भर नीचे धँस जाता था। सुगंधित मसालों से बने हुए शमादान जल रहे थे। कमरे में चार पूरे क़द के आईने लगे थे। संगमरमर के आधारों पर, सोने-चाँदी के फूलदानों में, ताज़े फूलों के गुलदस्ते रक्खे थे। दीवारों और दरवाजों पर चतुराई से गूँथी हुई नागकेसर और चंपे की मालाएँ झूल रही थीं, जिनकी सुगंध से कमरा महक रहा था। कमरे में अनगिनत बहुमूल्य कारीगरी की देश-विदेश की वस्तुएँ करीने से सजी हुई थीं।

बादशाह दो दिन से शिकार को गए थे। आज इतनी रात हो गई, अभी तक नहीं आए। सलीमा चाँदनी में दूर तक आँखें बिछाए सवारों की गर्द-देखती रही। आख़िर उससे स्थिर न रहा गया। वह खिड़की से उठ कर, अनमनी-सी होकर मसनद पर आ बैठी।

उम्र और चिंता की गर्मी जब उससे सहन न हुई, तब उसने अपनी चिकन की ओढ़नी भी उतार फेंकी, और आप-ही-आप झुँझलाकर बोली–"कुछ भी अच्छा नहीं लगता। अब क्या करूँ?" इसके बाद उसने पास रक्खी बीन उठा ली। दो-चार उँगली चलाई, मगर स्वर न मिला। उसने भुनभुनाकर कहा–"मर्दों की तरह यह भी मेरे वश में नहीं है।" सलीमा ने उकता कर उसे रख कर दस्तक दी। एक बाँदी दस्तबस्ता आ हाज़िर हुई।

बाँदी अत्यन्त सुन्दरी और कमसिन थी। उसके सौंदर्य में एक गहरे विषाद की रेखा और नेत्रों में नैराश्य की स्याही थी। उसे पास बैठने का हुक्म देकर सलीमा ने कहा–"साक़ी, तुझे बीन अच्छी लगती है या बाँसुरी?"

बाँदी ने नम्रता से कहा–"हुजूर जिसमें खुश हों।"

सलीमा ने कहा–"पर तू किसमें खुश है?"

बाँदी ने कंपित स्वर में कहा–"सरकार! बाँदियों की खुशी ही क्या?"

क्षण-भर सलीमा ने बाँदी के मुख की तरफ़ देखा–वैसा ही विषाद, निराशा और व्याकुलता का मिश्रण हो रहा था!

सलीमा ने कहा–"मैं क्या तुझे बाँदी की नज़र से देखती हूँ?"

"नहीं, हज़रत की तो लौंडी पर खास मेहरबानी है।"

"तब तू इतनी उदास, झिझकी हुई और एकांत में क्यों रहती है? जब से तू नौकर हुई है, ऐसी ही देखती हूँ। अपनी तकलीफ़ मुझसे तो कह प्यारी साक़ी!"

इतना कह कर सलीमा ने उसके पास खिसक कर उसका हाथ पकड़ लिया।

बाँदी काँप गई। पर बोली नहीं।

सलीमा ने कहा–"क़समिया! तू अपना दर्द मुझसे कह, तू इतनी उदास क्यों रहती है?"

बाँदी ने कंपित स्वर से कहा–"हुजूर क्यों इतनी उदास रहती हैं?"

सलीमा ने कहा–"इधर जहाँपनाह कुछ कम आने लगे हैं। इसी से तबियत ज़रा उदास रहती है।"

बाँदी–"सरकार! प्यारी चीज न मिलने से इंसान को उदासी आ ही जाती है। अमीर और ग़रीब, सभी का दिल तो दिल ही है।"

सलीमा हँसी। उसने कहा–"समझी। तब तू किसी को चाहती है? मुझे उसका नाम बता, मैं उसके साथ मेरी शादी करा दूँगी।"

साक़ी का सिर घूम गया। एकाएक उसने बेगम की आँखों से आँखें मिलाकर कहा–"मैं आपको चाहती हूँ!"

सलीमा हँसते-हँसते लोट गई। उस मदमाती हँसी के वेग में उसने बाँदी का कंपन नहीं देखा। बाँदी ने बंशी लेकर कहा–"क्या सुनाऊँ?"

बेगम ने कहा–"ठहर, कमरा बहुत गर्म मालूम देता है। इसके तमाम दरवाज़े और

खिड़कियाँ खोल दे। चिरागों को बुझा दे, चटखती चाँदनी का लुत्फ उठाने दे, और वे फूल-मालाएँ मेरे पास रख दे।"

बाँदी उठी। सलीमा बोली–"सुन, पहले एक ग्लास शरबत दे, प्यासी हूँ।"

बाँदी ने सोने के ग्लास में खुशबूदार शरबत बेगम के सामने ला धरा।

बेगम ने कहा–"उफ्! यह तो बहुत गर्म है। क्या इसमें गुलाब नहीं दिया?"

बाँदी ने नम्रता से कहा–"दिया तो है सरकार!"

"अच्छा, इसमें थोड़ा-सा इस्तंबोल और मिला।"

साक़ी ग्लास लेकर दूसरे कमरे में चली गई। इस्तंबोल मिलाया, और भी एक चीज़ मिलाई। फिर वह सुवासित मदिरा का पात्र बेगम के सामने ला धरा।

एक ही साँस में उसे पीकर बेगम ने कहा–"अच्छा, अब सुना। तूने कहा था कि तू मुझे प्यार करती है, सुना, कोई प्यार का ही गाना सुना।"

इतना कह और ग्लास को ग़लीचे पर लुढ़का कर मदमाती सलीमा उस कोमल मखमली मसनद पर खुद भी लुढ़क गई, और रस भरे नेत्रों से साक़ी की ओर देखने लगी। साक़ी ने वंशी का सुर मिलाकर गाना शुरु किया–

'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी–'

बहुत देर तक साक़ी की वंशी और कंठ-ध्वनि कमरे में घूम-घूमकर रोती रही। धीरे-धीरे साक़ी खुद भी रोने लगी। साक़ी मदिरा और यौवन के नशे में चूर होकर झूमने लगी।

गीत खत्म करके साक़ी ने देखा, सलीमा बेसुध पड़ी है। शराब की तेजी से उसके गाल एकदम सुर्ख हो गए हैं, और तांबूल-रंजित होंठ रह-रहकर फड़क रहे हैं। साँस की सुगंध से कमरा महक रहा है। जैसे मंद पवन से कोमल पत्ती काँपने लगी है, उसी प्रकार सलीमा का वक्षस्थल धीरे-धीरे काँप रहा है। प्रस्वेद की बूँदे ललाट दीपक के उज्ज्वल प्रकाश में, मोतियों की तरह चमक रही है।

वंशी रख कर साक़ी क्षण-भर बेगम के पास आकर खड़ी हुई। उसका शरीर काँपा, आँखें जलने लगीं, कंठ सूख गया। वह घुटने के बल बैठ कर बहुत धीरे-धीरे अपने आँचल से बेगम के मुख का पसीना पोंछने लगी। इसके बाद उसने झुककर बेगम का मुँह चूम लिया।

इसके बाद ज्यों ही उसने अचानक आँख उठा कर देखा, खुद दीन-दुनिया के मालिक शाहेजहाँ खड़े उसकी यह करतूत अचरज और क्रोध से देख रहे हैं।

साक़ी को साँप डस गया। वह हत्-बुद्धि की तरह बादशाह का मुँह ताकने लगी।

बादशाह ने कहा–"तू कौन है? और, यह क्या कर रही थी?"

साक़ी चुप खड़ी रही। बादशाह ने कहा–"जवाब दे!"

साक़ी ने धीमे स्वर में कहा–"जहाँपनाह! कनीज़ अगर कुछ जवाब न दे तो?"

बादशाह सन्नाटे में आ गए। बाँदी की इतनी स्पर्धा!

उन्होंने कहा–"मेरी बात का जवाब नहीं? अच्छा तुझे नंगी करके कोड़े लगाए जायेंगे!"

साक़ी ने अकंपित स्वर में कहा–"मैं मर्द हूँ!"

बादशाह की आँखों में सरसों फूल उठी। उन्होंने अग्निमय नेत्रों से सलीभा की ओर देखा। वह बेसुध पड़ी सो रही थी। उसी तरह उसका भरा यौवन खुला पड़ा था। उनके मुँह से निकला–"उफ् फ़ाहशा!" और तत्काल उनका हाथ तलवार की मूठ पर गया। फिर उन्होंने घूमकर कहा–"दोज़ख़ के कुत्ते! तेरी यह मजाल!"

फिर कठोर स्वर से पुकारा–"मादूम!"

क्षण भर में एक भयंकर रूपवाली तातारी औरत बादशाह के सामने अदब से आ खड़ी हुई। बादहशाह ने हुक्म दिया–"इस मर्दूद को तहखाने में डाल दे। ताकि बिना खाए पिए मर जाये।"

मादूम ने अपने कर्कश हाथों से युवक का हाथ पकड़ा और ले चली। थोड़ी देर में दोनों एक लोहे के मजबूत दरवाजे के पास आ खड़े हुए। तातारी बाँदी ने चाभी निकाल दरवाजा खोला, और कैदी को भीतर ढकेल दिया। कोठरी की गच क़ैदी का बोझ ऊपर पड़ते ही काँपती हुई नीचे को धसकने लगी!

2

प्रभात हुआ। सलीमा की बेहोशी दूर हुई वह चौंक कर उठ बैठी। बाल सँवारे, ओढ़नी ठीक की, और चोली के बटन कसने को आईने के सामने जा खड़ी हुई। खिड़कियाँ बंद थीं। सलीमा ने पुकारा–"साक़ी! प्यारी साक़ी! बड़ी गर्मी है, जरा खिड़की तो खोल दो। निगोड़ी नींद ने तो आज गज़ब ढा दिया। शराब कुछ तेज थी।"

किसी ने सलीमा की बात न सुनी। सलीमा ने ज़रा ज़ोर-ज़ोर से पुकारा–"साक़ी!"

जवाब न पाकर सलीमा हैरान हुई। वह खुद खिड़की खोलने लगी। मगर खिड़कियाँ बाहर से बंद थीं। सलीमा ने विस्मय से मन-ही-मन कहा–"क्या बात है? लौडियाँ सब क्या हुईं?"

वह द्वारा की तरफ चली। देखा, एक तातारी बाँदी नंगी तलवार लिए पहरे पर मुस्तैद खड़ी है। बेगम को देखते ही उसने सिर झुका लिया।

सलीमा ने क्रोध से कहा–"तुम लोग यहाँ क्यों हो?"

"बादशाह के हुक्म से।"

"क्या बादशाह आ गए!?"

"जी हाँ।"

"मुझे इत्तिला क्यों नहीं की?"

"हुक्म नहीं था।"

"बादशाह कहाँ हैं?"

"जीनतमहल के दौलतखाने में।"

सलीमा के मन में अभिमान हुआ। उसने कहा–"ठीक है, खूबसूरती की हाट में जिनका कारबार है, वे मुहब्बत को क्या समझेंगे? तो अब ज़ीनतमहल की क़िस्मत खुली?"

तातारी स्त्री चुपचाप खड़ी रही। सलीमा फिर बोली "मेरी साक़ी कहाँ है?"

"क़ैद में।"

"क्यों?"

"जहाँपनाह का हुक्म।"

"उसका कुसूर क्या था?"

"मैं अर्ज़ नहीं कर सकती।"

"कैदखाने की चाभी मुझे दे, मैं अभी उसे छुड़ाती हूँ।"

"आपको अपने कमरे से बाहर जाने का हुक्म नहीं हैं।"

"तब क्या मैं भी कैद हूँ?"

"जी हाँ।"

सलीमा की आँखों में आँसू भर आये। लौटकर मसनद पर पड़ गई, और फूट-फूट कर रोने लगी। कुछ ठहर कर उसने एक खत लिखा–

"हुजूर! मेरा कुसूर माफ़ फ़रमावें। दिन-भर की थकी होने से ऐसी बेसुध सो गई कि हुजूर के इस्तक़बाल में हाजिर न रह सकी। और, मेरी उस प्यारी लौंडी की भी जां-बक्शी की जाये। उसने हुजूर के दौलतखाने में लौट आने की इत्तिला मुझे वाजिबी तौर पर न देकर बेशक भारी कुसूर किया है। मगर वह नई, कमसिन, ग़रीब और दुखिया है।

कनीज

सलीमा"

चिट्ठी बादशाह के पास भेज दी गई। बादशाह की तबियत बहुत ही नासाज़ थी। तमाम हिंदोस्तान के बादशाह की औरत फ़ाहशा निकले। बादशाह अपनी आँखों से पर-पुरुष को उसका मुँह चूमते देख चुके थे। वह गुस्से से तलमला रहे थे, और ग़म ग़लत करने को अंधा-धुंध शराब पी रहे थे। ज़ीनतमहल मौक़ा देख कर सौतिया डाह का बुखार निकाल रही थी। तातारी बाँदी को देख कर बादशाह ने आग होकर कहा–"क्या लाई है?"

बाँदी ने दस्तबस्ता अर्ज़ की–"खुदावंद! सलीमा बीबी की अर्जी है।" इतना कह कर उसने सामने खत रख दिया।

बादशाह ने गुस्से से होंठ चबाकर कहा–"उससे कह दे कि मर जाये!" इसके बाद खत में एक ठोकर मार कर उन्होंने उधर से मुँह फेर लिया।

बाँदी लौट आई। बादशाह का जवाब सुन कर सलीमा धरती पर बैठ गई। उसने बाँदी

को बाहर जाने का हुक्म दिया, और दरवाज़ा बंद करके फूट-फूट कर रोई। घंटों बीत गए, दिन छिपने लगा। सलीमा ने कहा–"हाय! बादशाहों की बेगम होना भी क्या बदनसीबी है! इंतजारी करते-करते आँखें फूट जायें, मिन्नतें करते-करते ज़बान घिस जाये, अदब करते-करते जिस्म टुकड़े-टुकड़े हो जाये, फिर भी इतनी-सी बात पर कि मैं ज़रा सो गई, उनके आने पर जग न सकी, इतनी सज़ा? इतनी बेइज़्ज़ती? तब मैं बेगम क्या हुई? जीनत और बाँदियाँ सुनेंगी, तो क्या कहेंगी? इस बेइज़्ज़ती के बाद मुँह दिखाने-लायक कहाँ रही? अब तो मरना ही ठीक है। अफसोस मैं किसी ग़रीब किसान की औरत क्यों न हुई!"

धीरे-धीरे स्त्रीत्व का तेज उसकी आत्मा में उदय हुआ। गर्व और दृढ़ प्रतिज्ञा के चिन्ह उसके नेत्रों में छा गए। वह साँपिन की तरह चपेट खाकर उठ खड़ी हुई। उसने एक और खत लिखा–

"दुनिया के मालिक! आपकी बीवी और कनीज़ होने की वजह से मैं आपके हुक्म को मानकर मरती हूँ। इतनी बेइज़्ज़ती पाकर एक मलिका का मरना ही मुनासिब भी है। मगर इतने बड़े बादशाह को औरतों को इस क़दर नाचीज तो न समझना चाहिए कि एक अदना-सी बेवकूफी की इतनी कड़ी सज़ा दी जाये। मेरा कुसूर सिर्फ इतना ही था कि मैं बेखबर सो गई थी। खैर, सिर्फ एक बार हुजूर को देखने की ख्वाहिश लेकर मरती हूँ। मैं उस पाक परवरदिगार के पास जाकर अर्ज़ करूँगी कि वह मेरे शौहर को सलामत रक्खे।

सलीमा"

खत को इत्र से सुवासित करके ताज़े फूलों के एक गुलदस्ते में इस तरह रख दिया कि जिससे किसी की उस पर फ़ौरन ही नज़र पड़ जाये। इसके बाद उसने जवाहरात की पेटी से एक बहुमूल्य अँगूठी निकाली, और कुछ देर तक आँख गड़ागड़ाकर उसे देखती रही। फिर उसे चाट गई।

3

बादशाह शाम की हवाखोरी को नज़र-बाग़ में टहल रहे थे। दो-तीन खोजे घबराए हुए आए, और चिट्ठी पेश करके अर्ज़ की–"हुजूर, ग़ज़ब हो गया! सलीमा बीबी ने जहर खा लिया है, और वह मर रही हैं।"

क्षण-भर में बादशाह ने खत पढ़ लिया। झपटे हुए सलीमा के महल पहुँचे। प्यारी दुलहिन सलीमा ज़मीन में पड़ी है। आँखें ललाट पर चढ़ गई हैं। रंग कोयले के समान हो गया है। बादशाह से न रहा गया। उन्होंने घबराकर कहा–"हकीम, हकीम को बुलाओ।" कई आदमी दौड़े।

बादशाह का शब्द सुनकर सलीमा ने उनकी तरफ देखा और धीमे स्वर में कहा–"ज़हे-किस्मत।"

बादशाह ने नज़दीक बैठ कर कहा–"सलीमा! बादशाह की बेगम होकर क्या तुम्हें यही लाज़िम था?"

सलीमा ने कष्ट से कहा–"हुज़ूर! मेरा कुसूर बहुत मामूली था।"

बादशाह ने कड़े स्वर में कहा–"बदनसीब! शाही ज़नानख़ाने में मर्द को भेष बदलकर रखना मामूली कुसूर समझती है? कानों पर यक़ीन कभी न करता, मगर आँखों देखी को भी झूठ मान लूँ?"

जैसे हज़ारों बिच्छुओं के एक साथ डंक मारने से आदमी तड़पता है, उसी तरह तड़प कर सलीमा ने कहा–"क्या?"

बादशाह डर कर पीछे हट गए। उन्होंने कहा–"सच कहो, इस वक्त तुम खुदा की राह पर हो, यह जवान कौन था?"

सलीमा ने अकचका कर पूछा–"कौन जवान?"

बादशाह ने गुस्से से कहा–"जिसे तुमने साक़ी बना कर पास रक्खा था?"

सलीमा ने घबराकर कहा–"हैं! क्या वह मर्द है?"

बादशाह–"तो क्या तुम सचमुच यह बात नहीं जानतीं?"

सलीमा के मुँह से निकला–"या खुदा!"

फिर उसके नेत्रों से आँसू बहने लगे। वह सब मामला समझ गई। कुछ देर बाद बोली–"ख़ाविंद! तब तो कुछ शिकायत ही नहीं। इस कुसूर की तो यही सज़ा मुनासिब थी। मेरी बदगुमानी माफ़ फ़रमाई ज़ाये। मैं अल्लाह के नाम पर सच कहती हूँ, मुझे इस बात का कुछ भी पता नहीं है।"

बादशाह का गला भर आया। उन्होंने कहा–"तो प्यारी सलीमा! तुम बेकुसूर ही चलीं?" बादशाह रोने लगे।

सलीमा ने उनका हाथ पकड़ कर अपनी छाती पर रख कर कहा–"मालिक मेरे! जिसकी उम्मीद न थी, मरते वक्त वह मज़ा मिल गया। कहा-सुना माफ़ हो, और एक अर्ज़ लौंडी की मंजूर हो।"

बादशाह ने कहा–"जल्दी कहो सलीमा!"

सलीमा ने साहस से कहा–"इस जवान को माफ कर देना।"

इसके बाद सलीमा की आँखों से आँसू बह चले, और थोड़ी ही देर में वह ठंडी हो गई।

बादशाह ने घुटनों के बल बैठ कर उसका ललाट चूमा और फिर बालक की तरह रोने लगे।

4

ग़ज़ब के अँधेरे और सर्दी में युवक भूखा-प्यासा पड़ा था। एकाएक घोर चीत्कार करके किवाड़े खुले। प्रकाश के साथ ही एक गंभीर शब्द तहखाने में भर गया–"बदनसीब

नौजवान! क्या होशहवास में है?"

युवक ने तीव्र स्वर में पूछा–"कौन?"

जवाब मिला–"बादशाह!"

युवक ने कुछ भी अदब किए बिना कहा–"यह जगह बादशाहों के लायक़ नहीं है–क्यों तशरीफ़ लाए हैं?"

"तुम्हारी कैफ़ियत नहीं सुनी थी, उसे सुनने आया हूँ।"

कुछ देर चुप रह कर युवक ने कहा–"सिर्फ सलीमा को झूठी बदनामी से बचाने के लिये कैफ़ियत देता हूँ, सुनिए–सलीमा जब बच्ची थी, मैं उसके बाप का नौकर था। तभी से मैं उसे प्यार करता था। सलीमा भी प्यार करती थी पर वह बचपन का प्यार था। उम्र होने पर सलीमा पर्दे में रहने लगी, और फिर वह शहनशाह की बेगम हुई। मगर मैं उसे भूल न सका। पाँच साल तक पागल की तरह भटकता रहा। अंत में भेष बदल कर बाँदी की नौकरी कर ली। सिर्फ उसे देखते रहने और ख़िदमत करके दिन गुज़ार देने का इरादा था। उस दिन उज्ज्वल चाँदनी, सुगंधित पुष्पराशि, शराब की उत्तेजना और एकांत ने मुझे बेबस कर दिया। उसके बाद मैंने आँचल से उसके मुख का पसीना पोंछा, और मुँह चूम लिया। मैं इतना ही खताबार हूँ। सलीमा इसकी बाबत कुछ नहीं जानती।"

बादशाह कुछ देर चुपचाप खड़े रहे। इसके बाद वह बिना दरवाज़ा बंद किए ही धीरे-धीरे चले गये।

5

सलीमा की मृत्यु को 10 दिन बीत गए। बादशाह सलीमा के कमरे में ही दिन-रात रहते हैं। सामने, नदी के उस पार पेड़ों के झुरमुट में सलीमा की सफेद क़ब्र बनी है। जिस खिड़की के पास सलीमा बैठी उस दिन रात को बादशाह की प्रतीक्षा कर रही थी, उसी खिड़की में, उसी चौकी पर बैठे हुए बादशाह उसी तरह सलीमा की कब्र दिन-रात देखा करते हैं। किसी को पास आने का हुक्म नहीं। जब आधी रात हो जाती है, तो उस गंभीर रात्रि के सन्नाटे में एक मर्मभेदिनी गीत-ध्वनि उठ खड़ी होती है। बादशाह साफ़-साफ़ सुनते हैं, कोई करुण-कोमल स्वर में गा रहा है–

'दुखवा मैं कोसे कहूँ मोरी सजनी ··· '

□

न्यायपक्ष

रायकृष्ण दास
(जन्म : सन् 1892 ई.)

1

आकाश में दो-चार छोटे-छोटे घनखण्ड दीख पड़ते थे। वे चल रहे थे, पर इतनी अलस गति से कि संध्या की शोभा देखने के लिए ठहर गए हों। समय के साथ वे अपना रंग बदल रहे थे; अब क्रमशः लोहित से लोह-वर्ण होने की तैयारी थी। चेतन मनुष्यों से तो जड़ बादल ही अच्छे, जो समय के संग अपना रंग तो बदल लेते हैं।

सामने के क्षितिज की वृक्षावली के गहरे नीले रंग पर बस्ती का खाकी धुआं फैल रहा था। और वह कुहरे से ढकी पर्वत-श्रेणी-सी जान पड़ती थी।

मैं अपने बँगले के बरामदे में अपने एक पड़ोसी मित्र और अपनी सहधर्मिणी के साथ बैठा हुआ था। दिसम्बर की सन्ध्या के पांच बज चुके थे। सर्द हवा चल रही थी।

मैं रोज क्लब नहीं जाता था। घर पर ही टेनिस खेल लिया करता और बाग में टहल लेता। मेरे मित्र को बाग से विशेष प्रीति थी। उन्होंने मेरी बाटिका जी लगा कर सँवार दी थी। उन्हें हम लोग आदर्श जन एवं अपना कुटुम्बी समझते और मुझे तो उनका साथ छोड़, क्लब जाना न भाता। पर क्या करता, रूप बनाये रहना पड़ता था।

हम लोग अभी टहल कर आये थे। बातें शुरू होने ही को थीं कि मुझे एक पंजाबी सज्जन आते दीख पड़े। अपने प्रान्त के आदमी को देख कर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ। श्रीमती से बोला–"लो, यह कौन आए!" उन्होंने भी प्रसन्न होकर उत्तर दिया–"मैं तो नहीं जानती। आप जानते है?"

आगन्तुक ने पास पहुँच कर पूछा–"साहनी साहब, मुझे पिछाना जी, अन्दर आ सकता हूँ?"

"शौक से, पूछना क्या है।"

बरामदे में केवल तीन ही कुर्सियां थीं। मैं बेयरा को और कुर्सी लाने को आवाज देकर

खड़ा हो गया। वे शिष्टाचार करने लगे। मैंने बात टालने और कौतूहल-शान्ति के लिए कहा–"चंगे हो जी, माफ करना, आपकी सूरत तो मैंने बहुत बार देखी है, पर पिछाना नहीं"।–चाकरी के चरखे में मैं दुनियां की बहुतेरी बातें भूल गया था।

"आपकी कृपा से चंगा हूँ"–उन्होंने पंजाबी में उत्तर दिया–"आपका मुझे न पहचानना कोई ताज्जुब नहीं। इधर कई वर्षों से अव्वल तो उधर आपका आना नहीं हुआ, दूसरे जब आप आये भी तब मैं संयोग से वहां था नहीं। मैं आपका पुराना हमसाया दुनीचन्द हूँ।"

मैं, अपने दोनों हाथों में उनका दाहिना हाथ दबाकर पंजाबी में बोला–"अक्खां: पण्डित दुनीचन्दजी! इधर कैसे आ पड़े? माफ़ करना जी, पहिचाना नहीं।"–फिर श्रीमती के प्रति मैंने कहा–"इनको पहचाना न?"

"पहिले ही। शकल से नहीं पहिचाना था, परन्तु बोली सुनते ही पहिचान लिया।"

बेयरा कुर्सी रख गया था। मैं उन्हें बिठाकर बैठ गया। घर से प्राय: रोज़ चिट्ठी आती है, पर पड़ोसी के मुंह से हाल सुनने की बात कुछ और ही होती है। हम लोग उनसे छोटी-छोटी बातें पूछने लगे। बातें बराबर प्रान्तीय बोली में हो रही थीं।

मेरे पड़ोसी मित्र ने कहा–"साहनी, अब तुम पण्डितजी से बातें करो, मैं चल दिया।"

"जाओगे? अच्छा।"–हम लोगों में बिल्कुल शिष्टाचार न था।

श्रीमती ने उनसे पूछा–"आप तो अभी चाय पीने वाले थे?"

वे, "आज के बदले कल" कहकर और अपना टेनिस का थपका उठाकर उसे नचाते हुए लम्बे हुए। मैं पुकार कर बोला–"आज की नुकसानी लेते आना!" फिर पण्डितजी से पूछा–"कहिए, कारबार कैसा चलता है?"

"सब जहां-का-तहां हो गया।"

"अरे! यह कैसे?"

"दुनिया के क़ायदे से।"

"अब, इधर कैसे आना हुआ?"

"रूठे भाग्य को खोजते-खोजते।"

श्रीमती ने कहा–"कलकत्ते जाते होंगे?"

"हां जी।"

मैंने पूछा–"यहां कहां ठहरे हैं?"

"कहीं नहीं। रेल से उतर कर धर्मशाला में असबाब रखता हुआ सीधा इधर चला आया।"

"क्यों, यहां क्यों न लाए?"

"ठहरना होता तब न। दूसरी गाड़ी से रवाना हो जाऊँगा।"

"फिर यहां क्यों उतर पड़े?"

"आप लोगों से मिलने और कर्ज लेने के लिए। मैं तो ब्राह्मण ठहरा–भीख भी मांग सकता हूँ। पर जब रोज़गार करने निकला, तब भीख कैसी?"

सिर नीचा किये हुए मैंने पूछा–"आपको कितना चाहिए?"–सहधर्मिणी मेरा मुख देख रही थी।

"जितना दे सकिए।"

आज महीने की 16वीं तारीख़ थी, परन्तु मेरे पास कुछ आने बच रहे थे। जवानी के जोश में जोड़ना थोड़े ही सूझता है। तिस पर मुझे तो इस बात का अभिमान था कि कुछ बड़ों की कमाई तो फूंकता ही नहीं, जब रुपयों के लिए नौकरी तक स्वीकार की, तब उन्हें खर्च क्यों न करें।

मैंने श्रीमती को देखा। वह मेरा मतलब समझ गईं, और बेयरा को बुलाकर उन्होंने पूछा कि तुम्हारे पास कुछ रुपये हैं?

"जी मेम साहब, इस वक्त तो मेरे पास ग्यारह रूपये हैं।"

"अच्छा ले आओ" –मैंने कहा।

मैं 'मेम साहब' कोई आदर की संज्ञा नहीं समझता। हमारे पंजाब के 'बानू साहबा' वा 'बीबी साहिबा' में और इसमें ज़मीन-आसमान का अन्तर है। हमारे यहां तो किसी साधारण स्त्री का सम्बोधन उन पदों से कदापि नहीं किया जा सकता, पर यहां तो इंजिन-ड्राईवर की स्त्री भी 'मेम साहब' है। बात पड़ने पर अँग्रेजों से मैं यह कह भी देता। किन्तु मैं जिस इन्डियन सिविल सर्विस में हूँ, उसमें दुर्भाग्यवश देशियों की संख्या इतनी कम है, उनमें भी–कहते लज्जा आती है–साहसी और देशाभिमानी इतने थोड़े हैं कि लाचार होकर हम लोगों को स्वांग रचना पड़ता है। बेयरा रुपये ले आया। मैंने लजाते हुए उन्हें दुनीचन्द के हाथ में रख कर कहा–"खेद है, इससे अधिक आपकी सेवा नहीं कर सकता।"

"इतना तो ज़रूरत से ज्यादा है। जब बद-किस्मती से जंग करने निकला हूँ तो कलकत्ते का किराया भर बहुत था। वहां देख लेता। अच्छा मैं जाऊँ? इस वक्त आपका शुक्रिया किस मुंह से अदा करूँ। जिस दिन यह क़र्ज चुका सकूंगा उस दिन शुक्र करूँगा।"

पण्डित जी खड़े हो गये। हम दोनों ने भोजन का अनुरोध किया। किन्तु उन्होंने कहा कि ट्रेन न मिलेगी। अन्त को एक गिलास दूध लेकर वे रवाना हुए।

पं० दुनीचन्द हमारे नगर के मध्यश्रेणी के व्यापारी थे। अपने गुणों से सर्वप्रिय हो गये थे। उनका यह युगान्तर देखकर हम लोग देर तक खेद करते रहे।

ठंड ने कहा–यह तो संसार की लीला है! उठो, घर में जाकर अपना काम देखो!

2

मुझे नौकरी करते तेरह वर्ष हो चुके थे। मेरे साथ में कितने ही गोरे सिविलियन, कलक्टर हो गए थे, पर मैं अभी जज ही बना था। आंसू पोंछने के लिए कैसर-ए-हिन्द स्वर्ण-पदक दे दिया गया था। उस समय मैं पटने में नियुक्त था।

प्रातःकाल मैं अपने दफ्तर में बैठा काम कर रहा था। कुहरा अभी तक छँटा न था। बीच-बीच में सिर उठा कर उसे देख लेता, उसमें मुझे अनेकों स्मृति-चित्र दीख पड़ते।

अर्दली ने आकर मीठापुर थाने के दारोगा की इत्तला की। काम खत्म करके मैंने उन्हें बुलाया। सलाम करके, इशारा पाने पर दारोगा ज़ाहिदअली सामने की कुर्सी पर बैठ गए। उन्होंने गिड़गिड़ाकर पूछा–"हुजूर का मिजाज अच्छा है?"

मैंने कहा–हां; कोई खास बात है?"

"गरीब परवर, एक वाकए में अजीब कैफियत हो रही है"–उन्होंने बिहार के खिंचावदार लहजों में उत्तर दिया।

मैंने कुछ आश्चर्य से प्रश्न किया–"ज़ाहिदअली, क्या बात है?"

"खुदाबन्द, कल एक बदमाश पकड़ा गया है, वह हुजूर को सफाई में लिखाने कहता है!"

"मुझे खुलासा हाल सुनाओ।"

"हुजूर, कल रात को कोई आठ बजे एक मुलजिम थाने पर लाया गया, उसने पुलिस के सिपाही को पीटा था। एक इक्केवाले की शरारत से यह फ़ौजदारी हुई है। उस बदमाश ने इसी इक्केवाले की सफ़ाई दी है। हुजूर का नाम भी वह शख्श अपने चाल-चलन की सफ़ाई के बारे में लेता है।"

"क्या यहीं का रहनेवाला है? उसका नाम?"

दारोगा की बातें मेरे लिये पहेली से बढ़कर थीं।

"हुजूर, उसका नाम है धूनीचन्द। हुजूर के वतन का रहनेवाला है।"

"धूनीचन्द नहीं दुनीचन्द कहो"–मैंने ज़ोर देकर कहा–"हां, उन्होंने क्या किया?"–मैं मानो गाढ़ी नींद से जाग पड़ा था।

दारोगा आदि से अन्त तक सब कथा सुना गये। मैंने दांतों से पेंसिल काटते हुए और अपने चमकते जूतों में अपने ऊपरी धड़ का प्रतिबिम्ब देखते हुए पूछा–"क्या उन्हें रात-भर हवालात में रक्खा था?"

"हुजूर, बिना जाने छोड़ कैसे देता?"

"जब वह मेरा नाम लेते थे तब मुझसे टेलीफोन में पूछ क्यों न लिया?"–मैंने कड़ी आवाज़ में उन पर आंखें गड़ाकर कहा।

"जी-ई-ई इतनी तो-ओ-ओ गलती हुई-ई-ई!"–उसने सिर नीचा करके हाथ में का कागज़ मरोड़ते हुए कहा।

मैंने जी में सोचा–"बच्चा, जैसी गलती हुई मैं जानता हूँ"–और उससे पूछा–"रोज़नामचा लाये हो?"

"जी, नहीं।"

"अच्छा, जाकर पं० दुनीचन्द को छोड़ दो, कचहरी में मौजूद रहने को कह देना।"

मुकदमा मेरी इजलास में था क्योंकि मैं ही शहर-हाकिम (सिटी मैजिस्ट्रेट) था।

अदालत में पण्डितजी मौजूद थे। मैंने उनसे मुकदमे के बारे में कुछ न पूछा। सिर्फ एक तेज वकील से कह दिया कि आप इनके वकील बनकर मुकदमे की पैरवी कीजिये। मेरा और इक्केवाले का नाम सफ़ाई के गवाहों में लिखा दीजियेगा। फ़ीस का बिल मेरे पास भेजियेगा।

यथा-समय पण्डितजी का मुकदमा पेश हुआ। उनके वकील ने एक दरखास्त दी कि अदालत का हाकिम मेरे मुवक्किल की सफ़ाई का गवाह है, लिहाज़ा यह मुकदमा दूसरी अदालत में जाना चाहिए। मैंने दरखास्त मंजूर करके कलक्टर के नाम मुक़दमा दूसरे हाकिम के यहां भेजने का रूबकार लिखा दिया।

इजलास खत्म करके मैं बाहर आया, तो पण्डितजी को खड़े देखा। उनसे सब हाल सुनकर मैंने पूछा–अब आप कहां ठहरेंगे?

"धर्मशाला में। आपके यहां आना मुनासिब न होगा।"

"मैं भी यही समझता हूँ।"

गाड़ी पर मैं यह सोचते-सोचते अपने बँगले पहुँचा कि इस मामले को मैं अनायास ही सबेरे तय कर सकता था। जिस समय थानेदार मेरे पास आया था, उसे यह हुक्म देना अलम् होता कि मामला न चलाओ। मेरी जगह यदि कोई गोरा जज होता तो वह ऐसे मामले में निश्चय ही ऐसा करता। फिर; मैंने ऐसा क्यों न किया? अज्ञात रूप से मेरे मन में अपने गोरे अधिकारियों का डर था। मैं शासक होकर भी शासित मात्र था। दास-जाति में जन्म लेने का यही फल है!

फिर, पण्डितजी को मैंने अपने ही यहां लाकर क्यों न रक्खा? जिस प्रकार स्वाधीन जातियों को सदा स्वतन्त्रता का गर्व रहता है, उसी भांति पराधीनता की भावना ने हमें भी तो अपना ग्रास बना रक्खा है।

3

उसी शाम को मैं क्लब गया। टेनिस खेलकर चुरुट पीने के कमरे में पहुँचा। हमारे कलक्टर वहां डटे हुए चुरुट पी रहे थे। वह दूसरे जोड़ से पहले टेनिस खेल चुके थे। मेरी उनकी मैत्री, अर्थात् परिचय था।

इधर-उधर की बातों के बाद उन्होंने पूछा–"क्यों साहनी, तुम उस 'बदमाश' की सफाई की गवाही दोगे?"

मैंने रुखाई से उत्तर दिया–" 'बदमाश' नहीं भलेमानस की।"

"खैर 'बदमाश' नहीं, भलामानस सही। क्या तुम उसके गवाह बनोगे?"

"डिक्सन, तुम मुझसे यह सवाल करते हो?"

डिक्सन ने रुकते-रुकते कहा–"क्यों? हां।"

"मैं समझा था कि तुम 'डेमाक्रसी' की जन्मभूमि में जन्मे हो।"

वह चुप थे। मेरे मुख पर मुस्कराहट थी। मैंने सोचा इस विषय पर कुछ और बातें

हो जाना अच्छा है। मैंने छेड़कर कहा–"क्या तुम नहीं समझते कि इस मामले में भी पुलिस दोषी है?"

"साहनी, दोषी हो भी तो वे हमारे आदमी हैं। अगर हमीं उनके पीछे पड़ेंगे तो काम कैसे चलेगा?"

मैं गम्भीरता से बोला–"तो क्यों डिक्सन, अपने आदमी के लिए सत्य को तिलाञ्जलि दे देनी चाहिए? शायद जब अपने ऊपर आ बनती है तब हम लोगों की नीति बदल जाती है। नहीं तो एक दिन मक्खन चुराने पर अपने खानसामा को तुमने पुलिस के सुपुर्द न कर दिया होता!"

"वह तो प्रबन्ध की बात थी न? अगर उसे दण्ड न मिला होता तो आये दिन चोरियां होने लगतीं।"

"हां, उसी तरह यह भी प्रबन्ध की बात है। पुलिस के अफ़सर होकर हम लोग उन्हें ऐसी हरकतों से नहीं रोकते, उसी का तो यह फल है कि प्रतिदिन जनता के साथ, जिसके हम लोग सेवक हैं, पुलिस अन्याय करती है।"

"मगर साहनी, तुम भूलते हो, यदि पुलिस इन उपायों का उपयोग न करे, तो उसकी धाक न रह जाये और शासन करना असम्भव हो जायेगा।"

"विलायत में पुलिस कैसे शासन करती है?"

"वहां शिक्षा जो है।"

"इसमें दोष किसका है? हम लोग भी मनुष्य हैं। क्या ऐसी उदार गवर्नमेन्ट को यह उचित है, कि मनुष्यों को पशु बनाये रहे और उनका पाशविक शासन होने दे?"

डिक्सन साहब कुछ गम्भीर हो गए थे। वह शायद भारतवासियों के मनुष्य होने पर सन्देह कर रहे थे। बात टालने के लिए उन्होंने विगत रात्रि को सियालदा में रेल लड़ने की चर्चा छेड़ दी।

मैंने बेयरा से एक 'जिंजर बियर' मँगाया और कुछ देर तक ट्रेनों की टक्कर की चर्चा करके रवाना हुआ। बाहर बरसाती में दो फौजी अफ़सर–कप्तान विलिस और लेफ्टिनेन्ट फ्रीवुड, खड़े बातें कर रहे थे। मुझे देखकर विलिस ने कहा–"आओ जी, साहनी, यह पुलिस का क्या मामला है?"

मैंने थोड़े में समझा दिया।

फ्रीवुड कहने लगा–"हां, ये पुलिसवाले बड़े पाजी होते हैं। इन्हें तो हम लोग जानते हैं। तुम क्या जानो? रोज़ हमारे सिपाहियों से काम जो पड़ा करता है। तुम्हारे सामने तो वे मेमने बने रहते हैं।"

"मैं तुम लोगों से कहीं अच्छा जानता हूँ।"

"देखो साहनी, तुम इस मामले में दबना मत"–मुझे एकटक देखते हुए विलिस ने कहा।

"दबना कैसा जी? अपने मातहत से दबना! जानते नहीं, मैं पञ्जाबी हूँ।" परन्तु बिजली की भांति मेरे मस्तिष्क में वे सब बातें दौड़ गई जो मैं कचहरी से लौटते हुए

सोच रहा था।

अस्तु, विलिस को उत्तर देकर में अपनी लेन्डो पर सवार हुआ। गाड़ी घर की ओर चली। विलिस दौड़कर पीछे के पांवदान पर उछल आया और मेरे कंधे पर हाथ रख कर कहने लगा–"आज हाथ-मिलौअल तो हुई ही नहीं।" मैंने अपना हाथ ऊँचा कर दिया। दोनों ओर से ज़ोर होने लगा। फ्रीवुड भी पीछे-पीछे दौड़ा आ रहा था। फाटक के पास पहुँचते-पहुँचते वह कप्तान से बोला–"क्यों अब कप्तानी से साईसी करने की सूझी है। चलो 'ब्रिज' मचे।" उसने विलिस की टांग खींचनी शुरु की। वह कूद कर लौटा। वह हमारे संग रोज़ ज़ोर किया करता। हम लोगों के शारीरिक बल में शुक्ल चतुर्दशी और पूर्णिमा का अन्तर था।

गाड़ी में मैं विचार-सागर में गोते खा रहा था।

घर पर ख़ाने के समय मैंने श्रीमती को क्लब की सारी कथा सुना दी।

बलवन्त कुंवर ने कुछ सोचकर कहा–"आखिर आप झगड़े में क्यों पड़ते हैं?"

"क्योंकि मेरा कर्त्तव्य है। क्या तुम्हारा समस्त ज्ञान कथन-मात्र के लिए है, जैसे इन्द्रायण की मिठास केवल सूंघने में ही मिलती है।"

"ना जी, मेरा मतलब वह न था। मैं तो यह कहती हूँ कि अपना मार्ग कण्टकित करने में क्या लाभ?"

मैंने खिलखिला कर हँसते हुए उत्तर दिया–"अक्खाः अक्खाः तुम चाहती हो कि मैं रिश्वत लूं? सुनार को कौन सी फर्मायश मिलेगी?"

श्रीमती ने हँसकर कहा–"मैं आपकी बातें बिल्कुल न समझी।"

"आज मैं यदि ईमानदारी छोड़कर बेईमानी पर कमर कसूं तो मेरा आगे का तार न बिगड़े। लोग अन्याय करने के लिए ही रिश्वत लेते हैं न? फिर ऐसी तरक्की रिश्वत के सिवा क्या ठहरेगी?"–मैंने बाएँ हाथ से देवी का पंजा दबाते हुए पूछा।

उत्तर मिला–"अब मुझे कुछ नहीं कहना है।"

कालिदास ने बहुत ठीक कहा है, वास्तव में "गृहिणी सचिवः मिथस्सखी प्रियशिष्या" है।

4

डिप्टी सिद्धनारायणसिंह के सामने पण्डित जी का मुकदमा पेश हुआ। पुलिस की रिपोर्ट इस भांति थी–

"बलबीर पाण्डे कानिस्टबिलं ······ गंज में अपनी डयूटी पर हाज़िर था। शुकरू इक्कावान शाहराह रोके हुए अपना इक्का खड़ा किए हुए था। बलवीर ने बारहा उससे इक्का हटाने को कहा, मगर उसने कुछ ख्याल न किया, उलटा टर्राने लगा। चुनांचे बलवीर ने घोड़े की लगाम पकड़कर 'हैकनीस्टैन्ड' की तरफ ले जाना चाहा, मगर मुलजिम धूनीमल (काटकर धुनीचन्द बनाया गया था) को जो उस वक्त शुकरू से कहीं का किराया तै कर रहा था, बलवीर की यह वाजिबी हरकत निहायत बुरी मालूम हुई

और वह एक बारगी झुंझलाकर कानिस्टबिल पर टूट पड़ा। लातों व घूसों से उसकी खूब गत बनाई, यहां तक कि वह जमीन पर गिर पड़ा व कई जगह चोट आ गई। अगर आसपास के दूकानदार बीच-बचाव न करते तो मुमकिन था कि उसे ज़रर शदीद पहुँचता ···।"

बलवीर के होश-हवास मेरी उपस्थिति के कारण बिल्कुल ठीक न थे। उसके मुंह से बयान और जिरह दोनों में कई सच्ची बातें निकल गईं। उसके गवाह भी झूठे होने के कारण और मुकदमे का रंग देखकर न ठहर सके।

ऐसी अवस्था में डिप्टी साहब को उचित था कि मुलजिम को रिहा कर देते। पर उन्होंने ऐसा न किया, क्योंकि कलक्टर ने उन्हें चुपचाप बुला कर डांट दिया था, कि चाहे मुकदमा कायम होने लायक न भी तो तो कायम किये बिना न रहना। मेरे भी गुप्तचर थे, अतः यह बात मुझसे छिपी न रह सकी।

इसमें उसका क्या उद्देश्य था, भगवान् ही जाने। क्योंकि यदि पण्डितजी रिहा कर दिये जाते तो वह फिर से उन्हें दण्ड दे सकता था। पर मुकदमा कायम हो जाने पर यदि मुलज़िम सफ़ाई देकर बरी हो जाये तो कलक्टर के किए कुछ नहीं हो सकता। सम्भवतः डिक्सन ने केवल मुझे कदर्थित करने के लिए ही ऐसा किया था।

अस्तु; अब डिप्टी साहब ने मुलज़िम और उसके गवाहों का बयान लेना आरम्भ किया। मेरे वहां रहने से वे बेचारे सकुच-सकुचकर, कम्पित हृदय से बहुत बाज़ाब्तगी के साथ सारी कार्रवाई कर रहे थे। उनकी सांप-छछूंदर की गति हो रही थी। उधर कलक्टर की आज्ञा, इधर मेरी मौजूदगी डिप्टी कलक्टरों की दशा पर कभी-कभी मुझे बड़ा तरस आता है। बाहर तो ये लोग डिप्टी साहब होते हैं, पर कलक्टर के सामने वे कुत्तों से भी गये-बीते हैं।

पण्डित दुनीचन्द ने अपने बयान में कहा कि "मैं मिस्टर डी० एन० साहनी से ऋण लेकर धर्मशाला को लौट रहा था। वहां से असबाब लेकर स्टेशन ट्रेन पकड़ने जा रहा था। मार्ग में देखा कि जैसे ही शुरु का इक्का घटना-स्थल पर रुका, वैसे ही बलवीर ने उससे पैसा मांगना शुरु किया। इक्कावान ने कहा–'सरकार दिन-भर में जो कमाया था, उससे टट्टू के लिए दाना, घास और लड़कों के लिए सत्तू लेकर रख आए हैं, अब कोई सवारी मिले तो उससे पैसे लेकर आपको दे।' बलवीर ने कहा कि, 'अबे! पैसे देगा या बातें बनावेगा? हटा, यहां से इक्का।' इस पर उसने वहां से कदम-कदम घोड़ा बढ़ाया। तब चपरासी बोला कि 'अबे, पैसे तो दिए जा, कहां भागा जाता है।'–और दौड़कर उसका घोड़ा थाम लिया। शुकरु ने उत्तर दिया–'मालिक, पैसे कहां से दें? हम तो पैसा बना नहीं सकते।'–इतना सुनना था कि बलवीर आपे के बाहर हो गया और मां, बहिन की सुनाता हुआ उस पर टूट पड़ा, तथा उसे डन्डे जमाने लगा। वह दोनों हाथों से अपना सिर बचाने लगा। बलवीर बोला–'साले, तूने गुस्ताखी की है, चल तेरा चालान करता हूँ।' मैंने यह देखकर कहा–'यह सरकारी राज्य है; तुम ऐसा नहीं कर सकते।' वह

कड़क कर बोला–'चुप रह बे, बड़ा कलक्टर का नाती बना है।' फिर इक्के को थाने की ओर ले चला। मैंने उसे रोक कर कहा कि तुम बिना कुसूर किसी का चालान नहीं कर सकते। बस, वह मुझे भी बुरी-बुरी गालियां देने लगा और मेरे ऊपर डन्डा भी चला दिया। इतनी बेइज्जती पर मैं अपने को और न संभाल सका, तथा उसके तीन चपत और दो घूंसे भी जमा दिये···।"

मैंने अपनी साक्षी में कहा–

सरकारी वकील ने जिरह करने में कसर न की, पर सच्ची बात में कैसे हेर-फेर पड़ सकता है।

"···मैं पण्डित दुनीचन्द को लड़कपन से जानता हूँ। ये व्यापार करते थे। अपनी ईमानदारी के लिए सारे नगर में प्रसिद्ध थे। इन्होंने सच्चाई के कारण कई बार हानि उठाई है। इन्होंने कभी बदमाशी नहीं की, बल्कि बदमाशों के ये बड़े भारी शत्रु थे। कई बार लुच्चों-लफंगों के पकड़ने में पुलिस को सहायता पहुँचा चुके हैं। दीन-दुखियों के ये सदैव बन्धु रहे हैं। मुझे ऐसी घटनायें मालूम हैं। 1903 के दिल्ली दरबार के समय हमारे नगर के डिप्टी कमिशनर से इन्हें एक प्रशंसापत्र भी मिला था। इस वारदात के प्रायः एक घन्टा पहले वे मुझसे मिले थे और 11 रुपये कर्ज़ लिए थे। वे कलकत्ते, व्यापार के लिए, उसी रात को जाना चाहते थे, इसलिए मुझसे ऋण लिया था। आजकल इनकी जैसी स्थिति है, उसमें तो इनका ऐसा करना स्वप्न में भी सम्भव नहीं है···।"

इक्केवाले को भी मुझे गवाही देते देखकर हिम्मत हो आई थी, अतः उसका इज़हार भी ठीक उतरा। पुलिस में उसका बयान दूसरे प्रकार से दर्ज हुआ था। प्रश्न करने पर उसने कहा–"हुजूर हम क्या करते, जैसा वे लोग चाहते थे, लिखवा लेते थे, अगर हम और कुछ कहते तो मार खाते।"

हाकिम ने पण्डितजी को बरी कर दिया। फैसले में उन्होंने लिखा कि "दोषी पर दण्ड-विधान की 186 धारा (सरकारी कर्मचारी को उसके कर्त्तव्य-पालन में, बाधा पहुँचाना) और 323वीं धारा (मार-पीट करना) लगती है। पर प्रमाणित एक भी नहीं होती, क्योंकि खुद पुलिस के गवाहों ने कहा है कि इक्का जैसे ही रुका, बलवीर उसे हटाने लगा। ऐसी अवस्था में यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि बलवीर, कुछ अपना कर्त्तव्य पालन नहीं कर रहा था, क्योंकि इक्का सड़क नहीं रोके था। वरन् हम यह मानने के लिए तैयार हैं कि पैसा लेने के लिए ही उसने ऐसा किया होगा। क्योंकि प्रथमतः ऐसे कई मुकदमें पहले हो चुके हैं और पुलिस इक्केवालों से पैसे लेने के लिए दण्डित हो चुकी है। दूसरे दुनीचन्द के पहले चरित्र के बारे में, जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति ने साक्षी दी है, उससे हम मुलजिम का कथन भी सत्य समझते हैं। अब रही मारपीट, सो बलवीर ने स्वयं कहा है कि जब यह मुझसे बहुत हुज्जत करने लगे तब मैंने अपना काम करने के लिए डन्डा चला दिया। उसने एक स्थान पर यह भी कहा है कि एक बात में दस गाली दिये बिना हम लोगों का काम नहीं चलता। इससे स्पष्ट है कि उसने मुलज़िम

को भी गाली दी होगी। यहां भी हम मुलज़िम की बात सच मानते हैं, बल्कि इससे उसके कथन की फिर से पुष्टि होती है। किसी भलेमानुस को इस भांति अपमानित करने पर उसके मन की क्या दशा हो सकती है, यह भलामानुस ही जानता है। यदि पण्डितजी के स्थान पर मैं होता तो शायद मैं भी इसी मार्ग का अनुसरण करता · · ।"

बाबू सिद्धनारायण बड़े अच्छे आदमी थे। पर प्रायः डिप्टी कलक्टरों की भांति वे हाथ-पांव के–जगन्नाथ की प्रतिमा–हो गए थे। तिस पर इस मामले में तो बड़े साहब ने किल्ली मरोड़ रक्खी थी। इससे पुलिस-शासन पर उन्होंने फैसले में कुछ न लिखा। हां, फैसला सुनाने पर उन्होंने बलवीर को तनिक डांट-भर दिया। सच पूछिए तो इस मामले में उन्हें बलवीर पर मुकदमा चलाना चाहिए था।

वहां से उठकर मैं सीधे अपनी अदालत में गया। मार्ग में पण्डितजी मिले, उन्हें भी अपने संग लेता गया। उस समय मैं क्रोध से भरा हुआ था। कुछ अपने अपमान से नहीं, बलवीर और सब-इन्सपेक्टर की बदमाशी से। अस्तु, मैंने उन दोनों को वहां बुलवाया और बलवीर पर मुकदमा कायम करके उसे एक महीने के लिए मुअत्तिल कर दिया, साथ ही कलक्टर के नाम यह रूबकार भी लिखा दिया कि यह आदमी बरखास्त किए जाने के योग्य है, एवं अपने फैसले में इतना और जोड़ दिया कि मैंने कलक्टर को इसकी बरखास्तगी के बारे में लिखा है। यदि ऐसा हुआ तो ठीक, अन्यथा यह साल-भर के लिए डिग्रेड कर दिया जाये–इसका दर्जा घटा दिया जाये। साथ ही मैंने उसमें पुलिस-शासन पर भी भली-भांति जी का उबाल निकाला।

बलबीर बहुत-कुछ रोया-गिड़गिड़ाया, पर मेरा हृदय ऐसे स्वांगों पर ध्यान न देने का भली-भांति अभ्यस्त था।

अब ज़ाहिद हुसैन की बारी थी। पहले तो मैंने उन्हें दो-चार खरी-खोटी सुनाई। फिर कलक्टर को एक अर्ध-घरेलू चिट्ठी (D.O.) लिखी कि एक साल तक इसकी तरक्की बन्द रहनी चाहिए। बस, इतना ही मेरे हाथ में था। पर सच पूछिए तो ऐसे दण्डों का कोई फल नहीं। आवश्यकता है सारी पद्धति के नीचे से ऊपर तक सुधार की। अन्यथा सब व्यर्थ है।

मैंने अपने जाने चाहे बड़ी निर्भीकता से ही काम क्यों न किया हो, पर वास्तव में यह सब थी मेरी निःशक्तता। सच पूछिए तो मैं इस समय उस छोटे से तालाब की भांति हो रहा था जो एक भारी आंधी के आने पर कुछ क्षणों के लिए तरंगों में समुद्र का प्रतिस्पर्धी बन जाता है।

ऐसी बहुतेरी बातें होती हैं, जिनका ज़बानी कहते रहने पर भी, हमें अनुभव नहीं होता। किन्तु कभी एक ऐसा क्षण आ उपस्थित होता है जब हम उनका ऐसा अनुभव कर उठते हैं कि कुछ काल के लिए हमारा हृदय उन्हीं का रूप बन जाता है, और वे उस पर भली-भांति नक्श हो जाती हैं। मेरे जीवन के लिए भी यह एक वैसा ही क्षण था। अगणित बार मैं कहा करता और विचारता कि मैं शासक होने पर भी शासित हूँ।

पर इस घटना ने मेरे हृदय पर इस उक्ति की लीक-सी कर दी थी। कलक्टर का मेरे संग ऐसा बर्ताव, एक सिविलियन का दूसरे सहयोगी के प्रति पारस्परिक व्यवहार न था, बल्कि शासक की शासित के प्रति अवहेलना थी। किन्तु क्या यह उचित न था? क्या हम ऐसे व्यवहार के योग्य नहीं?

5

अदालत बरखास्त होने पर मैंने पण्डितजी से पूछा–"कहिए, अब क्या इरादा है?"

"रात की गाड़ी से कलकत्ते। मेरी विपत्ति के नाटक का यह भी एक सीन था।"

पर मैंने जैसे-तैसे आग्रह करके उन्हें दो दिन को अपना मेहमान होने पर राजी किया।

बाहर आकर मैंने पण्डितजी के वकील को फ़ीस देनी चाही, पर पण्डितजी ने मुझसे कहा–"रहने दीजिए, घर से रुपये आ गए हैं। मैं दिये देता हूँ।" मैंने वकील से कहा कि आपने पैरवी अच्छी की, पर आगे से जिरह जरा और कस कर किया कीजिए।

पण्डितजी के मुकदमे को प्रायः बीस दिन बीत चुके थे और मैं उसे भूल-सा गया था।

एक रविवार को तीसरे पहर कोई दो बजे मैं अपने बँगले के दफ्तर में बैठा था। थोड़ा-सा काम निबटाना था। उसे करके मैं बरामदे के एक खम्भे की ओर देख रहा था। उसका ज़रा-सा पलस्तर टूट गया था। वहां की ईंटें दिखलाई पड़ती थीं और उनकी सन्दों में से, हवा से ज़रा-ज़रा मासले की गर्द उड़ती थी। टूटे हुए पलस्तर की टेढ़ी-मेढ़ी सरहद से कभी-कभी कंकड़ियां भी झड़ पड़तीं।

कुछ देर बाद मन में बाहर चल बैठने की आई। मैंने श्रीमती को आवाज़ दी। उत्तर मिला–"इस बूटे को खत्म कर के दस मिनट में आई।" मैंने विचारा, तब तक मैं ही बाहर टहलूं। ज्योंही एक पैर देहली के बाहर निकाला था कि अरदली ने लाकर समाचार-पत्र दिया। वहीं ठहर कर मैंने उसे खोल डाला और सरसरी दृष्टि से उसे देखने लगा।

दूसरे पृष्ठ पर गवर्नमेन्ट गज़ट से हाकिमों की नियुक्ति, परिवर्तन की घोषणा करने वाला अंश छपा था। उस पर भी मैंने चली दृष्टि डाली, पर मैं चौंक उठा, क्योंकि उसमें मेरा तबादला भी छपा था। मुझे इसका स्वप्न में भी ध्यान न था। मुझे खबर ही न मिले और बात सारे संसार में उजागर हो जाये!

पर वास्तव में आश्चर्य की कोई बात न थी। उस घटना का यह फल होना स्वाभाविक था।

मैं कुछ उत्तेजित होकर उछलता हुआ श्रीमती के पास पहुँचा और अखबार का वह अंश उनके सामने करके कुछ मुस्कराते हुए उन लाइनों पर उँगली रख कर बोला–"देखो, जब ये लोग अन्याय करने से बाज़ नहीं आते, तब मैं न्याय पक्ष क्यों छोड़ूँ?"

अब मुझे क्रोध चढ़ गया था। सिविलियनों के लिए तबादला कोई कम अप्रतिष्ठा नहीं। तिस पर भी इस तरह बिना सूचना दिए हुए। यह ऐसी-वैसी मान-हानि न थी।

वीर-प्रसविनी पंजाब-रमणी का मुंह अभिमान से दमक रहा था। □

काकी

सियारामशरण गुप्त
(जन्म : सन् 1895 ई.)

उस दिन बड़े सबेरे जब श्यामू की नींद खुली तब उसने देखा–घर भर में कुहराम मचा हुआ है। उसकी काकी–उमा–एक कम्बल पर नीचे से ऊपर तक एक कपड़ा ओढ़े हुए भूमि-शयन कर रही है, और घर के सब लोग उसे घेरकर बड़े करुण स्वर में विलाप कर रहे हैं।

लोग जब उमा को श्मशान ले जाने के लिये उठाने लगे तब श्यामू ने बड़ा उपद्रव मचाया। लोगों के हाथों से छूटकर वह उमा के ऊपर जा गिरा। बोला–"काकी सो रही हैं, उन्हें इस तरह उठाकर कहाँ लिये जा रहे हो? मैं न जाने दूँगा।"

लोग बड़ी कठिनता से उसे हटा पाये। काकी के अग्नि-संस्कार में भी वह न जा सका। एक दासी राम-राम करके उसे घर पर ही सँभाले रही।

यद्यपि बुद्धिमान गुरुजनों ने उन्हें विश्वास दिलाया कि उसकी काकी उसके मामा के यहाँ गई है, परन्तु असत्य के आवरण में सत्य बहुत समय तक छिपा न रह सका। आसपास के अन्य अबोध बालकों के मुँह से ही वह प्रकट हो गया। यह बात उससे छिपी न रह सकी कि काकी और कहीं नहीं, ऊपर राम के यहाँ गई है। काकी के लिए कई दिन तक लगातार रोते-रोते उसका रुदन तो क्रमशः शांत हो गया, परन्तु शोक शांत न हो सका। वर्षा के अनन्तर एक ही दो दिन में पृथ्वी के ऊपर का पानी अगोचर हो जाता है, परन्तु भीतर ही भीतर उसकी आर्द्रता जैसे बहुत दिन तक बनी रहती है, वैसे ही उसके अन्तस्तल में वह शोक जाकर बस गया था। वह प्रायः अकेला बैठा-बैठा, शून्य मन से आकाश की ओर ताका करता।

एक दिन उसने ऊपर एक पतंग उड़ती देखी। न जाने क्या सोचकर उसका हृदय एकदम खिल उठा। विश्वेश्वर के पास जाकर बोला–"काका मुझे पतंग मँगा दो।"

पत्नी की मृत्यु के बाद से विश्वेश्वर अन्यमनस्क रहा करते थे। "अच्छा मँगा दूँगा"

कहकर वे उदास भाव से और कहीं चले गये।

श्यामू पतंग के लिए बहुत उत्कण्ठित था। वह अपनी इच्छा किसी तरह रोक न सका। एक जगह खूँटी पर विश्वेश्वर का कोट टँगा हुआ था। इधर-उधर देखकर उसने उसके पास स्टूल सरकाकर रक्खा और ऊपर चढ़कर कोट की जेबें टटोलीं। उनमें से एक चवन्नी का आविष्कार करके वह तुरन्त वहाँ से भाग गया।

सुखिया दासी का लड़का–भोला–श्यामू का समवयस्क साथी था। श्यामू ने उसे चवन्नी देकर कहा–"अपनी जीजी से कहकर गुपचुप एक पतंग और डोर मँगा दो। देखो, खूब अकेले में लाना, कोई जान न पावे।"

पतंग आई। एक अँधेरे घर में उसमें डोर बाँधी जाने लगी। श्यामू ने धीरे से कहा "भोला, किसी से न कहो तो एक बात कहूँ।"

भोला ने सिर हिलाकर कहाँ–"नहीं, किसी से नहीं कहूँगा।"

श्यामू ने रहस्य खोला। कहा–"मैं यह पतंग ऊपर राम के यहाँ भेजूँगा। इसे पकड़कर काकी नीचे उतरेंगी। मैं लिखना नहीं जानता, नहीं तो इस पर उनका नाम लिख देता।"

भोला श्यामू से अधिक समझदार था। उसने कहा "बात तो बड़ी अच्छी सोची, परन्तु एक कठिनता है। यह डोर पतली है। इसे पकड़कर काकी उतर नहीं सकतीं। इसके टूट जाने का डर है। पतंग में मोटी रस्सी हो, तो सब ठीक हो जाये।"

श्यामू गम्भीर हो गया। मतलब यह, बात लाख रुपये की सुझाई गई है। परन्तु कठिनता यह थी कि मोटी रस्सी कैसे मँगाई जाये। पास में दाम है नहीं और घर के जो आदमी उसकी काकी को बिना दया-मया के जला आये हैं, वे उसे इस काम के लिए कुछ नहीं देंगे। उस दिन श्यामू को चिन्ता के मारे बड़ी रात तक नींद नहीं आई।

पहले दिन की तरकीब से दूसरे दिन उसने विश्वेश्वर के कोट से एक रुपया निकाला। ले जाकर भोला को दिया और बोला–"देख भोला, किसी को मालूम न होने पावे। अच्छी-अच्छी दो रस्सियाँ मँगा दे। एक रस्सी ओछी पड़ेगी। जवाहिर भैया से मैं एक कागज पर 'काकी' लिखवा रक्खूँगा। नाम की चिट रहेगी, तो पतंग ठीक उन्हीं के पास पहुँच जायेगी।"

दो घण्टे बाद प्रफुल्ल मन से श्यामू और भोला अँधेरी कोठरी में बैठे-बैठे पतंग में रस्सी बाँध रहे थे। अकस्मात् शुभ कार्य में विघ्न की तरह उग्ररूप धारण किए विश्वेश्वर वहाँ आ घुसे। भोला और श्यामू को धमकाकर बोले–"तुमने हमारे कोट से रुपया निकाला है?"

भोला सकपकाकर एक ही डाँट में मुखबिर हो गया। बोला–"श्यामू भैया ने रस्सी और पतंग मँगाने के लिए निकाला था।"–विश्वेश्वर ने श्यामू को दो तमाचे जड़कर कहा–"चोरी सीखकर जेल जायेगा? अच्छा, तुझे आज अच्छी तरह समझाता हूँ।" कहकर फिर तमाचे जड़े और कान मलने के बाद पतंग फाड़ डाला। अब रस्सियों की

ओर देखकर पूछा–"ये किसने मँगाई?"

भोला ने कहा–"इन्होंने मँगाई थी। कहते थे, इससे पतंग तानकर काकी को राम के यहाँ से नीचे उतारेंगे।"

विश्वेश्वर हतबुद्धि होकर वहीं खड़े रह गये। उन्होंने फटी हुई पतंग उठाकर देखी। उस पर चिपके हुए कागज पर लिखा हुआ था–"काकी"। □

अकबरी लोटा

अनपूर्णानन्द
(जन्म : सन् 1895 ई.)

लाला झाऊलाल को खाने पीने की कमी नहीं थी। काशी के ठठेरी बाजार में मकान था। नीचे की दूकानों से एक-सौ रुपये मासिक के करीब किराया उतर आता था। बच्चे-कच्चे अभी थे नहीं; सिर्फ दो प्राणियों का खर्च था। अच्छा खाते थे, अच्छा पहनते थे पर ढाई-सौ रुपये तो एक साथ आँख सेंकने के लिए भी न मिलते थे।

इसलिए जब उनकी पत्नी ने एक दिन एकाएक ढाई-सौ रुपए की माँग पेश की तब उनका जी एक बार जोर से सनसनाया और फिर बैठ गया। जान पड़ा कि कोई बुल्ला है जो बिलाने जा रहा है। उनकी यह दशा देखकर उनकी पत्नी ने कहा-'डरिये मत, आप देने में असमर्थ हों तो मैं अपने भाई से भीख माँग लूँ।'

लाला झाऊलाल इस मीठी मार से तिलमिला उठे। उन्होंने किंचित् रोष के साथ कहा-'अजी हटो! ढाई-सौ रुपये के लिए भाई से भीख माँगोगी? मुझसे ले लेना।'

'लेकिन मुझे इसी जिन्दगी में चाहिए।'

'अजी इसी सप्ताह में ले लेना।'

'सप्ताह से आपका तात्पर्य सात दिन से है या सात वर्ष से?'

लाला झाऊलाल ने रोब के साथ खड़े होते हुए कहा-'आज से सातवें दिन मुझसे ढाई-सौ रुपये ले लेना।'

'मर्द की एक बात!'

'हाँ जी हाँ, मर्द की एक बात!'

लेकिन जब चार दिन ज्यों-त्यों में यों ही बीत गये और रुपयों का कोई प्रबन्ध न हो सका तब उन्हें चिन्ता होने लगी। प्रश्न अपनी प्रतिष्ठा का था; घर में अपनी साख का था। देने का पक्का वायदा करके अब अगर न दे सके तो अपने मन में वह क्या सोचेगी? उसकी नजरों में उनका क्या मूल्य रह जायेगा? अपनी वाहवाही की सैकड़ों गाथाएँ उसे सुना चुके थे। अब जो एक काम पड़ा तो चारों खाने चित्त हो रहे। यह

पहली ही बार उसने मुँह खोलकर कुछ रुपयों का सवाल किया थ। इस समय अगर वे दुम दबाकर निकल भागते हैं तो फिर उसे क्या मुँह दिखलायेंगे? मर्द की एक बात–उसका यह वाक्य उनके कानों में गूँज-गूँजकर फिर गूँज उठता था।

खैर, एक दिन और बीता। पाँचवे दिन घबराकर उन्होंने पं० बिलवासी मिश्र को अपनी विपदा सुनाई। संयोग कुछ ऐसा बिगड़ा था कि बिलवासी जी भी उस समय बिल्कुल खुक्क थे। उन्होंने कहा–"मेरे पास हैं तो नहीं, पर मैं कहीं से माँग-जाँच कर लाने की कोशिश करूँगा, और अगर मिल गया तो कल शाम को तुमसे मकान पर मिलूँगा।'

यही शाम आज थी; हफ्ते का अन्तिम दिन। कल ढाई-सौ रुपया या तो गिना देना है या सारी हेकड़ी से हाथ धोना है। यह सच है कि कल रुपया न पाने पर उनकी स्त्री उन्हें डामल-फाँसी न देगी- केवल जरा-सा हँस देगी। पर वह कैसी हँसी होगी। इस हँसी की कल्पनामात्र से लाला झाऊलाल की अन्तरात्मा में मरोड़ पैदा हो जाता था।

अभी पं० बिलवासी मिश्र भी नहीं आये। आज शाम को उनके आने की बात थी। उन्हीं का भरोसा था। यदि न आये तो? या कहीं रुपये का प्रबन्ध वे न कर सके तो?

इसी उधेड़-बुन में पड़े लाला झाऊलाल ऊपर छत पर टहल रहे थे। कुछ प्यास मालूम पड़ी। उन्होंने नौकर को आवाज दी। नौकर नहीं था। खुद उनकी पत्नी पानी लेकर आयी। आप जानते ही हैं कि हिन्दू-समाज में स्त्रियों की कैसी शोचनीय अवस्था है। पति नालायक को प्यास लगती है तो स्त्री बेचारी को पानी लेकर हाजिर होना पड़ता है!

वे पानी तो जरूर लायीं पर गिलास लाना भूल गयी थीं। केवल लोटे में पानी लिए हुए वे प्रकट हुईं। फिर लोटा भी संयोग से वह जो अपनी बेढंगी सूरत के कारण लाला झाऊलाल को सदा से नापसन्द था। था तो नया, साल ही दो साल का बना, पर कुछ ऐसी गढ़न उस लोटे की थी कि जैसे उसका बाप डमरू और माँ चिलमची रही हो।

लाला झाऊलाल ने लोटा ले लिया, वे कुछ बोले नहीं; अपनी पत्नी का वे अदब मानते थे। मानना ही चाहिए। इसी को सभ्यता कहते हैं। जो पति अपनी पत्नी का न हुआ, वह पति कैसा? फिर उन्होंने यह भी सोचा होगा कि लोटे में पानी हो तब भी गनीमत है–अगर चूँ कर देता हूँ तो बाल्टी में जब भोजन मिलेगा तब क्या करना बाकी रह जाएगा।

लाला झाऊलाल अपना गुस्सा पीकर पानी पीने लगे। उस समय वे छत की मुँडेर के पास खड़े थे। जिन बुजुर्गों के पानी पीने के सम्बन्ध में यह नियम बनाये थे कि खड़े-खड़े पानी न पियो, सोते समय पानी न पियो, दौड़ने के बाद पानी न पियो, उन्होंने पता नहीं कभी यह भी नियम बनाया था या नहीं कि छत के मुँडेर के पास खड़े होकर पानी न पियो। जान पड़ता है इस महत्त्वपूर्ण विषय पर उन लोगों ने कुछ नहीं कहा है।

इसलिए लाला झाऊलाल ने कोई बुराई नहीं की मगर वे छत की मुँडेर के पास खड़े

होकर पानी पीने लगे। मुश्किल से दो-एक घूँट वे पी पाये होंगे कि न जाने कैसे उनका हाथ हिल उठा और लोटा हाथ से छूट पड़ा।

लोटे ने न दाहिने देखा न बायें। वह नीचे गली की ओर चल पड़ा। अपने वेग में उल्का को लजाता हुआ वह आँखों से ओझल हो गया। किसी जमाने में न्यूटन नाम के किसी खुराफाती ने पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति नाम की एक चीज ईजाद की थी। कहना न होगा कि यह सारी शक्ति इस समय इस लोटे के पक्ष में थी।

लाला झाऊलाल को काटो तो बदन में खून नहीं, ठठेरी बाजार ऐसी चलती हुई गली में ऊँचे तिमंजिले से भरे हुए लोटे को गिरना हँसी-खेल नहीं है। यह लोटा न जाने किस अधिकारी की खोपड़ी पर काशी-वास का सन्देश लेकर पहुँचेगा।

कुछ हुआ भी ऐसा ही गली में जोर का हल्ला उठा। लाला झाऊलाल जब तक दौड़कर नीचे उतरे, तब तक एक भारी भीड़ उनके आँगन में घुस आई।

लाला झाऊलाल ने देखा कि इस भीड़ में प्रधान पात्र अंगरेज है, जो नखशिख से भीगा हुआ है और जो अपने एक पैर को हाथ से सहलाता हुआ दूसरे पैर से नाच रहा है। उसी के पास उस अपराधी लोटे को भी देखकर लाला झाऊलाल जी ने फौरन दो और दो जोड़कर स्थिति को समझ लिया; पूरा विवरण तो उन्हें पीछे प्राप्त हुआ।

हुआ यह था कि गली में गिरने के पूर्व लोटा एक दूकान के सायबान से टकराया। वहाँ टकराकर उस दूकान पर खड़े उस अंगरेज को उसने सांगोपांग स्नान कराया और फिर उसी के बूट पर जा गिरा। ध्यान देने की बात है कि हिन्दुस्तानी लोटा भी आखिर वहीं गिरा जहाँ हिन्दुस्तानी आदमी गिरते थे।

उस अंगरेज को जब मालूम हुआ कि लाला झाऊलाल ही उस लोटे के मालिक हैं; तब उसने केवल एक काम किया। अपने मुँह को उसने खोलकर खुला छोड़ दिया। लाला झाऊलाल को आज ही यह मालूम हुआ कि अंगरेजी भाषा में गलियों का ऐसा प्रकाण्ड कोश है।

इसी समय पं० बिलवासी मिश्र भीड़ को चीरते हुए आँगन में आते दिखाई पड़े। उन्होंने आते ही पहला काम यह किया कि उस अंगरेज को छोड़कर और जितने आदमी आँगन में घुस आये थे सबको निकाल बाहर किया। फिर एक कुर्सी आँगन में रखकर उन्होंने साहब से कहा–'आपके पैर में शायद कुछ चोट आ गई है। आप आराम में कुर्सी पर बैठ जाइये।'

साहब बिलवासी जी को धन्यवाद देते हुए बैठ गए और लाला झाऊलाल की ओर इशारा करके बोले–'आप इस शख्स को जानते हैं?'

'बिल्कुल नहीं, और मैं ऐसे आदमी को जानना भी नहीं चाहता जो निरीह राह-चलतों पर लोटे से वार करे।'

'नहीं मेरी समझ में (He is a dangerous lunatic)'

(यानी, यह खतरनाक पागल है।)

'नहीं मेरी समझ में (He is a dangerous criminal)'

(यानी, यह खतरनाक मुजरिम है।)

परमात्मा ने लाला झाऊलाल की आँखों को इस समय कहीं देखने के साथ खाने की भी शक्ति दे दी होती तो निश्चित है कि अब तक बिलवासी जी की वे अपनी आँखों से खा चुके होते। वे कुछ समझ नहीं पाते थे कि बिलवासी जी को इस समय हो क्या गया है।

साहब ने बिलवासी जी से पूछा–'तो अब क्या करना चाहिए?'

'पुलिस में इस मामले की रिपोर्ट करा दीजिये, जिससे यह आदमी फौरन हिरासत में ले लिया जाए।'

'पुलिस-स्टेशन है कहाँ?'

'पास ही है, चलिये मैं बतलाऊं।'

'चलिए।'

'अभी चला। आपकी इजाजत हो तो पहले मैं इस लोटे को इस आदमी से खरीद लूँ। क्यों जी बेचोगे? मैं पचास रुपये तक इसका दाम दे सकता हूँ।'

लाला झाऊलाल तो चुप रहे, पर साहब ने पूछा-'इस रद्दी लोटे का आप पचास रुपये दाम क्यों दे रहे हैं?'

'आप इस लोटे को रद्दी-सा बताते हैं? आश्चर्य! मैं तो आपको एक विज्ञ और सुशिक्षित आदमी समझता था।'

'आखिर बात क्या है, कुछ बताइये भी?'

'जनाब! यह एक ऐतिहासिक लोटा जान पड़ता है। जान क्या पड़ता है, मुझे पूरा विश्वास है। यह वह प्रसिद्ध अकबरी लोटा है जिसकी तलाश में संसार भर के म्यूजियम परेशान हैं।'

'यह बात?'

'जी हाँ जनाब! सोलहवीं शताब्दी की बात है। बादशाह हुमायूँ शेरशाह से हारकर भागा था और सिंध के रेगिस्तान में मारा मारा फिर रहा था। एक अवसर पर प्यास से उसकी जान निकल रही थी। उस समय एक ब्राह्मण ने इसी लोटे से पानी पिलाकर उसकी जान बचायी थी। हुमायूँ के बाद जब अकबर दिल्लीश्वर हुआ तब उसने उस ब्राह्मण का पता लगाकर उससे इस लोटे को ले लिया और इसके बदले में उसे इसी प्रकार के दस सोने के लोटे प्रदान किये। यह लोटा सम्राट् अकबर को बहुत प्यारा था। इसी से इसका नाम 'अकबरी लोटा' पड़ा। वह बराबर इसी से वजू करता था। सन् 1857 तक शाही घराने में ही इसके रहने का पता है, पर इसके बाद लापता हो गया। कलकत्ते के म्यूजियम में इसका प्लास्टर का मॉडल रखा हुआ है। पता नहीं यह लोटा इस आदमी के पास कैसे आया! म्यूजियम वालों को पता चले तो फैंसी दाम देकर खरीद ले जाएँ।'

इस विवरण को सुनते-सुनते साहब की आँखों पर लोभ और आश्चर्य का ऐसा प्रभाव

पड़ा कि वे कौड़ी के आकार से बढ़कर पकौड़ी के आकार की हो गईं। उसने बिलवासी जी से पूछा–'तो आप इस लोटे को लेकर क्या करियेगा?'

'मुझे पुरानी और ऐतिहासिक चीजों के संग्रह करने का शौक है।'

'मुझे भी पुरानी और ऐतिहासिक चीजों के संग्रह करने का शौक है। जिस समय यह लोटा मेरे ऊपर गिरा, उस समय मैं यही कर रहा था। उस दूकान पर से पीतल की कुछ पुरानी मूर्तियाँ खरीद रहा था।'

'जो कुछ हो, लोटा तो मैं ही खरीदूँगा।'

'वाह, आप कैसे खरीदेंगे? मैं खरीदूँगा। मेरा हक है।'

'हक है?'

'जरूर हक है। यह बताइये कि उस लोटे के पानी से आप ने स्नान किया या मैंने?'

'आपने।'

'वह आपके पैरों पर गिरा या मेरे?'

'आपके।'

'अँगूठा उसने आपका भुरता किया या मेरा?'

'आपका'

'इसलिए उसे खरीदने का हक मेरा है।'

'यह सब झोल है। दाम लगाइये, जो अधिक दाम दे वह ले जाये।'

'यह सही। आप उसका पचास रुपये दे रहे थे, मैं सौ देता हूँ।'

'मैं डेढ़ सौ देता हूँ।'

'मैं दो सौ देता हूँ।'

'अजी मैं ढाई सौ देता हूँ।' यह कह कर बिलवासी जी ने ढाई सौ के नोट लाला झाऊलाल के आगे फेंक दिये।

साहब को भी अब ताव आ गया। उसने कहा–'आप ढाई–सौ देते है तो मैं पाँच सौ देता हूँ। अब चलिये!'

बिलवासी जी अफसोस के साथ अपने रुपये उठाने लगे, मानो अपनी आशाओं की लाश उठा रहे हों। साहब की ओर देखकर उन्होंने कहा–'लोटा आपका हुआ, ले जाइए! मेरे पास ढाई–सौ से अधिक हैं नहीं।'

यह सुनना था कि साहब के चेहरे पर प्रसन्नता की कूँची फिर गई। उसने झपट कर लोटा उठा लिया और बोला–'अब मैं हँसता हुआ अपने देश लौटूँगा। मेजर डगलस की डींग सुनते–सुनते मेरे कान पक गए थे।'

'मेजर डगलस कौन हैं?'

'मेजर डगलस मेरे पड़ौसी हैं। पुरानी चीजों के संग्रह करने में मेरी उनकी होड़ रहती है। गत वर्ष हिन्दुस्तान आये थे और यहाँ से जहाँगीरी अण्डा ले गए थे।'

'जहाँगीरी अण्डा?'

'जी हाँ, जहाँगीरी अण्डा। मेजर डगलस ने समझ रखा था कि हिन्दुस्तान से वे ही ऐसी चीज ले जा सकते हैं।'

'पर जहाँगीरी अण्डा है क्या?'

'आप जानते होंगे कि एक कबूतर ने नूरजहाँ से जहाँगीर का प्रेम कराया था। जहाँगीर के पूछने पर कि मेरा एक कबूतर तुमने कैसे जाने दिया, नूरजहाँ ने उसके दूसरे कबूतर को भी उड़ाकर बताया था कि ऐसे। उसके इस भोलेपन पर जहाँगीर सौ जान से निछावर हो गया। उसी क्षण से उसने अपने को नूरजहाँ के हाथ सौंप दिया। पर कबूतर का अहसान वह नहीं भूला। उसके एक अण्डे को उसने बड़े जतन से रख छोड़ा। एक बिल्लौर की हाँडी में वह उसके सामने सदा टँगा रहता था। बाद में वही अण्डा 'जहाँगीरी अण्डा' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसी को मेजर ने पारसाल दिल्ली में एक मुसलमान सज्जन से तीन सौ रुपये में खरीदा।'

'यह बात!'

'हाँ, पर वे अब मेरे आगे दून की नहीं ले सकते। मेरा अकबरी लोटा उनके जहाँगीरी अण्डे से भी एक पुश्त पुराना है।'

'इस रिश्ते से तो आपका लोटा उस अण्डे का बाप हुआ।'

साहब ने लाला झाऊलाल को पाँच सौ रुपये देकर अपनी राह ली। लाला झाऊलाल का चेहरा इस समय देखते बनता था। जान पड़ता था कि मुँह पर छः दिन की बढ़ी हुई दाढ़ी का एक-एक बाल मारे प्रसन्नता से लहरा रहा है। उन्होंने पूछा—'बिलवासी जी! आप मेरे लिए ढाई सौ रुपया घर से लेकर चले थे? पर आपको मिले कहाँ से? आपके पास तो थे नहीं।'

'इस भेद को मेरे सिवा मेरा ईश्वर ही जानता है। आप उसी से पूछ लीजिये। मैं नहीं बताऊँगा।'

'पर आप चले कहाँ? अभी मुझे आपसे काम है; दो घण्टे तक।'

'दो घण्टे तक!'

'हाँ और क्या! अभी मैं आपकी पीठ ठोककर शाबाशी दूँगा; एक घण्टा इसमें लगेगा, फिर गले लगाकर धन्यवाद दूँगा एक घण्टा इसमें भी लग जाएगा।'

'अच्छा पहले अपने पाँच सौ रुपये गिनकर सहेज लीजिये।'

रुपया अगर अपना हो तो उसे सहेजना एक ऐसा सुखद और सम्मोहक कार्य है कि मनुष्य उस समय सहज ही तन्मयता प्राप्त कर लेता है। लाला झाऊलाल ने अपना कार्य समाप्त करके ऊपर देखा, पर बिलवासी जी इस बीच अन्तर्धान हो गये थे।

वे लम्बे डग मारते हुए गली में चले जा रहे थे।

उस दिन रात्रि में बिलवासी जी को देर तक नींद नहीं आई। वे चादर लपेट चारपाई पर पड़े रहे। एक बजे वे उठे। धीरे से, अपनी सोयी हुई पत्नी के गले से उन्होंने सोने की वह सिकड़ी निकाली जिसमें एक ताली बँधी हुई थी। फिर उसके कमरे में जाकर

उन्होंने उस ताली से उसका सन्दूक खोला। उसमें ढाई सौ के नोट ज्यों के त्यों रखकर उन्होंने उसे बन्द कर दिया। फिर दबे-पाँव लौटकर ताली को उन्होंने पूर्ववत् अपनी पत्नी के गले में डाल दिया। इसके बाद हँसकर अँगड़ाई ली, अँगड़ाई लेकर लेट गये, और लेटकर मर गए।

दूसरे दिन सबेरे आठ बजे तक वे मरे रहे। □

चतुरी चमार

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'
(जन्म : सन् 1896 ई.)

1

चतुरी चमार डाकख़ाना चमियानी, मौज़ा गढ़ाकाला, ज़िला उन्नाव का एक क़दीमी बाशिंदा है। मेरे, नहीं, मेरे पिताजी के, बल्कि उनके भी पूर्वजों के मकान के पिछवाड़े, कुछ फ़ासले पर, जहाँ से होकर कई और मकानों के नीचे और ऊपरवाले पनालों का, बरसात और दिन-रात का, शुद्धाशुद्ध जल बहता है, ढाल से कुछ ऊँचे एक बग़ल चतुरी चमार का पुश्तैनी मकान है। मेरी इच्छा होती है, चतुरी के लिये 'गौरवे बहुवचनम्' लिखूँ, क्योंकि साधारण लोगों के जीवन-चरित या ऐसे ही कुछ लिखने के लिये सुप्रसिद्ध संपादक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा दिया हुआ आचार्य द्विवेदीजी का प्रोत्साहन पढ़कर मेरी श्रद्धा बहुत बढ़ गई है; पर एक अड़चन है, गाँव के रिश्ते में चतुरी मेरा भतीजा लगता है। दूसरों के लिये वह श्रद्धेय अवश्य है; क्योंकि वह अपने उपानह-साहित्य में आजकल के अधिकांश साहित्यिकों की तरह अपरिवर्त्तनवादी है। वैसे ही देहात में दूर-दूर तक उसके मज़बूत जूतों की तारीफ़ है। पासी हफ़्ते में तीन दिन हिरन, चौगड़े और बनैले सुअर खदेड़कर फाँसते हैं, किसान अरहर की ठूँठियों पर ढोर भगाते हुए दौड़ते हैं—कटीली झाड़ियों को दबाकर चले जाते हैं, छोकड़े बेल, बबूल, करील और बेर के काँटों से भरे रुँघवाए बाग़ों से सरपट भागते हैं, लोग जेंगरे पर मड़नी करते हैं, द्वारिका नाई न्योता बाँटता हुआ दो साल में दो हज़ार कोस से ज़्यादा चलता है, चतुरी के जूते अपरिवर्तनवाद के चुस्त रूपक-जैसे टस से मस नहीं होते; यह ज़रूर है कि चतुरी के जूते ज़िला बाँदा के जूतों से वज़न में हल्के बैठते हैं; सम्भव है, चित्रकूट के इर्द-गिर्द होने के कारण वहाँ के चर्मकार भाइयों पर रामजी की तपस्या का प्रभाव पड़ा हो, इसलिये उनका साहित्य ज़्यादा ठोस हुआ; चतुरी वग़ैरह लखनऊ के नज़दीक होने के कारण नव्वाबों के साए में आए हों। उन दिनों मैं गाँव में रहता था। घर बग़ल

में होने के कारण, घर बैठे हुए ही मालूम कर लिया कि चतुरी चतुर्वेदी आदिकों से संत-साहित्य का अधिक मर्मज्ञ है, केवल चिट्ठी लिखने का ज्ञान न होने के कारण एक-क्रिय होकर भी भिन्नफल है–वे पत्र और पुस्तकों के संपादक है, यह जूतों का। एक रोज़ मैंने चतुरी आदि के लिए चरस मँगवाकर अपने ही दरवाज़े बैठक लगवाई। चतुरी उम्र में मेरे चाचाजी से कुछ ही छोटा होगा, कई घरों के लड़के-बच्चे-समेत 'चरस-रसिक रघुपति-पद-नेहू' लोध आदिकों के सहयोग से मजीरेदार डफलियाँ लेकर वह रात आठ बजे आकर डट गया। कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास, पल्टूदास आदि ज्ञात-अज्ञात अनेकानेक संतों के भजन होने लगे। पहले मैं निर्गुण शब्द का केवल अर्थ लिया करता था, लोगों को 'निर्गुण पद है' कहकर संगीत की प्रशंसा करते हुए सुनकर हँसता था; अब गंभीर हो जाया करता हूँ–जैसी उम्र की बाढ़ के साथ अक्ल बढ़ती है! मैं मचिया पर बैठकर भजन सुनने लगा। चतुरी आचार्य-कंठ से लोगों को भूले पदों की याद दिला दिया करता। मुझे मालूम हुआ, चतुरी कबीर-पदावली का विशेषज्ञ है। मुझसे उसने कहा–"काका, ये निर्गुण-पद बड़े-बड़े विद्वान् नहीं समझते।" फिर शायद मुझे भी उन्हीं विद्वानों की कोटि में शुमारकर बोला–"इस पद का मतलब– " मैंने उतरे गले से बात काटकर उभड़ते हुए कहा–"चतुरी, आज गा लो, कल सुबह आकर मतलब समझाना। मतलब से गाने की तलब चली जायगी।" चतुरी खँखारकर गंभीर हो गया। फिर उसी तरह डिक्टेट करता रहा। बीच-बीच ओजस्विता लाने के लिये चरस की पुट चलती रही। गाने में मुझे बड़ा आनन्द आया। ताल पर तालियाँ देकर मैंने भी सहयोग किया। वे लोग ऊँचे दर्जे के उन गीतों का मतलब समझते थे, उनकी नीचता पर यह एक आश्चर्य मेरे साथ रहा। बहुत-से गाने आलंकारिक थे। वे उनका भी मतलब समझते थे। रात एक तक मैं बैठा रहा। मुझे मालूम न था कि 'भगत' कराने के अर्थ रात-भर गँवाने के हैं। तब तक आधी चरस भी खत्म न हुई थी। नींद ने ज़ोर मारा। मैंने चतुरी से चलने की आज्ञा माँगी। चरस की ओर देखते हुए उसने कहा–"काका, फिर कैसे काम बनेगा?" मैंने कहा–"चतुरी, तुम्हारी काकी तो भगवान् के यहाँ चली गई, जानते ही हो–भोजन अपने हाथ पकाना पड़ता है, कोई दूसरा मदद के लिए है नहीं, ज़रा आराम न करेंगे, तो कल उठ न पायेंगे।" चतुरी नाराज़ होकर, बोला–"तुम ब्याह करते ही नहीं, नहीं तो तेरह काकी आ जायें हाँ, वैसी तो– " मैंने कहा–"चतुरी, भगवान् की इच्छा।" दुखी हृदय से सहानुभूति दिखलाते हुए चतुरी ने कहा–"काकी बहुत पढ़ी-लिखी थीं। मैंने हसार को कई चिट्ठियाँ उनसे लिखवाई हैं।" फिर चलती हुई चिलम में दम लगाकर, धुवाँ पीकर, सर नीचे की ओर ज़ोर से दबाकर, नाक से धुवाँ निकालकर बैठे गले से बोला–"काकी रोटी भी करती थीं, बर्तन भी मलती थीं और रोज़ रामायण भी पढ़ती थीं, बड़ा अच्छा गाती थीं काका, तुम वैसा नहीं गाते, बुढ़ऊ बाबा (मेरे चाचा) दरवाजे बैठते थे–भीतर काकी रामायण पढ़ती थीं। गजलें और न-जाने क्या-क्या–टिल्लाना

गाती थीं–क्यों काका?" मैंने कहा–"हूँ; तुम लोग चतुरी गाओ, मैं दरवाज़ा बन्द करके सुनता हूँ।"

2

जगने तक भगत होती रही। फिर कब बंद हुई, मालूम नहीं। जब आँख खुली, तब काफ़ी दिन चढ़ आया था। मुँह धोकर दरवाजा खोला, चतुरी बैठा एकटक दरवाज़े की ओर देख रहा था। कबीर-पदावली का अर्थ किसी ने नहीं सुना, मैंने सुबह सुनने के लिये कहा था, वह आया हुआ है। मैंने कहा–"क्यों चतुरी, रात सोए नहीं?" चतुरी सहज-गंभीर मुद्रा से बोला–"सोकर जगे तो बड़ी देर हुई, बुलाने की वजह आया हुआ हूँ।" जिनमें शक्ति होती है, अवैतनिक शिक्षक वही हो सकते हैं। मैंने कहा–"मैं तैयार हूँ, पहले तुम कबीर साहब की कोई उल्टबाँसी सीधी करो।" "कौन सुनाऊँ?" चतुरी ने कहा–"एक से एक बढ़कर हैं। मैं कबीरपंथी हूँ न काका, जहाँ गिरह लगती है, साहब आप खोल देते हैं।" मैंने कहा–"तुम पहुँचे हुए हो, यह मुझे कल ही मालूम हो गया था।" चतुरी आँख मूँदकर शायद साहब का ध्यान करने लगा; फिर सस्वर एक पद गुनगुनाकर गाने लगा, फिर एक-एक कड़ी गाकर अर्थ समझाने लगा। उसके अर्थ में अनर्थ पैदा करना आनन्द खोना था। जब वह भाष्य पूरा कर चुका, जिस तरह के भाष्य से हिंदीवालों पर 'कल्याण' के निरामिष लेखों का प्रभाव पड़ सकता है, मैंने कहा–"चतुरी, तुम पढ़े-लिखे होते, तो पाँच सौ की जगह पाते।" खुश होकर चतुरी बोला–"काका, कहो तो अर्जुनवा (चतुरी का एक सत्रह साल का लड़का) को पढ़ने के लिये भेज दिया करूँ, तुम्हारे पास पढ़ जायेगा, तुम्हारी विद्या ले लेगा, मैं भी अपनी दे दूँगा, तो कहो, भगवान् की इच्छा हो जाये, तो कुछ हो जाये।" मैंने कहा–"भेज दिया करो। दिया घर से लेकर आया करे। हमारे पास एक ही लालटेन है। बहुत नज़दीक घिसेगा, तो गाँववाले चौंकेंगे। आगे देखा जायेगा। लेकिन गुरु-दक्षिणा हम रोज़ लेंगे। घबराओ मत। सिर्फ़ बाज़ार से हमारे लिये गोश्त ले आना होगा, और महीने में दो दिन चक्की से आटा पिसवा लाना होगा। इसकी मिहनत हम देंगे। बाज़ार तुम जाते ही हो।" चतुरी को इस सहयोग से बड़ी खुशी हुई। एक प्रसंग पर आने के विचार से मैंने कहा–"चतुरी, तुम्हारे जूते की बड़ी तारीफ़ है।" खुश होकर चतुरी बोला–"हाँ, काका, दो साल चलता है" उसमें एक दर्द भी दबा था। दुखी होकर कहा–"काका, जिमींदार के सिपाही को एक जोड़ा हर साल देना पड़ता है। एक जोड़ा भगतवा देता है, एक जोड़ा पंचमा। जब मेरा ही जोड़ा मजे में दो साल चलता है, तब ज़्यादा लेकर कोई चमड़े की बरबादी क्यों करे?" कहकर डबडबाई आँखों देखता हुआ जुड़े हाथों सेवईं-सी बटने लगा।

मुझे सहानुभूति के साथ हँसी आ गई। मगर हँसी को होंठों से बाहर न आने दिया। सँभलकर स्नेह से कहा–"चतुरी, इसका वाजिब-उल-अर्ज़ में पता लगाना होगा। अगर

तुम्हारा जूता देना दर्ज होगा, तो इसी तरह पुश्त-दर-पुश्त तुम्हें जूते देते रहने पड़ेंगे।"

चतुरी सोचकर मुस्कराया। बोला-"अब्दुल-अर्ज़ में दर्ज होगा, क्यों काका?" मैंने कहा-"हूँ, देख लो, सिर्फ़ एक रुपया हक़ लगेगा।"

वक़्त बहुत हो गया था। मुझे काम था। चतुरी को मैंने विदा किया। वह गम्भीर होकर सर हिलाता हुआ चला। मैं उसके मनोविकार पढ़ने लगा-"वह एक ऐसे जाल में फँसा है, जिसे वह काटना चाहता है, भीतर से उसका पूरा ज़ोर उभड़ रहा है, पर एक कमज़ोरी है, जिसमें बार-बार उलझकर रह जाता है।"

3

अर्जुन का आना जारी हो गया। उन दिनों बाहर मुझे कोई काम न था, देहात में रहना पड़ा। गोश्त आने लगा। समय-समय पर लोध, पासी, धोबी और चमारों का ब्रह्मभोज भी चलता रहा। घृत-पक्व मसालेदार मांस की खुशबू से जिसकी भी लार टपकी, आप निमंत्रित होने को पूछा। इस तरह मेरा मकान साधारण जनों का अड्डा, बल्कि House of Commons हो गया। अर्जुन की पढ़ाई उत्तरोत्तर बढ़ चली। पहले-पहल जब 'दादा, मामा, काका, दीदी, नानी, उसने सीखा, तो हर्ष में उसके माँ-बाप सम्राट्-पद पाए हुए को छापकर छलके। सब लोग आपस में कहने लगे, अब अर्जुनवा 'दादा-दीदी' पढ़ गया। अर्जुन अपने बाप चतुरी को दादा और माँ को दीदी कहता था। दूसरे दिन उसके बड़े भाई ने मुझसे शिकायत की, कहा-"बाबा, अर्जुनवा और तो सब लिख-पढ़ लेता है, पर भय्या नहीं लिखता।" मैंने समझाया कि किताब में 'दादा-दीदी' से भय्या की इज़्ज़त बहुत ज़्यादा है; 'भय्या' तक पहुँचने में उसे दो महीने की देर होगी।

धीरे-धीरे आम पकने के दिन आए। अर्जुन अब दूसरी किताब समाप्त कर अपने खानदान में विशेष प्रतिष्ठित हो चला। कुछ नाजुक-मिज़ाज भी हो गया। मोटा काम न होता था। आम खिलाने के विचार से मैं अपने चिरंजीव को लिवा लाने के लिये ससुराल गया। तब ठसकी उम्र 9-10 साल की होगी। सोम या चहरुम में पढ़ता था। मेरे यहाँ उसके मनोरञ्जन की चीज़ न थी। कोई स्त्री भी न थी, जिसके प्यार से वह बहला रहता। पर दो-चार दिन के बाद मैंने देखा, वह ऊबा नहीं, अर्जुन से उसकी गहरी दोस्ती हो गई है। मैं अर्जुन के बाप का जैसा, वह भी अर्जुन का काका लगता था। यद्यपि अर्जुन उम्र में उससे पौने-दो-पट था, फिर भी पद और पढ़ाई में मेरे चिरंजीव बड़े थे, फिर यह ब्राह्मण के लड़के भी थे। अर्जुन को नई और इतनी बड़ी उम्र में उतने छोटे से काका को श्रद्धा देते हुए प्रकृति के विरुद्ध दबना पड़ता था। इसका असर अर्जुन के स्वास्थ्य पर तीन ही चार दिन में प्रत्यक्ष हो चला। तब मुझे कुछ मालूम न था, अर्जुन शिकायत करता न था। मैं देखता था, जब मैं डाकखाना या बाहर-गाँव से लौटता हूँ, मेरे चिरंजीव अर्जुन के यहाँ होते हैं, या घर ही पर उसे घेरकर पढ़ाते रहते हैं। चमारों के टोले में गोस्वामीजी के इस कथन को-'मनहु मत्त गजगन निरखि सिंह-किसोरहिं चोप'-वह

कई बार सार्थक करते देख पड़े। मैं ब्राह्मण-संस्कारों की सब बातों को समझ गया। पर उसे उपदेश क्या देता? चमार दबेंगे, ब्राह्मण दबाएँगे। दवा है, दोनों की जड़े मार दी जायें, पर यह सहज-साध्य नहीं। सोचकर चुप हो गया।

मैं अर्जुन को पढ़ाता था, तो स्नेह देकर उसे अपनी ही तरह का एक आदमी समझकर, उसके उच्चारण की त्रुटियों को पार करता हुआ। उसकी कमज़ोरियों की दरारें भविष्य में भर जायेंगी, ऐसा विचार रखता था। इसलिए कहाँ-कहाँ उसमें प्रमाद है, यह मुझे याद भी न था। पर मेरे चिरंजीव ने चार ही दिन में अर्जुन की सारी कमज़ोरियों का पता लगा लिया, और समय-असमय उसे घर बुलाकर (मेरी ग़ैरहाज़िरी में) उन्हीं कमज़ोरियों के रास्ते उसकी जीभ को दौड़ाते हुए अपना मनोरंजन करने लगे। मुझे बाद में मालूम हुआ।

सोमवार मियाँगंज के बाज़ार का दिन था। गोश्त के पैसे मैंने चतुरी को दे दिये थे। डाकखाना तब मगरायर था। वहाँ से बाज़ार नज़दीक है। मैं डाकखाने से प्रबन्ध भेजने के लिए टिकट लेकर टहलता हुआ बाज़ार गया। चतुरी जूते की दूकान लिए बैठा था। मैंने कहा– मैं "कालिका (धोबी) भैया आये हुए हैं, चतुरी, हमारा गोश्त उनके हाथ भेज देना। तुम बाज़ार उठने पर जाओगे, देर होगी।" चतुरी ने कहा–"काका, एक बात है, अर्जुनवा तुमसे कहते डरता है, मैं घर आकर कहूँगा, बुरा न मानना लड़कों की बात का।" 'अच्छा' कहकर मैंने बहुत कुछ सोच लिया। बक़र-क़साई के सलाम का उत्तर देकर बादाम और ठण्डाई लेने के लिए बनियों की तरफ़ गया। बाज़ार में मुझे पहचाननेवाले न पहचाननेवालों को मेरी विशेषता से परिचित करा रहे थे–चारों ओर से आँखें उठी हुई थीं–ताज्जुब यह था कि अगर ऐसा आदमी है, तो मांस खाना-जैसा घृणित पाप क्यों करता है। मुझे क्षण-मात्र में यह सब समझ लेने का काफ़ी अभ्यास हो गया था। गुरुमुख ब्राह्मण आदि मेरे घड़े का पानी छोड़ चुके थे। गाँव तथा पड़ोस के लड़के अपने-अपने भक्तिमान पिता-पितामहों को समझा चुके थे कि बाबा (मैं) कहते हैं, मैं पानी-पाँड़े थोड़े ही हूँ, जो ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे सबको पानी पिलाता फिरूँ। इससे लोग और नाराज़ हो गये थे। साहित्य की तरह सामज में भी दूर-दूर तक मेरी तारीफ़ फैल चुकी थी–विशेष रूप से जब एक दिन विलायत की रोटी-पार्टी की तारीफ़ करनेवाले एक देहाती स्वामीजी को मैंने कवाब खाकर काबुल में प्रचार करनेवाले, रामचन्द्रजी के वक्त के, एक ऋषि की कथा सुनाई, और मुझसे सुनकर वहीं गाँव के ब्राह्मणों के सामने बीड़ी पीने के लिए प्रचार करके भी वह मुझे नीचा नहीं दिखा सके–उन दिनों भाग्यवश मिले हुए अपने आवारागर्द नौकर से बीड़ी लेकर, सबके सामने दियासलाई लगाकर मैंने समझा दिया कि तुम्हारा इस जूठे धुएँ से बढ़कर मेरे पास दूसरा महत्त्व नहीं।

मैं इन आश्चर्य की आँखों के भीतर बादाम और ठण्डाई लेकर ज़रा रीढ़ सीधी करने को हुआ कि एक बुड्ढे पंडितजी एक देहाती भाई के साथ मेरी ओर बढ़ते नज़र आये।

मैंने सोचा, शायद कुछ उपदेश होगा। पंडितजी सारी शिकायत पीकर, मधु-मुख हो अपने प्रदर्शक से बोले–"आप ही हैं?" उसने कहा–हाँ, यही हैं।" पंडितजी देखकर गद्गद हो गये। ठोढ़ी उठाकर बोले–"ओहोहो! आप धन्य हैं।" मैंने मन में कहा–"नहीं, मैं वन्य हूँ। मज़ाक करता है खूसट।" पर ग़ौर से उनका पग्ग और खौर देखकर कहा–"प्रणाम करता हूँ पंडितजी।" पंडितजी मारे प्रेम के संज्ञा खो बैठे। मेरा प्रणाम मामूली प्रणाम नहीं–बड़े भाग्य से मिलता है। मैं खड़ा पंडितजी को देखता रहा। पंडितजी ने अपने देहाती साथी से पूछा–"आप बे-मे सब पास हैं?" उनका साथी अत्यन्त गम्भीर होकर बोला–"हाँ! ज़िला में दूसरा नहीं है।" होंठ काटकर मैंने कहा–"पंडितजी, रास्ते में दो नाले और एक नदी पड़ती है। भेड़िए लागन हैं। डंडा नहीं लाया। आज्ञा हो, तो चलूँ–शाम हो रही है।" पंडितजी स्नेह से देखने लगे। जो शिकायत उन्होंने सुनी थी, आँखों में उस पर सन्देह था; दृष्टि कह रही थी–"यह वैसा नहीं–ज़रूर गोश्त न खाता होगा, बीड़ी न पी होगी, लोग पाजी हैं।" प्रणाम करके, आशीर्वाद लेकर मैंने घर का रास्ता पकड़ा।

दरवाज़े पर आकर रुक गया। भीतर बातचीत चल रही थी। प्रकाश कुछ-कुछ था। सूर्य डूब रहे थे। मेरे पुत्र की आवाज़ आई–"बोल रे, बोल।" इस वीर-रस का अर्थ मैं समझ गया। अर्जुन बोलता हुआ हार चुका था, पर चिरंजीव को रस मिलने के कारण बुलाते हुए हार न हुई थी। चूँकि बार-बार बोलना पड़ता था, इसलिए अर्जुन बोलने से ऊबकर चुप था। डाँटकर पूछा गया, तो सिर्फ़ कहा–"क्या?"

"वही–गुण, बोल।"

अर्जुन ने कहा–"गुड़।"

बच्चे के अट्टहास से घर गूँज उठा। भरपेट हँसकर, स्थिर होकर फिर उसने आज्ञा की–"बोल–गणेश।"

रोनी आवाज़ में अर्जुन ने कहा–"गड़ेस।" खिलखिलाकर, हँसकर, चिरंजीव ने डाँटकर कहा–"गड़ेस-गड़ास करता है–साफ़ नहीं कह आता–क्यों रे, रोज़ दातौन करता है?"

अर्जुन अप्रतिभ होकर, दबी आवाज़ में एक छोटी-सी 'हूँ' करके, सर झुकाकर रह गया। मैं दरवाज़ा धीरे से धकेलकर भीतर खम्भे की आड़ से देख रहा था। मेरे चिरंजीव उसे उसी तरह देख रहे थे, जैसे गोरे कालों को देखते हैं। ज़रा देर चुप रहकर फिर आज्ञा की–"बोल वर्ण।"

अर्जुन की जान की आ पड़ी। मुझे हँसी भी आई, गुस्सा भी लगा। निश्चय हुआ, अब अुर्जन से विद्या का धनुष नहीं उठने का। अर्जुन वर्ण के उच्चारण में विवर्ण हो रहा था। तरह-तरह से मुँह बना रहा था। पर खुलकर कुछ कहता न था। उसके मुँह बनाने का आनन्द लेकर चिरंजीव ने फिर डाँटा–"बोलता है, या लगाऊँ झापड़। नहा लूँगा, गरमी तो है।"

मैंने सोचा, अब प्रकट होना चाहिए। मुझे देखकर अर्जुन खड़ा हो गया, और आँखें मल-मलकर रोने लगा। मैंने पुत्र-रत्न से कहा–"कान पकड़कर उठो-बैठो दस दफ़े।" उसने नज़र बदलकर कहा–"मेरा क़ुसूर कुछ नहीं, और मैं यों ही कान पकड़कर उठूँ-बैठूँ!" मैंने कहा–"तुम इससे गुस्ताखी कर रहे थे।" उसने कहा–"तो आपने भी की होगी। इससे 'गुण' कहला दीजिए, आपने पढ़ाया तो है, इसकी किताब में लिखा है।" मैंने कहा–"तुम हँसते क्यों थे?" उसने कहा–"क्या मैं जान-बूझकर हँसता था?" मैंने कहा–"अब आज से तुम इससे बोल न सकोगे।" लड़के ने जवाब दिया–"मुझे मामा के यहाँ छोड़ आइए, यहाँ डाल के आम खट्टे होते हैं–चोपी होती है–मुँह फदक जाता है, वहाँ पाल के आम आते हैं।"

चिरंजीव को नाई के साथ भेजकर मैंने अर्जुन और चतुरी को सांत्वना दी।

4

कुछ महीने और मुझे गाँव रहना पड़ा। अर्जुन कुछ पढ़ गया। शहरां की हवा मैंने बहुत दिनों से न खाई थी–कलकत्ता, बनारस, प्रयाग आदि का सफ़र करते हुए लखनऊ में डेरा डाला–स्वीकृत किताबें छपवाने के विचार से। कुछ काम लखनऊ में और मिल गया। अमीनाबाद होटल में एक कमरा लेकर निश्चिन्त चित्त से साहित्य-साधना करने लगा।

इन्हीं दिनों देश में आन्दोलन, ज़ोरों का चला–यही, जो चतुरी आदिकों के कारण फिस्स हो गया है। होटल में रहकर, देहात से आने वाले शहरी मित्रों से सुना करता था, गढ़ाकोला में भी आन्दोलन ज़ोरों पर है–छ-सात सौ तक का जोत किसान लोग इस्तीफ़ा देकर छोड़ चुके हैं–वह ज़मीन अभी तक नहीं उठी–किसान रोज़ इकट्ठे होकर झंडा-गीत गाया करते हैं। साल-भर बाद, जब आन्दोलन में प्रतिक्रिया हुई, ज़मींदारों ने दावा करना और रियाया को बिना किसी रियायत के दबाना शुरु किया, तब गाँव के नेता मेरे पास मदद के लिये आए, बोले–"गाँव में चलकर लिखो। तुम रहोगे, तो मार न पड़ेगी, लोगों को हिम्मत रहेगी, अब सख्ती हो रही है।" मैंने कहा–"मैं कुछ पुलिस तो हूँ नहीं, जो तुम्हारी रक्षा करूँगा, फिर मार खाकर चुपचाप रहनेवाला धैर्य मुझमें बहुत थोड़ा है, कहीं ऐसा न हो कि शक्ति का दुरुपयोग हो।" गाँव के नेता ने कहा–"तुम्हें कुछ करना तो है नहीं, बस बैठे रहना है।" मैं गया।

मेरे गाँव की कांग्रेस ऐसी थी कि ज़िले के साथ उसका कोई ताल्लुक़ न था–किसी खाते में वहाँ के लोगों के नाम दर्ज न थे। पर काम में पुरवा-डिविज़न में उससे आगे दूसरा गाँव न था। मेरे जाने के बाद पता नहीं, कितनी दरख्वास्तें ज़मींदार साहब ने इधर-उधर लिखीं।

कच्चे रंगों से रँगा तिरंगा झंडा महावीर स्वामी के सामने एक बड़े बाँस में गड़ा, बारिश से धुलकर धवल हो रहा था। इन दिनों मुक़दमेबाजी और तहक़ीक़ात ज़ोरों से

चल रही थी। कुछ किसानों पर, एक साल के हरी-भूसे को तीन साल की बाक़ी बनाकर, ज़मींदार साहब ने दावे दायर किए थे, जो अपनी क्षुद्रता के कारण ज़मींदार आनरेरी मजिस्ट्रेट के पास आकर किसानों की दृष्टि में और भयानक हो रहे थे। एक दिन, दरख्वास्तों के फलस्वरूप शायद, दारोग़ाजी तहक़ीक़ात करने आए। मैं मगरायर डाक देखने जा रहा था। बाहर निकला, तो लोगों ने कहा–"दारोग़ाजी आए हैं, अभी रहो।" आगे दारोग़ाजी भी मिल गए। ज़मींदार साहब ने मेरी तरफ़ दिखाकर अँगरेज़ी में धीरे से कुछ कहा। तब मैं कुछ दूर था, सुना नहीं। गाँववाले समझे नहीं, दारोगाजी झंडे की तरफ़ जा रहे थे। ज़मींदार शायद उखड़वा देने के इरादे से लिये जा रहे थे। महावीरजी के अहाते में झंडा देखकर दारोग़ाजी कुछ सोचने लगे, बोले–"यह तो मंदिर का झंडा है।" अच्छी तरह देखा, उसमें कोई रंग न देख पड़ा। ज़मींदार साहब को ग़ौर से देखते हुए लौटकर डेरे की तरफ़ चले। ज़मींदार साहब ने बहुत समझाया कि यह बारिश से धुलकर सफ़ेद हो गया है, लेकिन है यह कांग्रेस का झंडा। पर दारोग़ाजी बुद्धिमान थे। महावीरजी के अहाते में सफ़ेद झंडे को उखड़वाकर वीरता प्रदर्शित करने की आज्ञा न दी। गाँव में कांग्रेस है, इसका पता न सब-डिविज़न में लगा, न ज़िले में; थानेदार साहब करें क्या?

उन दिनों मुझे उन्निद्र-रोग था। इसलिये सर के बाल साफ़ थे। मैंने सोचा–"वेश का अभाव है, तो भाषा को प्रभावशाली करना चाहिए; नहीं तो थानेदार साहब पर अच्छी छाप न पड़ेगी। वहाँ तो महावीर स्वामी की कृपा रही, यहाँ अपनी ही सरस्वती का सहारा है।" मैं ठेठ देहाती हो रहा था; थानेदार साहब ने मुझसे पूछा–"आप कांग्रेस में हैं?" मैंने सोचा–"इस समय राष्ट्रभाषा से राजभाषा का बढ़कर महत्त्व होगा।" कहा–"मैं तो विश्व-सभा का सदस्य हूँ।" इस सभा का नाम भी थानेदार साहब ने न सुना था। पूछा–"यह कौन-सी सभा है?" उनके जिज्ञासा-भाव पर गम्भीर होकर नोबुल-पुरस्कार पाए हुए कुछ लोगों के नाम गिनाकर मैंने कहा–"ये सब उसी सभा के सदस्य हैं।" थानेदार साहब क्या समझे; वह जानें। मुझसे पूछा, "इस गाँव में कांग्रेस है?" मैंने सोचा–युधिष्ठिर की तरह सत्य की रक्षा करूँ, तो असत्य-भाषण का पाप न लगेगा।" कहा–"इस गाँव के लोग तो कांग्रेस का मतलब भी नहीं जानते।" इतना कहकर मैंने सोचा–"अब ज़्यादा बातचीत ठीक न होगी।" उठकर खड़ा हो गया, और थानेदार साहब से कहा–"अच्छा, मैं चलता हूँ। ज़रा डाकखाने में काम है। चिट्ठीरसा हफ़्ते में दो ही दिन गश्त पर आता है। मेरी ज़रूरी चिट्ठियाँ होती हैं, और रजिस्ट्री, अखबार, मासिक पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं, फिर उस गाँव में हम लोगों की लाइब्रेरी भी है, जाना पड़ता है।" थानेदार साहब ने पूछा–"कांग्रेस की चिट्ठियाँ आती हैं?" मैंने कहा–"नहीं, मेरी अपनी।" मैं चला आया। थानेदार साहब ज़मींदार साहब से शायद नाराज़ होकर गये।

इससे तो बचाव हुआ, पर मुक़द्दमा चलता रहा। ज़मींदार ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट ने, जिनके एक रिश्तेदार ज़मींदार की तरफ़ से वकील थे, किसानों पर ज़मींदार को डिगरी

दे दी। बाद में चतुरी वग़ैरह की बारी आई। दावे दायर हो गये, अब तक जो सम्मिलित धन मुक़द्दमों में लग रहा था, सब खर्च हो गया। पहले की डिगरी में कुछ लोगों के बैल वग़ैरह नीलाम कर लिये गये। लोग घबरा गये। चतुरी को मदद की आशा न रही। गाँववालों ने चतुरी आदि के लिये दोबारा चन्दा न लगाया।

चतुरी सूखकर मेरे सामने आकर खड़ा हुआ। मैंने कहा–"चतुरी, मैं शक्ति-भर तुम्हारी मदद करूँगा।"

"तुम कहाँ तक मदद करोगे काका?" चतुरी जैसे कुएँ में डूबता हुआ उभड़ा।

"तो तुम्हारा क्या इरादा है?" उसे देखते हुए मैंने पूछा।

"मुक़द्दमा लड़ूँगा। पर गाँववाले डर गये हैं, गवाही न देंगे।" दिल से बैठा हुआ चतुरी बोला।

उस परिस्थिति पर मुझे भी निराशा हुई। उसी स्वर से मैंने पूछा– "फिर, चतुरी?"

चतुरी बोला–"फिर छेदनी-पिरकिया आदि मालिक ही ले लें।"

मैंने गांव में कुछ पक्के गवाह ठीक कर दिए। सत्तू बांधकर रेल छोड़कर पैदल दस कोस उन्नाव चलकर, दूसरी पेशी के बाद पैदल ही लौटकर हँसते हुए चतुरी बोला–"काका, जूता और पुरवाली बात अब्दुल-अर्ज में दर्ज नहीं है। □

हार-जीत

सुदर्शन
(जन्म : सन् 1896 ई.)

यह उन दिनों की बात है, जब भारत पर अंग्रेजों का शासन था और भारतीय देशभक्त विलायती कपड़े का बायकाट कर रहे थे।

कलकत्ते के सेठ नरोत्तमदास बड़े प्रसिद्ध व्यापारी थे। उन्हें लाखों की आमदनी थी। वैसे तो उन्होंने कई कामों में रुपया लगा रखा था, परन्तु उनका अधिकतर काम कपड़े का था। दूसरे-तीसरे महीने दो-तीन लाख का आर्डर विलायत जाता रहता था। उनकी दुकान पर सौ-दो सौ रुपये का कपड़ा नहीं बिकता था। वे इसे अपना अपमान समझते थे। उनके सौदे हज़ारों से कम नहीं होते थे। उनकी गिनती कलकत्ते के प्रतिष्ठित पुरुषों में थी। बच्चे-बूढ़े सब उनके नाम को जानते थे। और इतना ही नहीं, गवर्नमेंट के अफसरों तक उनकी पहुँच थी। हर अवसर पर बीस-तीस हज़ार रुपया चन्दा के देते थे।

जब देश में स्वदेशी की लहर उठी, तो सेठ साहब भी चौकन्ने हुए। जगह-जगह जलसे हो रहे थे, दो-तीन व्यापारियों ने जोश में आकर प्रण भी कर लिया, कि हम भविष्य में विलायती कपड़ा नहीं मँगाएँगे। परन्तु सेठ साहब पर इस आन्दोलन का ज़रा भी प्रभाव न पड़ा, जिस प्रकार तेल के घड़े पर जल नहीं ठहरता। जब कोई उनसे कहता-"सेठ साहब! आप कब तक इस कीच में फँसे रहेंगे?" तो वे हँसकर उत्तर देते-"इस कीच से मेरी तो लाश ही निकलेगी, मैं जीते जी तो इसे न छोड़ूँगा।" इसके बाद भोला-सा मुँह बनाकर कहते-"देखिए साहब! यह गुल-गपाड़ा केवल चार दिन का है। थोड़े दिन और ठहर जाइए! फिर वही विलायती माल और वही यह लोग। क्या आप समझते हैं कि विलायती कपड़े की मार्केट बन्द हो जाएगी! कुछ ही दिनों में देख लेना, लोग इस खादी से तंग आ जायेंगे। जोश में आया हुआ मनुष्य कुछ समझ नहीं सकता, वर्ना क्या आप ख्याल भी कर सकते हैं, कि यदि भारतवर्ष से अंग्रेज चले जाएं, तो यहाँ मार-काट आरम्भ न हो जाए। हमारे कई पड़ोसी देश इन्हीं से डरते हैं। नहीं तो चार दिन में खा जायें।

परन्तु सेठ साहब का पुत्र लखमीचन्द इस आन्दोलन का तन-मन से पक्षपाती था। प्राय: जोश से कहा करता–विलायती कपड़े ने ही हमारे देश को पराधीन बना रखा है। जब तक स्वदेशी का आन्दोलन पूर्णरूप से सफल नहीं होता, तब तक हमारी गुलामी का भी पूर्णरूप से नाश नहीं होगा। जब वह विलायत के बहुत बढ़िया कपड़े पहना करता था, उस समय ऐसा जान पड़ता था, जैसे कोई बैरिस्टर है। परन्तु, अब उसकी अवस्था में आकाश-पाताल का अन्तर था। अब तो विलायती कपड़े देखकर ही उसकी आँखों में लहू उतर आता था।

एक दिन वह बाज़ार से खद्दर के कपड़े खरीद लाया, और अपने विलायती कपड़ों के भरे हुए तीन सन्दूकों में आग लगा दी।

सायंकाल सेठ साहब ने यह सुना, तो क्रोध से लाल-पीले हो गए और स्त्री के पास जाकर बोले–"यह तुम्हारा लाल क्या कर रहा है? सुना है, आज उसने अपने सब कपड़े जला डाले हैं!"

सेठानी ने धीरे से उत्तर दिया–"मैं भी उस समय वहाँ खड़ी यह देख रही थी।"

"तो तुमने उसे रोका नहीं?"

"मैं रोक कर क्या करती? वह कोई बुरा काम थोड़े ही कर रहा था।"

"तो तू भी उसके साथ है?"

"और क्या? मैं तो उससे भी आगे हूँ।"

"बड़ा शुभ काम है? जब तो तुम समझती होगी कि आज तुमने तीर्थयात्रा कर ली?"

सेठानी का चेहरा तमतमा उठा। वह तमककर बोली–"तीर्थयात्रा से भी बढ़कर।"

सेठ साहब ने बैठकर कहा–"मेरे घर में यह बेहूदगियाँ न चलेंगी।"

"देखो! लड़के को कुछ कह न बैठना। उसका दिल छोटा हो जाएगा। और यह काम वैसे भी भला ही है। कोई सारा देश पागल नहीं हो गया।"

"पागल ही हो गया है।"

"महात्मा गांधी भी?"

"यह मैं नहीं कह सकता। परन्तु इतना अवश्य कहूँगा, कि यह जोश चार दिन का है। इसके बाद फिर लोग वही विलायती कपड़ा पहनने लगेंगे।"

सेठानी ने कहा–"अच्छा! अब लड़के को कुछ कह न बैठना।"

सेठ साहब तिलमिला उठे, जैसे बच्चे के मुँह में मिर्च आ जाए। उन्होंने सेठानी को घूरकर देखा, और बोले–"तुम उसकी बार-बार सिफारिश क्यों कर रही हो? उसने जो नुकसान कर दिया है, उसके विषय में दो बातें करना भी अब पाप हो गया?"

इतने में लखमीचन्द बाहर से आया। वह खादी के कपड़े पहने हुए था। पाँव में चप्पल था। इस समय वह सन्तोष की मूर्ति दिखाई देता था। परन्तु सेठ साहब के सिर से पाँव तक आग लग गई। बिफरे हुए शेर की तरह बोले–"यह क्या रंग बनाया है तूने?"

लखमीचन्द ने सिर झुकाकर बड़ी शान्ति से उत्तर दिया–"कुछ नहीं, खादी है।"

"तू भी पागल हो गया क्या?"

"देश के साथ रहना ही उचित है। मैं तो आपसे भी प्रार्थना करूँगा, कि विलायती कपड़े का व्यापार बन्द कर दें।"

"और खायें कहाँ से?"

"भगवान एक दरवाज़ा बन्द करेगा, सौ दरवाजे और खोल देगा और हमें तो चिन्ता ही काहे की है?"

सेठ साहब ने गरजकर कहा–"तू बकता क्या है? मेरे घर में यह पागलपन नहीं चलेगा।"

लखमीचन्द सीधे स्वभाव का आदमी था। वह पिता के सामने सिर उठाना अनुचित समझता था। परन्तु वह अनुचित दबाव सहन न कर सका। सिर उठाकर बोला–"मेरा यह पागलपन अब दूर नहीं होगा, बढ़ेगा। और मुझे इससे खुशी होगी।"

"अच्छा! इतनी हिम्मत है तुम्हारी?"

"मैंने कोई अनुचित बात तो नहीं कही।"

"मैं तुझे घर से निकाल दूँ, तो एक दिन में होश आ जाए।"

पिता यहाँ तक पहुँच जायेंगे, लखमीचन्द को यह आशा न थी। वह क्रोध से बोला–"तो इससे मैं भी मर न जाऊँगा। लीजिए, मैं यह चला।"

सेठानी के दिल में तीर-सा चुभ गया। वह रोती हुई बोली–"बेटा! तू यह क्या पागलपन करता है? तूने तो कभी इतना क्रोध नहीं किया था आज तक।"

लखमीचन्द ने मुँह मोड़कर कहा–"आपने देखा! पिताजी ने क्या कहा है मुझे?"

सेठ साहब बोले–"हाँ! ठीक कहा है। जाओ। देखता हूँ, कौन माँ तुम्हारे लिए पराँठे लेकर बैठी है। और कौन बाप तुम्हारे लिए रुपये की थैलियाँ खोले राह देख रहा है?"

लखमीचन्द ने जवाब न दिया और चुपचाप बाहर निकल गया।

उसकी माँ कुछ क्षण तक चुपचाप बैठी रही। अब सेठ साहब मन ही मन लज्जित हो रहे थे, कि क्यों क्रोध किया? बात को इतना बढ़ाना उचित न था। मगर अब अपना दोष मानते हुए लज्जा आती थी। यह लज्जा कभी-कभी हमें बहुत खराब करती है और हमारी खुशियों के कई दरवाजे हम पर बन्द कर देती है।

थोड़ी देर बाद सेठानी ने नागिन के समान गर्दन ऊँची करके कहा–"अगर मेरे लड़के को कोई तकलीफ हुई तो आप जानेंगे।"

दूसरे दिन सेठ साहब की स्त्री ने भी खद्दर के कपड़े पहन लिये। सेठ साहब ने यह देखा, तो दिल में पानी पानी हो गये। वह मानते नहीं थे, परन्तु उनका मन उनसे साफ कहता था कि दोष उन्हीं का है। इस दोष को स्वीकार करते हुए उनका मुँह कोई बंद कर देता था। उन्होंने स्त्री को इस वेश में देखा और दृष्टि नीची करके रह गये। कोई बात करने का साहस न हुआ। चुपचाप दूकान को चले गये।

सायंकाल को मालूम हुआ, कि स्त्री भी घर से बेटे के पास चली गई है। लखमीचन्द

ने बाज़ार में एक बैठक किराए पर ले ली थी। उसकी माँ भी वहीं जा पहुँची। लखमीचन्द ने उसे खद्दर के भेष में देखा, तो उसके हर्ष की सीमा न रही। वह खुशी से उसके पाँव से लिपट गया। माँ ने कहा–"लखमी! उठ, घर चल।"

लखमीचन्द ने उठकर उत्तर दिया–"आपने देखा, पिताजी ने कैसी धमकी दी थी?"

माता–"पिता पुत्र को धमकाया ही करते हैं, और पुत्र धमकियां खाया ही करते हैं।"

"परन्तु यह धमकी बिल्कुल नामुनासिब थी।"

"नामुनासिब थी, तो भी मामूली बात है।"

माँ ने पुत्र को बहुत समझाया, परन्तु उसे एक 'न' अक्षर ऐसा पकड़ा कि सैकड़ों यत्न करने पर भी न छोड़ा। हारकर वह भी वहीं रहने लगी। पुत्र-प्रेम ने पति-प्रेम को दबा दिया। सेठ साहब झुंझलाकर रह गये। परन्तु अपने हठ पर वह भी अड़े रहे। मूछों पर ताव देकर बोले–"देखता हूँ, यह अकड़ कितने दिन चलती है?"

दूसरे दिन शहर में नया खेल आरम्भ हुआ। कांग्रेस के आदमियों ने विलायती कपड़े की दुकानों पर पहरा लगा दिया। स्वयंसेवकों की सरगरमी देखने के योग्य थी। उनका जोश देखकर मन का कमल खिल उठता था। लखमीचन्द भी एक बज़ाज़ की दुकान पर जाकर बोला–"सेठ साहब! मेरी एक प्रार्थना है आपसे।"

सेठ साहब ने खद्दर का भेष, अमीरों का-सा रूप-रंग और देवताओं का-सा तेज प्रताप देखा, तो उनका हृदय श्रद्धा से भर गया। आदर से बोले–"कहिए, क्या आज्ञा है?"

"यह काम बड़ा नीच है। इसे छोड़ दीजिये।"

"कौन-सा काम नीच है?"

"यही विलायती कपड़े का काम! सारा देश इसके विरुद्ध खड़ा हो गया है।" दुकान्दार ने हाथ जोड़कर पूछा–"तो महाराज! खायेंगे कहाँ से? और खायेंगे क्या?"

"आपको भगवान ने बहुत-कुछ दे रखा है। आप सौ काम कर सकेंगे।"

इतने में एक दूसरा दूकानदार आ गया। उसने आते ही लखमीचन्द की ओर आगभरी आँखों से देखा और बोला–"क्या बात है? क्या कहते हैं यह?"

पहले दूकानदार को सहारा मिल गया, ज़रा तेज़ होकर बोला–"कहते हैं, विलायती कपड़ा बेचना बन्द कर दो।"

दूसरे दुकानदार ने कहा–"हम यह नहीं कर सकते। हम कपड़ा बराबर बेचेंगे।"

"तो आपकी दुकानों पर पहरा लगाना पड़ेगा।"

पहला दुकानदार घबरा गया। उसने सुना था, कि स्वयंसेवकों का पहरा कितना सख्त होता है और उसका परिणाम कैसा भयानक होता है? उसके चेहरे का रंग उड़ गया। मगर दूसरे दुकानदार पर इसका कुछ असर न हुआ। उसने हँसी उड़ाते हुए कहा–"तू लखमीचन्द है क्या?"

लखमीचन्द का कलेजा धड़कने लगा। उसने उत्तर दिया–"जी हाँ।"

"सेठ नरोत्तमदास का बेटा?"

"जी हाँ!"

"तो भाई मेरे! पहले बाप का काम तो छुड़वा लो, फिर हमारी दूकानों पर भी चले आना।"

पहले दुकानदार के शरीर में जान आ गई। उसने कहा–"अच्छा! यह उनका बेटा है। राम-राम! तो बेटा! पहले बाप की दुकान पर पहरा क्यों नहीं लगाते? हमारी तो बाद में बारी आनी चाहिए। कल्याण का काम पहले घर से शुरु करो ना। घर में दिया जलाकर मन्दिर में तुम जलाना।"

लखमीचन्द के कलेजे में तीर-सा लगा। उसने सोचा–सचमुच यह मेरी ढिठाई है, जो पहरे के लिए खड़ा हो गया। मुझे पिता की परिस्थिति देखनी चाहिए थी। इस तरह तो हमारे आन्दोलन की हँसाई हो सकती है।

उसका जोश सोडे के उबाल की तरह बैठ गया। वह लज्जित होकर अपने कप्तान के पास गया, और बोला–"मेरा पहरा पिताजी की दुकान पर लगा दें, तो बड़ी कृपा हो।"

कप्तान ने सारी बात सुनी तो हैरान रह गया–"यह बड़ी कठिन-सी बात है।"

"मगर मैं आसान कर दूँगा।"

"आज की खबरें तुमने सुनीं?"

"जी नहीं।"

"तुम्हारे पिताजी ने हमारे पन्द्रह स्वयंसेवक गिरफ्तार करा दिए हैं।"

लखमीचन्द ने लज्जित होकर और सिर झुकाकर उत्तर दिया–"तो मैं इसका प्रायश्चित्त करना चाहता हूँ।"

इस समय उसके मुँह पर ऐसी लज्जा बरस रही थी, मानो स्वयं उसने कोई अपराध किया हो। पिता के दोष पर पुत्र लज्जित हुआ।

कप्तान ने कहा–"तो अच्छा! कल से तुम्हारा पहरा तुम्हारे पिता की दुकान पर है।"

प्रातःकाल हो चुका था। सेठ नरोत्तमदास की दुकान पर स्वयंसेवकों की भीड़ थी। वह व्यापारियों की मिन्नतें करते थे, उनको समझाते थे, उनके पाँव पकड़ लेते थे। व्यापारियों के हृदय पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा। सब दुकानें बन्द करके वापस चले गये।

सेठ साहब ने दूकान से बाहर निकलकर कहा–"मैं फोन पर पुलिस को खबर देने जाता हूँ। आप लोग यदि हट जायें, तो अच्छा है। नहीं तो जो होगा, देखा जाएगा।"

एकाएक उनकी दृष्टि लखमीचन्द पर पड़ी। उनके हौसले टूट गए। जिस तरह उड़ता हुआ कबूतर बाज को देखकर सहम जाता है, उसी तरह पुत्र को स्वयंसेवकों में देखकर पिता का जोश बैठ गया। मन में सोचा, यही लड़का है, जो कभी मोटर के बिना दो पग भी नहीं चलता था। आज इसके पाँव में साधारण-सी चप्पल है। सिर के बाल खुश्क हो गए हैं, कपड़े खद्दर के, परन्तु चेहरा उसी तरह चमक रहा है। घर से बेघर होकर भिखारियों की तरह काम कर रहा है। परन्तु अपना कोई स्वार्थ नहीं। जो कुछ करता है, देश और जाति के हित के लिए करता है। और इस समय कैद होने को भी तैयार

है। राजकुमारों की तरह पला है, परन्तु अपराधियों की तरह दंड भुगतने को उतारू है। एक मैं हूँ, जो धन के लोभ में देश और जाति दोनों की परवाह नहीं करता। कहने को कोई न कहे, मगर यह बात तो सच्ची है कि हम अपने लाभ के लिए भारत को लुटा रहे हैं। अगर यहाँ का रुपया यहीं रहे, तो कितने घरों का रोना बन्द हो जाये, और कितने गरीबों की कंगाली दूर हो जाये। हमने मलमल की बारीकी और मखमल की नर्मी को देख लिया है। यह विचार नहीं किया कि अपने कपड़े का चलन हो, तो कितनी विधवाओं के लिए आजीविका बन सकती है।

सेठ का हृदय भर आया। उन्होंने लखमीचन्द को घर से निकाल दिया था परन्तु उसके प्यार को दिल से न निकाल सके। चुपचाप दुकान के अन्दर चले गये। लखमीचन्द ने यह देखा, तो सब कुछ समझ गया।

थोड़ी देर बाद दुकान के एक नौकर ने आकर लखमीचन्द से कहा–"आपको सेठ साहब बुला रहे हैं।"

लखमीचन्द दुकान में गया और बाप के सामने चुपचाप खड़ा हो गया। सेठ साहब ने उठकर उसे गले से लगा लिया और कहा–"लखमी! तुमने मुझे शिक्षा दे दी है। मैं यह काम छोड़ रहा हूँ।"

लखमीचन्द पर जादू-सा हो गया। उसने रुक-रुककर पूछा–"तो आप यह काम छोड़ रहे हैं?"

"हाँ! छोड़ रहा हूँ।"

"कब?"

"अभी–इसी समय।"

लखमीचन्द ने पिता की ओर देखकर कहा–"मैंने आपके सामने गुस्ताखी की थी, मुझे क्षमा कर दीजिए।"

नरोत्तमदास ने पुत्र को दूसरी बार फिर गले से लगाया और प्यार से उस का माथा चूम लिया।

इतने में मुन्शी ने एक कागज़ हस्ताक्षर कराने के लिए सामने रख दिया। इसमें एक अंग्रेजी फर्म के नाम तीन लाख रुपये की धोतियों का आर्डर था। सेठजी ने उसे फाड़कर फेंक दिया और मैनेजर से कहा–"दुकान बंद कर दो।" फिर लखमीचन्द से बोले–"तुम मोटर लेकर घर चलो और माँ को भी लेते चलो। मैं भी ज़रा ठहर कर आता हूँ।"

लखमीचन्द गद्गद् हो रहा था। हँसता हुआ वालंटियरों के पास गया और बोला–"पहरा हटा दो, दुकान बन्द कर दी गई है।"

एक स्वयंसेवक ने पूछा–"और यह माल?"

"किसी दूसरे देश में थोड़े मूल्य पर बेच दिया जाएगा।"

स्वयंसेवकों ने चिल्लाकर कहा–"बोलो भारत-माता की जय!"

"सेठ नरोत्तमदास की जय!"

"भाई लखमीचन्द की जय!"

रात का समय था, सेठ नरोत्तमदास मोटर से उतर कर मकान के अन्दर गये। उनकी स्त्री ने उनकी ओर देखा, तो आनन्द से झूमने लगी—सेठ साहब भी खद्दर के कपड़े पहने हुए थे। उसने सेठ साहब को विलायत के बने बढ़िया और बहूमूल्य कपड़े पहने देखा था। वे उनके शरीर पर सजते थे। परन्तु आज खद्दर के कपड़ों में वे मनुष्य नहीं देवता मालूम होते थे। उन कपड़ों में ओछापन था, इनमें भोलापन। उनमें दिखावा था, इनमें सच्चाई। उनमें भड़क थी, इनमें सादगी। उनमें और इनमें ज़मीन-आसमान का अन्तर था।

सेठानी का हृदय आनन्द में मस्त हो उठा। वह खुशी से उठकर पति के पैरों में गिर पड़ी। सेठ साहब ने कहा—"तुम्हारे लिए एक चीज़ लाया हूँ।"

सेठानी ने कुछ उदिग्न-सी होकर पूछा—"वह क्या?"

"लखमी कहाँ है?"

"अपने कमरे में।"

"ज़रा बुलाओ तो।"

लखमीचन्द आ गया! पिता को खद्दर के भेष में देखकर उसका हृदय भी गद्गद हो गया। सेठ साहब ने कहा—"बेटा! बाहर मोटर में तुम्हारी माँ के लिए एक तोहफा रखा है। जाओ, उठा लाओ।"

थोड़ी देर बाद लखमीचन्द एक सुन्दर चर्खा और रुई उठाए हुए अन्दर आया। सेठानी ने हँसकर कहा—"मेरे विचार में यह चार दिन का खेल है। फिर वही लोग होंगे और फिर वही विलायती माल।"

सेठ साहब का मुँह लाल हो गया। कुछ दिन पहले यही शब्द उन्होंने आप कहे थे। उस समय उनका विचार था, कि यह आन्दोलन शीघ्र ही मर जाएगा। परन्तु अब अवस्था बदल गई थी। अब उनको पूर्ण विश्वास हो गया था कि इस आन्दोलन को ब्रह्मा भी नहीं मार सकता। अब वह स्वयं स्वदेशी वस्त्र पहन चुके थे। लज्जित से होकर बोले—"लज्जित क्यों करती हो? मैं अपनी हार स्वीकार करता हूँ।"

"परन्तु आपने हारकर ही बाजी जीत ली है।"

सेठ साहब समझ न सके, कि इसका अर्थ क्या है। हैरान होकर बोले—"इससे तुम्हारा क्या मतलब है?"

लखमीचन्द ने दैनिक पत्र 'आन्दोलन' का आज का अंक उनके हाथ में देकर कहा—"देखिए।"

सेठ साहब ने पर्चा लेकर देखा। पहला ही लेख उनकी प्रशंसा में था। पढ़कर बोले—"क्या वाहियात है! मैं इस प्रशंसा के योग्य नहीं।"

सेठानी चर्खा कातने लगी थी। उसकी धूँ-धूँ की सुमधुर आवाज में यह शब्द डूब गये। लखमीचन्द खड़ा मुस्करा रहा था। कमरा मुस्करा रहा था। कमरे की दीवारें मुस्करा रही थीं। ☐

मिठाईवाला

भगवतीप्रसाद वाजपेयी
(जन्म : सन् 1899 ई.)

बहुत ही मीठे स्वरों के साथ वह गलियों में घूमता हुआ कहता, "बच्चों को बहलानेवाला, खिलौनेवाला।"

इस अधूरे वाक्य को वह ऐसे विचित्र, किन्तु मादक मधुर ढंग से गाकर कहता कि सुननेवाले एक बार अस्थिर हो उठते। उसके स्नेहाभिषिक्त कण्ठ से फूटा हुआ उपर्युक्त गान सुनकर निकट के मकानों में हलचल मच जाती। छोटे-छोटे बच्चों को अपनी गोद में लिए हुए युवतियां चिकों को उठाकर छज्जों पर से नीचे झांकने लगतीं। गलियों और उनके अन्तर्व्यापी छोटे-छोटे उद्यानों में खेलते और इठलाते हुए बच्चों का झुण्ड उसे घेर लेता। और तब वह खिलौनेवाला वहीं कहीं बैठकर खिलौनों की पेटी खोल देता।

बच्चे खिलौने देखकर पुलकित हो उठते। वे पैसे लाकर खिलौनों का मोल-भाव करने लगते। पूछते, "इछका दाम क्या है औल इछका, औल इछका?" खिलौनेवाला बच्चों को देखता, उनकी नन्हीं-नन्हीं अंगुलियों और हथेलियों से पैसे ले लेता और बच्चों को इच्छानुसार उन्हें खिलौने दे देता। खिलौने लेकर फिर बच्चे उछलने-कूदने लगते और फिर खिलौनेवाला उसी प्रकार गाकर चल देता, "बच्चों को बहलानेवाला खिलौनेवाला।" सागर की हिलोर की भांति उसका वह मादक गान गली-भर के मकानों में, इस ओर से उस ओर तक लहराता हुआ पहुंचता और खिलौनेवाला आगे बढ़ जाता।

राय विजयबहादुर के बच्चे भी एक दिन खिलौने लेकर घर आए। वे दो बच्चे थे-चुन्नू और मुन्नू। चुन्नू जब खिलौना ले आया तो बोला, "मेरा घोला कैछा छुन्दल ऐ!"

मुन्नू बोला, "औल देखो मेला आती कैछा छुन्दल ऐ!"

दोनों अपने हाथी-घोड़े लेकर घर-भर में उछलने लगे। इन बच्चों की मां रोहिणी कुछ देर तक खड़े-खड़े उनका खेल निरखती रही। अन्त में दोनों बच्चों को बुलाकर उसने पूछा, "अरे ओ चुन्नू-मुन्नू, ये खिलौने तुमने कितने में लिए हैं?"

मुन्नू बोला, "दो पैछे में खिलौनेवाला दे गआ ऐ!"

रोहिणी सोचने लगी, "इतने सस्ते कैसे दे गया है?"

कैसे दे गया है, यह तो वही जाने। लेकिन दे तो गया ही है, इतना तो निश्चय है।

जरा-सी बात ठहरी। रोहिणी अपने काम में लग गई। फिर कभी उसे इस पर विचार करने की आवश्यकता भला क्यों पड़ती!

2

छः महीने बाद–

नगर-भर में दो ही चार दिनों में एक मुरलीवाले के आने का समाचार फैल गया। लोग कहने लगे, "भाई वाह! मुरली बजाने में यह एक ही उस्ताद है। मुरली बजाकर, गाना सुनाकर, वह मुरली बेचता भी है। सो भी दो-दो पैसे में। भला इसमें क्या मिलता होगा! मेहनत भी तो न आती होगी।"

एक व्यक्ति ने पूछं लिया, "कैसा है वह मुरलीवाला, मैंने तो उसे नहीं देखा।"

उत्तर मिला, "उमर तो उसकी अभी अधिक न होगी, यही तीस-बत्तीस का होगा। दुबला-पतला गोरा युवक है, बीकानेरी रंगीन साफा बांधता है।"

"वही तो नहीं, जो पहले खिलौने बेचता था?"

"हां, जो आकार-प्रकार तुमने बतलाया, उसी प्रकार का वह भी था।"

"तो वही होगा। पर भई, है वह एक ही उस्ताद।"

प्रतिदिन इसी प्रकार उस मुरलीवाले की चर्चा होती। प्रतिदिन नगर की प्रत्येक गली में उसका मादक मृदुल स्वर सुनाई पड़ता, "बच्चों को बहलानेवाला, मुरलियावाला!"

रोहिणी ने भी मुरलीवाले का यह स्वर सुना। तुरन्त ही उसे खिलौनेवाला का स्मरण हो आया। उसने मन ही मन कहा, 'खिलौनेवाला भी इसी तरह गा-गाकर खिलौने बेचा करता था।'

रोहिणी उठकर अपने पति विजयबाबू के पास गई, "जरा उस मुरलीवाले को बुलाओ तो, चुन्नू-मुन्नू के लिए ले लूं। क्या जाने यह फिर इधर आए, न आए। वे भी, जान पड़ता है, पार्क में खेलने निकल गए हैं।"

विजयबाबू एक समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। उसी तरह उसे लिए हुए वे दरवाज़े पर आकर मुरलीवाले से बोले, "क्यों भाई, किस तरह देते हो मुरली?"

किसी की टोपी गली में गिर पड़ी। किसी का जूता पार्क में ही छूट गया और किसी की सुथनी (पायजामा) ही ढीली होकर लटक आई। इस तरह दौड़ते-हांफते हुए बच्चों का झुंड आ पहुंचा। एक स्वर से सब बोल उठे, "अम बी लेंदे मुल्ली, औल अम बी लेंदे मुल्ली।"

मुरलीवाला हर्ष-गद्‌गद् हो उठा, "सबको देंगे भैया, जरा रुको, जरा ठहरो, एक-एक को लेने दो। अभी इतनी जल्दी हम कहीं लौट थोड़े ही जाएंगे। बेचने तो आए ही हैं।

और हैं भी इस समय मेरे पास एक-दो नहीं, पूरी सत्तावन ··· हां बाबूजी, क्या पूछा था आपने, कितने में दी? ··· दीं तो वैसे तीन-तीन पैसे के हिसाब से हैं पर आपको दो-दो पैसे में ही दे दूंगा।"

विजयबाबू भीतर-बाहर दोनों रूपों में मुस्करा दिए। मन ही मन कहने लगे—कैसा ठग है! देता सबको इसी भाव से है, पर मुझपर उलटा एहसान लाद रहा है। फिर, "तुम लोगों की झूठ बोलने की आदत होती है। देते होंगे सभी को दो-दो पैसे में, पर एहसान का बोझ मेरे ऊपर लाद रहे हो।"

मुरलीवाला एकदम अप्रतिभ हो उठा। बोला, "आपको क्या पता बाबूजी कि इसकी असली लागत क्या है। यह तो ग्राहकों का दस्तूर होता है कि दूकानदार चाहे हानि ही उठाकर चीज क्यों न बेचे, पर ग्राहक यही समझते हैं—दूकानदार मुझे लूट रहा है। ··· आप भला काहे को विश्वास करेंगे! लेकिन सच पूछिए तो बाबूजी, इनका असली दाम दो ही पैसे है। आप कहीं से भी दो-दो पैसे में ये मुरलियां नहीं पा सकते। मैंने तो पूरी एक हज़ार बनवाई थीं, तब मुझे इस भाव पड़ी हैं।"

विजयबाबू बोले, "अच्छा, अच्छा, मुझे ज़्यादा वक्त नहीं है, जल्दी से दो ठो निकाल दो।"

दो मुरलियां लेकर विजयबाबू फिर मकान के भीतर पहुंच गए।

मुरलीवाला देर तक बच्चों के झुण्ड में मुरलियां बेचता रहा। उसके पास कई रंग की मुरलियां थीं। बच्चे जो रंग पसंद करते, मुरलीवाला उसी रंग की मुरली निकाल देता।

"यह बड़ी अच्छी मुरली है, तुम यही ले लो बाबू, राजा-बाबू, तुम्हारे लायक तो बस यह है। ··· हां भैये, तुमको वही देंगे। यह लो ··· तुमको वैसी न चाहिए, ऐसी चाहिए? ··· यह नारंगी रंग की एक? ··· अच्छा यही लो। ··· पैसे नहीं हैं? अच्छा अम्मां से पैसे ले आओ। मैं अभी बैठा हूँ। ··· तुम ले आए पैसे? ··· अच्छा, यह लो तुम्हारे लिए मैंने पहले से ही निकाल रखी थी। ··· तुमको पैसे नहीं मिले! तुमने अम्मां से ठीक तरह से न मांगे होंगे? धोती पकड़ के, पैरों में लिपट के अम्मां से पैसे मांगे जाते हैं, बाबू ··· हां फिर जाओ। अबकी बार मिल जाएंगे। ··· दुअन्नी है? तो क्या हुआ, ये छः पैसे वापस लो। ठीक हो गया न हिसाब? ··· मिल गए पैसे! देखो, मैंने कैसी तरकीब बताई! अच्छा, अब तो किसी को नहीं लेना है? ··· सब ले चुके? तुम्हारी मां के पास पैसे नहीं हैं! अच्छा, तुम भी यह लो। ··· अच्छा, तो मैं चलता हूं।"

इस तरह मुरलीवाला फिर आगे बढ़ गया।

3

आज अपने मकान में बैठी हुई रोहिणी मुरलीवाले की सारी बातें सुनती रही। आज भी उसने अनुभव किया, बच्चों के साथ इतने प्यार से बातें करनेवाला पहले कभी नहीं आया--फिर, वह सौदा भी कैसा सस्ता बेचता है और आदमी कैसा भला जान पड़ता

है! समय की बात है, जो बेचारा इस तरह मारा-मारा फिरता है। पेट जो कराए सो थोड़ा।

इसी समय मुरलीवाले का क्षीण स्वर निकट की दूसरी गली से सुनाई पड़ा–बच्चों को बहलानेवाला, मुरलीवाला!

रोहिणी इसे सुनकर मन ही मन कहने लगी, "स्वर कैसा मीठा है इसका!"

बहुत दिनों तक रोहिणी को मुरलीवाले का यह मीठा स्वर और उसकी बच्चों के प्रति स्नेहसिक्त बातें याद आती रहीं। महीने के महीने आए और चले गए, पर मुरलीवाला न आया। फिर धीरे-धीरे उसकी स्मृति क्षीण होती गई।

4

आठ मास बाद···

सरदी के दिन थे। रोहिणी स्नान करके अपने मकान की छत पर चढ़कर आजानुविलम्बित केश-राशि सुखा रही थी। इसी समय नीचे की गली में सुनाई पड़ा–"बच्चों को बहलानेवाला, मिठाईवाला।"

मिठाईवाले का यह स्वर परिचित था, झट से रोहिणी नीचे उतर आई। इस समय उसके पति मकान में नहीं थे, हां, उसकी वृद्धा दादी थी। रोहिणी उनके निकट आकर बोली, "दादी, चुन्नू के लिए मिठाई लेनी है। ज़रा कमरे में चलकर ठहराओ तो। मैं उधर कैसे जाऊं, कोई आता न हो। ज़रा हटकर मैं भी चिक की ओट में बैठी रहूंगी।"

दादी उठकर कमरे में आकर बोली, "ऐ मिठाईवाले, इधर आना।"

मिठाईवाला निकट आ गया। बोला, "मां, कितनी मिठाई दूं? नई तरह की मिठाइयां हैं, रंग-बिरंगी, कुछ-कुछ खट्टी, कुछ-कुछ मीठी और ज़ायकेदार। बड़ी देर तक मुंह में टिकती हैं। जल्दी नहीं घुलतीं। बच्चे बड़े चाव से चूसते हैं। इन गुणों के सिवा ये खांसी को भी दूर करती हैं। कितनी दूं? चपटी, गोल और पहलदार गोलियां हैं। पैसे की सोलह देता हूं।"

दादी बोली, "सोलह तो बहुत कम होती हैं, भला पच्चीस तो देते।"

मिठाईवाला–नहीं दादी, अधिक नहीं दे सकता। इतनी भी कैसे देता हूं, यह अब मैं आपको क्या··· । खैर, मैं अधिक तो न दे सकूंगा।

रोहिणी दादी के पास ही बैठी थी। बोली, "दादी, फिर भी काफी सस्ती दे रहा है, चार पैसे की ले लो। ये पैसे रहे।"

मिठाईवाला मिठाइयां गिनने लगा।

"तो चार पैसे की दे दो। अच्छा पच्चीस न सही, बीस ही दे दो। अरे हां, मैं बूढ़ी हुई, मोल-भाव मुझे अब ज़्यादा करना भी नहीं आता।"··· कहते हुए दादी के पोपले मुंह की ज़रा-सी मुस्कराहट भी फूट निकली।

रोहिणी ने दादी से कहा, "दादी इससे पूछो, 'तुम इस शहर में कभी और भी आए थे, या पहली बार ही आए हो? यहां के निवासी तो तुम हो नहीं।'"

दादी ने इस कथन को दोहराने की चेष्टा की ही थी कि मिठाईवाले ने उत्तर दिया, "पहली बार नहीं, और भी कई बार आ चुका हूं।"

रोहिणी चिक की आड़ से ही बोली, "पहले यही मिठाई बेचते हुए आए थे या और और कोई चीज़ लेकर?"

मिठाईवाला हर्ष, संशय और विस्मयादि भावों में डूबकर बोला, "इससे पहले मुरली लेकर आता था; और उससे भी पहले खिलौने लेकर।"

रोहिणी का अनुमान ठीक निकला। अब तो वह उससे और भी कुछ बातें पूछने के लिए अस्थिर-अधीर हो उठी। वह बोली, "इन व्यवसायों में भला तुम्हें क्या मिलता होगा?"

वह बोला, "मिलता तो क्या है, यही खाने-भर को मिल जाता है। कभी नहीं भी मिलता है। पर हां, सन्तोष और धीरज और कभी-कभी असीम सुख ज़रूर मिलता है। और यही मैं चाहता भी हूं।"

"सो कैसे? वह भी बताओ।"

"अब व्यर्थ उन बातों की चर्चा क्या करूं! उन्हें आप जाने ही दें। उन बातों को सुनकर आपको दुःख होगा।"

"जब इतना बताया है, तब और भी बता दो। मैं बहुत उत्सुक हूं। तुम्हारा हर्जा न होगा। और भी मिठाई मैं ले लूंगी।"

अतिशय गम्भीरता के साथ मिठाईवाले ने कहा :

"मैं भी अपने नगर का एक प्रतिष्ठित आदमी था। मकान, व्यवसाय, गाड़ी-घोड़े, नौकर-चाकर सभी कुछ था। स्त्री थी, छोटे-छोटे दो बच्चे भी थे। मेरा वह सोने का संसार था। बाहर सम्पत्ति का वैभव था, भीतर सांसारिक सुख था। स्त्री सुन्दर थी, मेरी प्राण थी। बच्चे ऐसे सुन्दर थे, जैसे सोने के सजीव खिलौने। उनकी अठखेलियों के मारे घर में कोलाहल मचा रहता था—समय की गति—विधाता की लीला! अब कोई नहीं है। दादी, प्राण निकाले नहीं निकले। इसलिए अपने उन बच्चों की खोज में मैं निकला हूं। वे सब अन्त में होंगे तो यहीं कहीं। आखिर कहीं न कहीं तो जन्मे ही होंगे। उसी तरह रहता, तो घुल-घुलकर मरता। इस तरह सुख-संतोष के साथ मरूंगा। इस तरह के जीवन में कभी-कभी अपने उन बच्चों की एक झलक-सी मिल जाती है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे वे इन्हीं में उछल-उछलकर हंस-हंसकर खेल रहे हैं। पैसों की कमी थोड़े ही है। आपकी दया से पैसे काफी हैं। जो नहीं हैं, इस तरह उसी को पा जाता हूं।"

रोहिणी ने अब मिठाईवाले की ओर देखा। देखा—उसकी आंखें आंसुओं से तर हैं।

इसी समय चुन्नू-मुन्नू आ गए। रोहिणी से लिपटकर, उसका अंचल पकड़कर बोले, "अम्मां, मिठाई।"

"मुझसे लो।"—कहकर तत्काल कागज की दो पुड़ियों में मिठाइयां भरकर मिठाईवाले ने चुन्नू-मुन्नू को दे दीं।

रोहिणी ने भीतर से पैसे फेंक दिए।

मिठाईवाले ने पेटी उठाई और कहा, "अब इस बार ये पैसे न लूंगा।"

दादी बोली, "अरे-अरे, न-न, अपने पैसे लिए जा भाई।"

किन्तु तब तक आगे सुनाई पड़ा, उसी प्रकार मादक मृदुल स्वर में–"बच्चों को बहलानेवाला, मिठाईवाला।" □

जल्लाद

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'
(जन्म : सन् 1900 ई.)

प्रातः आठ-साढ़े बजे का समय था। रात को किसी पारसी कम्पनी का कोई रद्दी तमाशा अपने पैसे वसूल करने के लिए दो बजे तक झक मार-मारकर देखते रहने के कारण सुबह नींद कुछ विलम्ब से टूटी। इसी से उस दिन हवाख़ोरी के लिए निकलने में कुछ देर हो गई थी, और लौटने में भी।

मैं वायु-सेवन के लिए अपने घर से कोई चार मील की दूरी तक रोज़ ही जाया-आया करता था। मेरे घर और उस रास्ते के बीच में हमारे शहर की ज़िला-जेल भी पड़ती थी, जिसकी मटमैली, लम्बी-चौड़ी और उदास चहारदीवारियाँ रोज़ ही मेरी आँखों के आगे पड़तीं और मेरे मन में एक प्रकार की अप्रिय और भयावनी सिहर पैदा किया करती थीं।

मगर उस दिन उसी जेल के दक्षिणी कोने पर अनेक घने और विस्तृत वृक्षों की अनुज्ज्वल छाया में मैंने जो कुछ देखा, उसे मैं बहुत दिनों तक चेष्टा करने पर भी, शायद न भूल सकूँगा। मैंने देखा, मुश्किल से तेरह-चौदह वर्ष का कोई रूखा, पर सुडौल, दरिद्रता से सूखा, पर सुन्दर लड़का एक पेड़ की जड़ के पास अर्द्ध-नग्नावस्था में पड़ा तड़प और हिचक-हिचककर बिलख रहा था। उसी लड़के के सामने एक अत्यन्त भयानक पुरुष असुन्दर भाव से खड़ा हुआ रूखे शब्दों में उससे कुछ पूछताछ कर रहा था। यह सब मैंने उस छोटी सड़क पर से देखा, जो उस स्थान से कोई पच्चीस-तीस गज़ की दूरी पर थी। यद्यपि दिन की बाढ़ के साथ-साथ तपन की गर्मी भी बढ़ रही थी, और मैं थका और अनमना-सा भी था, पर मेरे मन की उत्सुकता उस दयनीय दृश्य का भेद जानने को मचल उठी। मैं धीरे-धीरे उन दोनों की नज़र बचाता हुआ उनकी तरफ़ बढ़ा।

अब मुझे ज्ञात हुआ—ओह! अब मुझे ज्ञात हुआ कि वह लड़का क्यों बिलख रहा था? मैंने देखा, उसके शरीर के मध्य भाग पर, जो खुला हुआ था, प्रहार के अनेक

काले और भयावने चिन्ह थे। उसको बेंत लगाए गए थे। बेंत लगाए गए थे उस कोमल-मति ग़रीब बालक को अदालत की आज्ञा से। उफ़्! मेरा कलेजा धक् से होकर रह गया। न्याय ऐसा अहृदय, ऐसा क्रूर होता है!

अब मैं आड़ में लुककर उस तमाशे को न देख सका। झट मैं उन दोनों के सामने आ खड़ा हुआ और उस भयानक प्राणी से प्रश्न करने लगा, "क्या इसको बेंत लगाये गए हैं?"

"हाँ," उत्तर देने से अधिक गुर्राकर उस व्यक्ति ने कहा, "देखते नहीं हैं आप? ससुरे ने ज़मींदार के बाग़ से कटहल चुराए थे।"

लड़का फिर पीड़ा और अपमान से बिलबिला उठा। इस समय वह छाती के बल पड़ा हुआ था, क्योंकि उसके घाव उसे आराम से बेहोश भी नहीं होने देना चाहते थे। वह एक बार तड़पा और दाहिनी करवट होकर मेरी ओर देखने की कोशिश करने लगा। पर अभागा वैसा कर न सका। लाचार फिर पहले ही-सा लेटकर अवरुद्ध कंठ से कहने लगा-"नहीं बाबू, चुरा कहाँ सका! भूख से व्याकुल होकर लोभ में पकड़कर मैं उन्हें चुरा ज़रूर रहा था, पर ज़मींदार के रखवालों ने मुझे तुरन्त ही गिरफ्तार कर लिया।"

"गिरफ़्तार कर लिया, तो तेरे घरवाले उस वक्त कहाँ थे?" नीरस और शासन के स्वर में उस भयानक पुरुष ने उससे पूछा, "क्या वे मर गए थे? तुझे बचाने-ज़मींदार से, पुलिस से, बेंत से-क्यों नहीं आए?"

"तुम विश्वास ही नहीं करते!" लड़के ने रोते-रोते उत्तर दिया, "मैंने कहा नहीं, मैं विक्रमपुर गाँव का एक अनाथ भिखमंगा बालक हूँ। मेरे माता-पिता मुझे छोड़कर कब और कहाँ चले गए, मुझे मालूम नहीं। वे थे भी या नहीं, मैं नहीं जानता। छुटपन से अब तक दूसरों की जूठन और फटकारों में पला हूँ। मेरे अगर कोई होता, तो मैं उस गाँव के ज़मींदार का चोर क्यों बनता? मेरी यह दुर्गति क्यों होती? आह! बाप रे बाप!"

वह गरीब फिर अपनी पुकारों से मेरे कलेजे को बेंधने लगा। मैं मन ही मन सोचने लगा कि किस रूप से मैं इस बेचारे की कोई सहायता करूँ। मगर उसी समय मेरी दृष्टि उस भयानक पुरुष पर पड़ी, जो ज़रा तेज़ी से उस लड़के की ओर बढ़ रहा था। उसने हाथ पकड़कर, अपना बल देकर, उसको खड़ा किया।

"तू मेरी पीठ पर सवार हो जा।" उसी रूखे स्वर में उसने कहा, "मैं तुझे अपने घर ले चलूँगा।"

"अपने घर?" मैंने विवश भाव से उस रूखे राक्षस से पूछा-"तुम कौन हो? कहाँ है तुम्हारा घर? और इसको अब वहाँ क्यों लिए जा रहे हो?"

"मैं जल्लाद हूँ, बाबू!" लड़के को पीठ पर लादते हुए खूनी आँखों से मेरी ओर देखकर लड़खड़ाती आवाज़ से उसने कहा-"मैं कुछ रुपयों का सरकारी गुलाम हूँ। मैं सरकार की इच्छानुसार लोगों को बेंत लगाता हूँ, प्रति प्रहार कुछ पैसे पाता हूँ, और प्राण ले लेता हूँ तो प्रति प्राण कुछ रुपए।"

"फाँसी की सज़ा पानेवाले से तो नहीं, पर बेंत खानेवालों से सुविधानुसार मैं रिश्वत भी खाता हूँ। सरकार की तलब से मैंने तो बाबू यही देखा है—बहुत कम सरकारी नौकरों की गुज़र हो सकती है। इसी से सभी अपने-अपने इलाकों में ऊपरी कमाई के 'कर' फैलाए रहते हैं। मैं ग़रीब छोटा-सा गुलाम हूँ, मेरी रिश्वत की चर्चा तो वैसी चमकीली है भी नहीं कि किसी के आगे कहने में मुझे कोई भय हो। मैं तो सबसे कहता हूँ कि मुझे कोई पूजे, तो मैं उसके सगे-सम्बन्धियों को 'सच्चे' बेंत न लगाकर 'हल्के' लगाऊँ। और नहीं—और नहीं सड़ासड़! सड़ासड़!"

उसने ऐसी मुद्रा बना ली, मानो वह किसी को बेंत लगा रहा हो। वह भूल गया कि उसकी पीठ पर उसकी 'सड़ासड़' का एक ग़रीब शिकार काँप रहा है।

"मगर इस अनाथ को धोखे में 'सच्चे' बेंत लगाकर मैंने ठीक नहीं किया। इसने जेल ही में बताया था कि मेरे कोई नहीं है, मगर मैंने विश्वास नहीं किया। मैं अपने जिस शिकार का विश्वास नहीं करता, उसके प्रति भयानक हो उठता हूँ, और मेरा भयानक होना कैसा वीभत्स होता है, इसे आप इस लड़के की पीठ पर देखें। मगर इसे 'काट' कर मैंने ग़लती की है। यही न जाने क्यों मेरा मन कह रहा है।

"इसी से बाबू, मैं इसे अपने घर ले जा रहा हूँ। वहाँ इसके घाव पर केले का रस लगाऊँगा और इसको थोड़ा आराम देने के लिए 'दारू' पिलाऊँगा। बिना इसको चंगा किए मेरा मन सन्तुष्ट न होगा, यह मैं खूब जानता हूँ।"

भैंसे की तरह अपनी कठोर और रूखी पीठ पर उस अनाथ अपराधी को लादकर वह एक ओर बढ़ चला, मगर मैंने उसे बाधा दी, "सुनो तो, मुझसे भी एक रुपया लेते जाओ। मुझको भी इस बालक की दुर्दशा पर दया आती है।"

"क्या होगा रुपया बाबू?" भयानकता से मुस्कराकर उसने रुपए की ओर देखा और उसको मेरी अँगुलियों से छीनकर अपनी अँगुलियों में ले लिया।

"इसको दारू पिलाना, पीड़ा कम हो जाएगी। अभी एक ही रुपया जेब में था, मैं शाम को इसके लिए कुछ और देना चाहता हूँ। तुम्हारा घर कहाँ है? नाम क्या है?"

"मैं शहर के पूरब उस क़ब्रिस्तान के पास के डोमाने में रहता हूँ। डोमों का चौधरी हूँ। मेरा नाम रामरूप है—पूछ लीजिएगा।"

उस अनाथ लड़के का नाम 'अलियार' था। यह मुझे उक्त घटना के सातवें या आठवें दिन मालूम हुआ। ग्रामीणों में 'अलियार' शब्द 'कूड़ा-कर्कट' के पर्याय रूप में प्रचलित है। उस लड़के ने मुझे बताया। उसके गाँववालों का कहना है कि उसे पहले-पहल गाँव के एक 'भर' ने 'अलियार' पर पड़ा पाया था। उसी ने कई बरसों तक उसको पाला भी और उसका उक्त नामकरण भी किया।

अलियार के अंग पर के बेंतो के घाव बधिक रामरूप के सफल उपायों से तीन-चार दिनों के भीतर ही सूख चले, मगर वह बालक बड़ा दुर्बल-तन और दुर्बल-हृदय था। सम्भव है, उसको बाहर बेंतों की सज़ा सुनाने वाले मजिस्ट्रेट ने, पुलिस की मायामयी

डायरियों पर विश्वास कर उसकी उम्र अठारह या बीस वर्ष की मान ली हो, मगर मेरी नज़रों में तो वह बेचारा चौदह-पन्द्रह वर्षों से अधिक वयस का नहीं मालूम पड़ा। उस पर उसकी वह रूखी-सूखी काया। आश्चर्य! किसी डॉक्टर ने किस तरह उसको बेंत खाने योग्य घोषित किया होगा। जेल के किसी ज़िम्मेदार और शरीफ़ अधिकारी ने किस तरह अपने सामने उस बेचारे को बेंतों से कटवाया होगा।

जब तक अलियार खाट पर पड़ा-पड़ा कराहता रहा, अपने उस बेंत खाने के भयानक अनुभव का स्वप्न देख-देखकर अपनी रक्षा के लिए करुण दुहाइयाँ देता रहा, तब तक मैं बराबर, एक बार रोज़, रामरूप की गन्दी झोंपड़ी में जाता था; और अपनी शक्ति के अनुसार प्रभु के उस असहाय प्राणी की मन और धन से सेवा करता था, मगर मेरे इस अनुराग में एक आकर्षण था, और वह था जल्लाद रामरूप।

न जाने क्यों उसका वह 'अलकतरा' रंग; उसकी वह भयानक नेपालियों-सी नाटी काया; उसका वह मोटा, वीभत्स अधर और पतला ओष्ठ, जिस पर घनी काली, भयावनी तथा अव्यवस्थित मूँछों का भार अशोभायमान था, मुझे कुछ अपूर्व-सा मालूम पड़ता था। न जाने क्यों उसकी बड़ी-बड़ी डोरीली, नीरस और रक्तवर्ण आँखें मेरे मन में एक तरह की सिहर-सी पैदा कर देती थीं पर आश्चर्य! इतने पर भी मैं उसे अधिक से अधिक देखना और समझना चाहता था।

उसकी मिट्टी की झोंपड़ी में उसके अलावा उसकी प्रौढ़ा स्त्री भी थी। एक दिन जब मैंने रामरूप से उसकी जीवनी पूछी और यह पूछा कि उसके परिवार का कोई और भी कहीं है या नहीं, तो उससे अपनी विचित्र कहानी मुझे सुनाई।

"बाबू", उसने बताया, "पुश्त-दो पुश्त से ही नहीं, मेरे खानदान में तेरह पुश्त से यही जल्लादी का काम होता है। हाँ, उसके पहले, मुसलमानी राज्य में, मेरे पुरखे डाका डाला करते थे। मेरे दादा के दादा ऐसे प्रतापी थे कि सन् सत्तावन के ग़दर में उन्होंने इसी शहर के उस दक्षिणी मैदान में सरकार बहादुर के हुकुम से पाँच सौ और तीन पच्चीस और दो दस आदमियों को चन्द दिनों के भीतर ही फाँसी पर लटका दिया था। उन दिनों वह आठों पहर शराब छाने रहा करते थे। और कैसी शराब? मामूली नहीं बाबू, गोरों के पीनेवाली—अंग्रेज़ी।"

मैंने उसे टोका, "रामरूप! क्या अब भी फाँसी देने के पूर्व तुम लोगों को शराब मिलती है?"

"हाँ, हाँ, मिलती क्यों नहीं बाबू, मगर 'देसी' की एक बोतल का दाम मिलता है, विलायती का नहीं, जिसको छान-छानकर मेरे दादा के दादा गाहियों के गाही लोगों को काल के पालने पर झुला देते थे। वही मेरे खानदान में सबसे अधिक धनी और ज़बरदस्त भी थे। लम्बे-चौड़े तो वह ऐसे थे कि बड़े-बड़े पलटनिए साहब उनका मुँह बकर-बकर ताका करते थे। मगर उनमें एक दोष भी बहुत बड़ा था। वह शराब बहुत पीते थे। इसी में वह तबाह हो गए, और मरते-मरत ग़दर की सारी कमाई फेंक-ताप गए। हाँ, मैं भूल

कर गया, बाबू! वह मरे नहीं, बल्कि शराब के नशे में एक दिन बढ़ी नदी में कूद पड़े और तब से लापता हो गए। नदी के उस ऊँचे घाट पर हमारे दादा ने उनका 'चौरा' भी बनवाया है, जिसकी सैकड़ों डोम पूजा किया करते हैं, और हमारे वंश के तो वह 'वीर' ही हैं।"

अपने 'वीर' परदादा के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए, उनकी कहानी पूरी करते-करते रामरूप ने धीरे से अपने दोनों कान उमेठे।

"रामरूप!" मैंने कहा, "जाने दो अपने पुरखों की कहानी। वह बड़ी ही भयानक है। अब तुम यह बताओ कि तुम्हारे कोई बच्ची-बच्चा भी है?"

"नहीं, बाबू!" किंचित् गम्भीर होकर उसने कहा, "मेरी औरतिया के कोई सात बरस हुए एक लड़का हुआ ज़रूर था, मगर वह दो साल का होकर जाता रहा। बच्चे तो वैसे भी मेरे खानदान में बहुत कम जीते हैं। न जाने क्यों, जहाँ तक मुझे मालूम है, मेरे किसी भी पुरखे का एक से ज़्यादा बच्चा नहीं बचा। मुझको तो वह नसीब नहीं। मेरी लुगैया तो अधबूढ़ी हो जाने पर भी अभी बच्चा-बच्चा रिरियाया करती है, मगर यह मेरे वश की बात तो है नहीं। मैं तो आप ही चाहता हूँ कि मेरे एक 'वीर' बच्चा हो, जो हमारे इस पुश्तैनी रोज़गार को मेरे बाद सँभाले, पर जब दाता देता ही नहीं, तब कोई क्या करे?"

"जब तक तुम्हारे और कोई नहीं है," मैंने उस जल्लाद के हृदय की थाह ली, "तब तक तुम इसी भिखमंगे को क्यों नहीं पालते-पोसते? तुमने कुछ अन्दाज़ लगाया है, कैसा है उसका मिज़ाज? यह तुम्हारे यहाँ खप जाने लायक है?"

"है तो, और मेरी लुगैया उसको चाहती भी है।" रामरूप ने ज़रा मुस्कराकर कहा—"पर मेरे अन्दाज़ से वह (अलियार) कुछ दब्बू और डरूं है, और मेरे लड़के को तो ऐसा निडर होना चाहिए कि ज़रूरत पड़े, तो बिना डरे काल की भी खाल खींच ले, और जान निकाल ले। यह मगत छोकरा भला मेरे रोज़गार को क्या सँभालेगा?"

"कोई दूसरा रोज़गार देखो, रामरूप!" मैंने कहा, "छोड़ो इस हत्यारे व्यापार को। इसमें भला, तुम्हें क्या आनन्द मिलता होगा? ग़ज़ब की है तुम्हारी छाती, जो तुम लोगों को प्रसन्न भाव से बेंत लगाते हो, और फाँसी के तख्ते पर चढ़ाकर अपने परदादा के शब्दों में काल के पालने पर झुला देते हो, मगर यह सुन्दर नहीं।"

"हा-हा-हा-हा!" रामरूप ठठाया, "आप कहते हैं, यह सुन्दर नहीं! नहीं बाबू, हमारे लिये तो यह परम सुन्दर है। आप जानते ही हैं, मैं आप लोगों की 'नीच जाति' का एक तुच्छ प्राणी हूँ। आप तो नए ख़्याल के आदमी हैं, इसीलिए न जाने क्या समझकर इस लड़के के प्रेम में मेरी झोंपड़ी तक आए भी हैं, नहीं तो मैं और मेरी जाति इस इज़्ज़त के योग्य कहाँ? मेरे घरवाले यदि जल्लादी न करते, तो आप लोगों के मैले साफ़ करते और कुत्तों को मारते। मगर··· हा-हा हा-हा—कुत्तों को मारने से तो आदमी को मारना कहीं अच्छा है, इसे आप भी मानेंगे, यद्यपि मेरी समझ से कुत्ता मारना और

आदमी मारना जल्लाद के लिए एक ही बात है। हमारे लिए वे भी अपरिचित और निरपराध और ये भी। दूसरों के कहने से हम कुत्तों को भी मारते हैं और कुत्तों से ज़्यादा समझदारों—आदमियों—को भी।"

इसके बाद मुझे एक काम के सिलसिले में बम्बई चला जाना पड़ा और वहाँ पूरे दो महीने रुकना पड़ा। वहाँ से लौटने पर मैं भूल गया उस जल्लाद को, और उसके विचित्र परिचित उस अलियार को। प्राय: दो वर्ष तक मुझे उनकी कोई ख़बर न थी। फ़ुर्सत भी अपनी मानसिक हाय-हायों से इतनी न थी कि उनकी ओर ध्यान देता।

मगर उस दिन अचानक अलियार दिखाई पड़ा, और मैंने नहीं, उसी ने मुझको पहचाना भी। मुझे इस बार वह कुछ अधिक स्वस्थ, प्रसन्न और सुन्दर मालूम पड़ा।

"कहाँ रहते हो आजकल, अलियार?" मैंने दरियाफ़्त किया, और तुम्हारे वह अद्‌भूत मित्र कैसे हैं, जिनको तुम शायद सपने में भी न भूल सकते होगे?"

"वह मज़े में है," उसने उत्तर दिया, "और मैं तभी से उसी के साथ रहता हूँ। तभी से उसकी वह स्त्री मुझको अपने बेटे की तरह मानती और पालती है।"

"तो क्या अब तुम भी वही व्यापार सीख रहे हो, और रामरूप की गद्दी के हक़दार बनने के यत्न में हो?"

"मुझे स्वयं तो पसन्द नहीं है उसका वह हत्या-व्यापार, मगर उसकी रोटी खाता हूँ, तो बातें भी माननी ही पड़ती हैं। वह अब अक्सर मुझे फाँसी या बेंत लगाते वक़्त अपने साथ जेल में ले जाता है, और अपने निर्दय व्यापार को बार-बार मुझे दिखाकर मुझको भी अपना ही-सा बनाना चाहता है।"

"तुम जेल में जाने कैसे पाते हो?" मैंने पूछा, "वहाँ तो बिना अफ़सरों की आज्ञा के कोई भी नहीं जाने पाता। फिर ख़ासकर बेंत मारने और फाँसी के वक़्त तो और भी बाहरी लोगों को मनाही रहती है।"

"मगर," उसने उत्तर दिया, "अब तो मैं उसे 'मामा' कहकर पुकारता हूँ, और वह मुझे अपनी बहन का लड़का और अपना 'गोद लिया हुआ बेटा' कहकर अफ़सरों के आगे पेश करता है। कहता है, हमारे खानदान के सभी लड़कों ने इसी तरह देख-देखकर इस विद्या का अभ्यास किया था।"

"तो तुम भी अब," मैंने एक उदास साँस ली, "जल्लाद बनने की धुन में हो?—वही जल्लाद, जिसके अस्तित्व के कारण उस दिन जेल के उस कोने में पड़े तुम तड़प रहे थे और अपने भावी मामा की ओर देख-देखकर उसकी क्रूरता को कोस रहे थे। बाप रे! तुम उस भयानक रामरूप को प्यार करते हो—कर सकते हो?"

मेरे इस प्रश्न पर कुछ देर तक अलियार चुप और गम्भीर रहा। फिर बोला, "नहीं बाबूजी, मैं उस पशु को तो कदापि नहीं प्यार करता, बल्कि आपसे सच कहता हूँ, उससे घृणा करता हूँ। जब-जब मेरी नज़र उस पड़ती है, तब-तब मैं उसी रूप में देखता हूँ, जिस रूप में उस दिन देखा था, जिसकी आप अभी चर्चा कर रहे थे। पर मैं उसकी

स्त्री का आदर करता हूँ, जो हत्यारे की औरत होने पर भी हत्यारिणी नहीं, माँ है। बस, उसी के कारण मैं वहाँ रुका हूँ, नहीं तो मेरा वश चले, तो मैं उसी रामरूप को एक ही दिन में इस पृथ्वी पर से उठा दूँ, जो लोगों की हत्या कर अपनी जीविका चलाता है। और, आपसे छिपाता नहीं, मैं शीघ्र ही किसी न किसी तरह उसको इस व्यापार से अलग करूँगा, इसमें कोई भी सन्देह नहीं।"

"वह ऐसा कपड़ा नहीं है, अलियार!" मैंने कहा, "जिस पर कोई दूसरा रंग भी चढ़ सके। रामरूप को, जहाँ तक मैंने समझा है, स्वयं भगवान् भी उसके व्यापार से अलग नहीं कर सकते। दूसरे जल्लाद चाहे कुछ कच्चे बधिक हों, मगर तुम्हारा वह मामा तो ज़रूर ही सभी जल्लादों का दादा-गुरु है। बचना तुम उससे—और उसको उसके पथ से विरत करने से। नहीं तो सावधान! वह ऐसा निर्दय है कि कुछ उलटी-सीधी समझते ही तुम्हारे प्राणों तक को मसल डालेगा।"

"पर बाबू," अलियार ने सच-सच कहा, "अब तो वह भी मुझको प्यार करने लग गया है। मुझे तो कभी-कभी ऐसा ही मालूम पड़ता है। आश्चर्य से चकित होकर कभी-कभी मेरी वह नई 'माँ' को भी ऐसा ही कहा और सोचा करती है। वह क्रुद्ध होने पर अब भी अक्सर मेरी माँ को बुरी तरह मारने लगता है, पर मेरी ओर—बड़ा-से-बड़ा अपराध होने पर भी—न जाने क्यों, तर्जनी अँगुली तक नहीं उठाता। मुझे अपने साथ ही खिलाता भी है, और यहाँ-वहाँ—जेल में और छोटे-मोटे अफ़सरों के पास—ले भी जाता है। मगर इतने पर भी मैं उससे घृणा करता हूँ। उसका अमंगल और सर्वनाश चाहता हूँ।"

"क्यों?" मैंने आश्चर्य से पूछा।

"न जाने क्यों—न जाने क्यों?" उसने उत्तर दिया, "मैं उस पशु को कभी प्यार नहीं कर सकता। अच्छा बाबू, आपको भी देर हो रही है, मुझे भी। यहाँ रहा, तो फिर कभी सलाम करने आऊँगा। इस वक़्त जाने दीजिए।"

मुझको यह विश्वास नहीं था कि वह दुबला-पतला भिखमंगा बालक अपने निश्चय का ऐसा पक्का निकलेगा कि एक दिन सारे शहर में तहलका मचाकर छोड़ेगा। पर वह विचित्र निकला। एक दिन प्रातःकाल होते ही शहर में ज़ोरों की सनसनी फैली कि आज स्थानीय ज़िला-जेल से कोई बड़ा मशहूर फाँसी का क़ैदी भाग निकला है। यद्यपि उसके भागने के वक़्त पहरेदार वार्डरों को कुछ आहट मिल गई थी, पर उससे कोई फ़ायदा नहीं हो सका। भागनेवाला तो भाग ही गया। हाँ, भागनेवालों में से नवयुवक पकड़ा गया है।

समाचार तो आकर्षक था, खासकर इसलिए कि फाँसी का कोई क़ैदी भागा था। मेरे जी में आया कि ज़रा जेल की ओर टहलता हुआ चलूँ। देखूँ, वहाँ शायद रामरूप या अलियार मिलें उन दोनों में से किसी के भी मिलने से बहुत-सी भीतरी बातों का पता चल सकेगा।

कपड़े पहन और टहलने की छड़ी हाथ में लेकर जब मैं जेल के पास पहुँचा, तो वहाँ का हंगामा देखकर एक बार आश्चर्य में आ गया। फाटक के बाहर अपने क्वार्टरों के सामने मैदान में ड्यूटी से बचे हुए अनेक वार्डर हताश और उदास खड़े गत रात्रि की घटना पर मनोरंजक ढंग से वाद-विवाद कर रहे थे।

एक ने दरियाफ़्त किया, "भीतर बड़े साहब और कलक्टर उसका बयान ले रहे हैं। ग़ज़ब कर दिया उस लौंडे ने! ऐसे ज़ालिम आदमी को भगा दिया, जिसे अब सरकार पा ही नहीं सकती। मैंने पहले इस छोकरे को ऐसा नहीं समझा था।"

"अरे, उसको छोकरा कहते हो!" दूसरे मुसलमान वार्डर ने कहा, "साला चाहे तो बड़े-बड़ों को चराकर छोड़ दे। मगर उस पाजी की वजह से बेचारा रामरूप पिस जाएगा, क्योंकि अपना-अपना बोझ हलका करने के लिए सभी ग़रीब रामरूप पर टूटेंगे। उसी की वजह से वह जेल में आने-जाने और उसके भेद पाने लायक़ हुआ था। अब देखना है, रामरूप की डोंगी किस घाट लगती है।"

"वह भी भीतर, अफ़सरों के सामने, जेलर साहब द्वारा, बुलाया गया है। शायद उसको भी बयान देना होगा।"

"नहीं।" किसी गंभीर वार्डर ने कहा, "जेल के कर्मचारियों से जब कोई ग़लती हो जाती है, तब अपनी सारी ताक़त लगाकर वे उसे छिपाने की कोशिश करते हैं। मुझे ठीक मालूम है, जेलर ने जेल के प्रत्येक आदमी को समझा दिया है कि उस लड़के के सिलसिले में रामरूप का नाम लिया ही न जाये और यह साबित ही न होने दिया जाये कि वह पहले से यहाँ आता-जाता था। यह बात रामरूप को और उस लौंडे को भी समझा दी गई है।"

"मगर वह पाजी छोकरा, जिसने उसे मशहूर डाकू को भगाकर हमारे सिर पर आफ़त ढा दिया है, जेलर की सलाह मानेगा ही क्यों? अगर अपने बयान में वही कुछ कह दे?"

"अजी, कहेगा ज़रूर ही।" किसी बूढ़े वार्डर ने राय दी, "आख़िर इस भगाई में एक ख़ून भी तो हुआ है। माना कि खून लड़के ने नहीं, उस डाकू के किसी साथी ने किया होगा, पर अगर दूसरे न पकड़े गए, तो उस वार्डर का खून तो इसी छोकरे के माथे मढ़ा जाएगा। उफ़! बड़े जीवट की यह घटना हुई है। मैं तो तीस साल से इस नौकरी में हूँ। इस बीच में पचासों क़ैदियों के भागने की बातें मैंने सुनी, मगर उनमें ऐसी घटना एक भी नहीं। फाँसी के क़ैदी का भाग जाना और भाग जाने पाना—कमाल है! अरे, इस मामले में जेल का सारा स्टाफ़ बदल दिया जाएगा—बड़े साहब से लेकर छोटे जमादार तक़। लोग तनज़्ज़ुल होंगे, सो अलग।"

इसी समय रामरूप जेल के फाटक के बाहर आता हुआ दिखाई पड़ा। सबकी नज़र उस पर पड़ी।

"वह देखो।" एक ने कहा, "वह बाहर आया। ओह! कैसी लाल हैं उसकी आँखें!

कैसे उसके होंठ फड़क रहे हैं! ज़रा बुलाओ तो इधर। पूछा जाये कि भीतर क्या हो रहा है।"

"क्या हो रहा है, रामरूप?" अपनी ओर बुलाकर वार्डरों ने उससे दरियाफ़्त किया, "क्या कलक्टर के आगे तुम्हारा नाम भी लिया जा रहा है?"

"नहीं बाबू!" उसने दाँत किटकिटाकर कहा, "आप लोगों की दया से मेरा नाम तो नहीं लिया जा रहा है। वह छोकरा भी इस बारे में चुप है। कुछ बोलता ही नहीं, सिवा इसके–'हाँ, मैंने ही उस डाकू को भगा दिया है। मैंने ही मारा भी है उस वार्डर को। मेरी सहायता में और लोग भी थे, मगर मैं उन्हें इस बारे में नहीं फँसाना चाहता। मुझे सज़ा हो, मुझे फाँसी दी जाये। मैं तैयार हूँ।"

"फिर क्या होगा, रामरूप?" एक ने पूछा, "लच्छन कैसे दिखाई पड़ते हैं?"

"क्या होगा, इसे आज ही कौन बता सकता है, जमादार साहब?" उसने नीरस उत्तर दिया–"अभी तो सरकार उस डाकू और उसके साथियों को पकड़ने की कोशिश करेगी। इसके बाद उस साले भिखमंगे को फाँसी दी जाएगी। इसमें कोई सन्देह नहीं, वह पाजी ज़रूर फाँसी पर लटकाया जाएगा। मैं फाँसी पानेवालों की आँखें पहचान जाता हूँ। एक ज़माने से यही काम कर रहा हूँ, और सच कहता हूँ, भैरव बाबा की दया से मैं ही उस शैतान के बच्चे को मृत्यु के झूले पर टाँगूँगा।"

न जाने क्या विचारकर रामरूप एकाएक उत्तेजित हो उठा, "इन्हीं हाथों से मैंने अच्छे-अच्छों और बड़े-बड़ों को फाँसी पर टाँग दिया है। सच मानना जमादार साहब! आज तक चार-बीस और सात आदमियों को लटका चुका हूँ। अब यह साला आठवाँ होगा। हाँ-हाँ, आठवाँ होगा! आठवाँ होगा!"

उत्तेजित रामरूप उस भीड़ से दूर एक ओर तेज़ी से बड़बड़ाता हुआ बढ़ गया। उस समय उससे कुछ पूछने की हिम्मत न हुई।

मगर आश्चर्य की बात तो यह है कि धीरे-धीरे वह क्रूर-हृदय जल्लाद उस अलियार को प्यार करने लग गया था। उस अलियार ने उस दिन बिल्कुल सच कहा था। क्योंकि जब सेशन अदालत से, और किसी प्रामाणिक मुज़रिम के अभाव में और प्रमाण के आधिक्य से, अलियार को फाँसी की आज्ञा सुनाई गई, तब वही रामरूप कुछ ऐसा उत्तेजित हो उठा कि पागल-सा हो गया।

"हा-हा-हा-हा!" वह अदालत के बाहर ही निस्संकोच बड़बड़ाने लगा, "अब लूँगा–अब बच्चू से लूँगा बदला! क्यों न लूँ बदला उससे? मैंने सरकारी हुक्म से उसको उस दिन बेंत मारे थे, जिसका उसने मुझसे ऐसा भयानक बदला लिया है कि मेरी रोज़ी मारते-मारते बचा। वह तो बचा ही, उस पापी ने मेरी औरत को अपने प्रेम से खाट पकड़वा दी है। अब भोगो, बेटे! अब झूलो पालना बच्चू! हा-हा-हा-हा!"

यद्यपि अलियार की फाँसी की आज्ञा सुनकर जल्लाद रामरूप अट्टहास कर उठा, पर मेरा तो कलेजा धक् से होकर रह गया। मुझको ऐसी आशा नहीं थी कि जिस कहानी

का आरम्भ, उस दिन जेल के कोने में अलियार और जल्लाद से मेरे परिचित होने से हुआ था, उसका अन्त ऐसा वीभत्स होगा। मैंने बड़े दुख के साथ उस दिन यह निश्चय किया कि अब मैं कभी उस रामरूप के सामने न जाऊँगा।

मगर संयोग को कौन टाल सकता है? जिस दिन अलियार को दुनिया के उस पार फेंक देने का निश्चय हो गया था, उससे एक दिन पूर्व मैंने उसको अन्तिम बार पुनः देखा। हाथ में एक हाँडी लिए परम उत्तेजित भाव से वह शहर की एक चौमुहानी पर खड़ा था, और उसको घेरे हुए लड़कों, युवकों और बेकारों की एक भीड़ खड़ी थी। अजीब-अजीब प्रश्न लोग उस पर बरसा रहे थे और वह उनके रोमांचकारी उत्तर दे रहा था। किसी ने पूछा, "तुम कौन हो, भाई?"

"मैं?" वह मुस्कराया, "मैं महापुरुष हूँ। आह! तुम आश्चर्य कर रहे हो कि मैं महापुरुष क्योंकर हो सकता हूँ, क्योंकि मैं तो खानदानी जल्लाद रामरूप हूँ। पर अफ़सोस! तुम नहीं जानते कि प्रत्येक जल्लाद महापुरुष होता है।"

"अच्छा यार", एक ने कहा–"हमने मान लिया कि तुम महापुरुष हो। पर यह तो बताओ कि आज यहाँ इस तरह क्यों खड़े हो? यह तुम्हारे हाथ में जो हाँड़ी है, इसमें क्या है?"

"यह हाँडी ··· " उसने हाँडी का मुँह भीड़ के सामने किया, "इसमें फाँसी की रस्सी है ज़रूर, पर यह असली नहीं है। असली रस्सी तो दुरुस्त करके आज ही जेल में ऐसे ही एक बर्तन में रख आया हूँ। वह रस्सी इससे कहीं सुन्दर, कहीं मज़बूत है। इसको तो केवल अभ्यास के लिए अपने साथ लेता आया हूँ। आज रातभर इन उस्ताद हाथों को फाँसी देने का अभ्यास ज़ोर-ज़ोर से कराऊँगा। क्योंकि इस बार मामूली आदमी को नहीं लटकाना है। इस बार उसको लटकाना है, जिसके झूलते ही कोई आश्चर्य नहीं, जो मेरी औरतिया भी इस दुनिया से कूच कर जाये; क्योंकि वह उस पापी को प्यार करती है।"

किसी ने कहा, "ज़रा अपने गले में इस रस्सी को लगाकर बताओ तो रामरूप कि फाँसी की गाँठ कैसे दी जाती है?"

"हाँ-हाँ।" उसने रस्सी को अपने गले के चारों ओर लपेटकर गाँठ देना शुरु किया, "यह देखो, यह गले का कंठा है, और ये हैं मेरी मृत्यु-गाँठें। बस, अब केवल चबूतरे पर खड़ा कर झुला देने की कसर है। जहाँ एक झटका दिया कि बच्चू गए जम-धाम। यह देखो! यह देखो!"

अपने गले में उस रस्सी को उसी तरह वह उन्मत्त रामरूप हाँडी फेंककर, भीड़ को चीरता हुआ, एक ओर बेतहाशा भाग गया।

दूसरे दिन अलियार को फाँसी देने के लिए जब सशस्त्र पुलिस, मजिस्ट्रेट, जेल-सुपरिंटेंडेंट और अन्य अधिकारी एकत्र हुए, तो हुआ कि जल्लाद रामरूप हाज़िर नहीं है।

पुलिस दौड़ी, जेल के वार्डर दौड़े, उसको ढूँढने के लिए, मगर वह मिल न सका।

न जाने कहाँ ग़ायब हो गया। अलियार को उस दिन फाँसी नहीं हो सकी।

मगर उसी दिन दोपहर को कुछ लोगों ने रामरूप को शहर के बाहर एक बरगद की डाल में फाँसी पर टँगे देखा! उसकी गर्दन में वही रस्सी थी, जिसको कुछ घंटे पूर्व शहर के अनेक लोगों ने उसके हाथ में देखा था। उस समय भी उसकी आँखें खुली, भयानक और नीरस थीं। जीभ मुँह से कोई बारह अंगुल बाहर निकल आई थी, और उसका दानवी रूप ऐसा रोमांचकारी हो गया था कि बड़े-बड़े हिम्मती तक उसकी ओर देखकर दहल उठते थे! □

प्यासी हूँ

उषा देवी मित्रा
(जन्म : सन् 1901 ई.)

कोई बारह बज चुके थे, दुनिया के पर्दे में स्वप्न की रानी झांक रही थी–विजेता की भांति। उसके नूपुर की मिलन गीत से पृथ्वी मूर्च्छित-सी होती जाती थी।

वकील केशव के उस बड़े मकान के सभी कमरों की बत्तियां बुझ चुकी थीं, केवल सहाना का कमरा तब भी बिजली की शिखा से उज्ज्वल हो रहा था। मखमल के कोच पर कुत्ते के बच्चे को लिये वह बैठी थी। पलंग पर सफेद रेशम के बिस्तर को किसी ने छुआ तक नहीं था। गुलदस्तों के फूलों की मीठी सुगन्ध से कमरे की हवा व्याकुल हो रही थी, गुलाब-जल से पान के बीड़े अनादर से रकाबी पर ही सूख रहे थे, दीवाल पर के आयल पेण्टिङ्ग चित्रों के नीचे की दीप-शिखायें उस गहरी रात में कुछ म्लान-सी हो रही थीं–शायद नींद से उनकी आंखें भी अलसा रही थीं, किन्तु उसकी पलकों में नींद की एक हल्की-सी छाया भी न थी। वह उस बच्चे को सुला रही थी–परम आदर के साथ। कभी उसे आदर, स्नेह, प्यार बेचैन कर देती, तो कभी उसे हृदय से लगा लेती–मुंह चूमने लगती वह भूल बैठी थी पति के अस्तित्व को–जो कि कुछ ही दूर आरामकुर्सी पर अधलेटे हुए नारी-हृदय की माता की प्यास को, मातृत्व की बुभुक्षा को अपलक नेत्रों से देख रहा था, उसकी दृष्टि जीवन्त विस्मय से विमूढ़ हो रही थी, मुकदमे के कागज वैसे ही इधर-उधर पड़े थे, उस ओर ध्यान देने योग्य उसके मन की स्थिति उस समय नहीं थी।

आज अचानक नहीं, परन्तु कई दिनों से केशव शायद अपनी भूल कुछ-कुछ समझ रहा था, एक अनजान दर्द, एक अपरिचित अभाव से वह कभी बेचैन हो जाता, चेष्टा करने पर भी उसकी समझ में नहीं आता कि वह व्यथा–वह अभाव किसलिए और क्यों है? वह अनजान-सा बना रहता।

पत्नी की दीर्घश्वास, कुत्ते के प्रति उसकी वह लालयित दृष्टि केशव के अन्तर के

किसी गोपनीय अंश में आघात कर बैठी, जूही की झाड़ी आंखों के सामने से हट गयी, मोती-जैसे फूल बिखर गये, गत दिवस के वे रँगीले दृश्य चल-चित्र के समान सामने अड़ गये, जहां कि एक नारी रूप, रूप-गन्धपूर्ण अपने सुगठित यौवन की मदिरा भरे कलस को लेकर उसी के पैर-तले वर्षों विनिद्र रजनी बिता दिया करती थी। नारी-रूप उपासक के पैरों में बैठी अपने श्रेष्ठ मातृत्व तक को न्यौछावर करने में जिसने विचार तक नहीं किया था, पति की तुष्टि के लिए जिसके नयन, प्रत्येक रोम सदा खुशी की वर्षा किया करते थे, नूतनत्व विहीन, सम्पूर्ण लुटी हुई नारी वह यही है। बाहरी जगत् के तीव्र आकर्षण, करोड़ों कामों में पिसकर जिसे कि आज बासी माला की तरह दूर फेंक देना पड़ा है, वह दूसरी नहीं–वही है–वही जिसे कि आज इस विलासिता के अन्दर तपस्विनी गौरी की तरह जागते ही रात बितानी पड़ रही है, कुत्ते और बिल्ली के बच्चों को लेकर मां की प्यास–केशव जबरन ही हंस पड़ा, अपने आपको डांटने लगा–यह सब वह क्या सोच रहा था? आश्चर्य में था कि ऐसे विचार उसके मन में उठे ही क्यों?

उस हंसी से सहाना चौंकी–"अभी सोओगे? बत्ती बुझा दूं?"

"नहीं, अभी कागज देखना है।"

"क्या रात-भर काम ही करते रहोगे? दो बज रहे हैं।"

"पर अभी तक तो तुम्हारे खेल ही को देख रहा था, बुढ़ापे में कुत्ते के पिल्ले से खेलते तुम्हें शर्म नहीं आती? लोग कहेंगे क्या?"

सहाना ने सहमी हुई आंखें उठायीं–"उसकी मां मर गयी है, बच्चा दिन-रात रोता रहता है।"–आंसू छिपाने के लिए उसने मुंह फेर लिया।

"एक दिन मरना सभी को है, फिर कुत्ते-बिल्ली के लिए यदि सभी आंसू बहा दोगी तो मेरे लिए बचेगा ही क्या?"

"तुम फिर वहीं बातें करते हो?"– उसने अभिमान के साथ मुँह फेर लिया। बहुत दिनों के बाद पति के मुंह से उसी भूले-से परिहास को सुनकर वह विस्मित हो रही थी। गत प्रेम के दिनों का जीवन ही कितना था? बूंद-भर ओस, जुगनू की दीवट, फूल की एक पंखुड़ी की तरह छोटे, बहुत ही छोटे दिन, किन्तु उन छोटे दिनों की वह प्रेम-स्मृति सहाना के निकट अमर और अविनाशी थी।

"बहुत दिनों के बाद"–उसने धीरे से कहा।

"मैं उन बातों को भूला नहीं हूँ, सहाना, पर कभी आश्चर्य करता हूँ, सोचता रहता हूँ, कि जिस अन्तर में कभी दिन-रात–प्यार की पुकार उठा करती थी, आज चेष्टा करने पर भी क्यों नहीं उठती, शायद मेरा यौवन मर चुका हो।"–केशव का स्वर दर्द से भरा हुआ था।

सहाना हंसी–उस हंसी की जाति ही निराली थी।

2

"मेरे पूजा के कमरे में। आज से तुम मत जाना दुलहिन।"–सहाना की सास नर्मदा ने कहा।

फूल चुनते-चुनते वह रुकी–"क्यों अम्माजी?"

"सबेरे हलकू को दूध नहीं पिला रही थीं?"

"वह रो रहा था।"

"साईस का लड़का रोये या मरे–अपने को क्या? बड़े घर में आयी हो–जात-पांत का भी तो कुछ विचार किया करो। कहां वह जैसवारा और कहां हम ब्राह्मण, कुत्ते-बिल्ली दिन-भर लिये रहती हो–मेरे हजार सिर पीटने पर भी मानती नहीं, दिन-पर-दिन तुम हठी होती जाती हो, ऐसा अनाचार मैं सह नहीं सकती।"

उत्तर देने के लिए सहाना के कण्ठ में शब्दों की भीड़-सी लग गई, किन्तु फिर भी उसका उत्तर संक्षिप्त ही हुआ–"वह छः महीने का अबोध शिशु है मां, मरते समय दुखिया उस बच्चे को मुझे ही सौंप गयी थी।"

"आज जैसवारा, तो कल मेहतर के लड़के को उठा लाना, मेरे रहते इस घर में तेरा अधिकार ही कौन-सा है? मेरे मत के विरुद्ध यहाँ कोई काम नहीं हो सकता, उसे अभी दूर कर दे।" गृहिणी झंझुला पड़ीं।

"नहीं।"

"क्या कहा?"

"नहीं।"

नर्मदा के चिल्लाने से केशव भीतर आ गया–"क्या है?"

"भैया, मुझे तू काशी पहुँचा दे।"

"क्यों मां?"

"क्योंकि मैं नौकरानी होकर नहीं रह सकती, तुम्हीं से पूछती हूँ कि घर की मालकिन बहू है या मैं?"

केशव को चुप रहते देखकर माता जल उठीं–"कहो, मैं तुम से सुनना चाहती हूँ।"–उसने अपना प्रश्न दोहराया।

"तुम्हारे रहते हुए तो दूसरी कोई मालकिन बन नहीं सकती, पर उसे भी तुम्हीं लायी हो और अधिकार भी दिया है।"

केशव की पूरी बातें सुनने का धीरज उस समय उनमें था ही नहीं, नर्मदा ने कहा–"तुम्हारे राज में आज क्या चमार-भङ्गी के साथ बैठकर खाना पड़ेगा?"

"ऐसा करने को तुम से किसने कहा?"

"तुम्हारी स्त्री ने। सबेरे से दुखिया के लड़के को उठा लायी है, कहती है–उसे रखूंगी।"

"क्या यह सच है?"

"हां! उसकी मां मुझे सौंप गयी है।"

"पर वह जैसवारा का लड़का है, इस घर में उसकी जगह कैसे हो सकती है, सहाना?"

"जैसवारे के घर में जन्म लेना ही क्या उसका अपराध है?"

उत्तर दिया नर्मदा ने–"ऊपर से लगी सवाल-जवाब करने, तेरी हिम्मत, देख-देखकर मैं अबाक् होती हूँ, दूसरी सास होती तो तुझ-जैसी बांझ का मुंह भी न देखती।"

व्यथा से उसका चेहरा पीला पड़ गया, अपने को संभाल कर उसने कहा–"मैं आप से नहीं, उनसे पूछती हूँ कि यदि आत्मा अमर है, ईश्वर का अंश है और सभी में उसी एक पावन आत्मा का प्रकाश है, तो यह छुआछूत का प्रश्न उठा ही क्यों और कैसे?"

"लोकाचार है, समाज का नियम है। जब कि उसी समाज में हमें रहना है, तब उसके नियमों को मानना भी जरूरी बात है।"

"मैं कब कहती हूँ कि तुम निराले समाज में चले जाओ, पर पुराने की महिमा में मुग्ध होकर उसके कीचड़ को सन्दूक में भर कर रखने में कोई पौरुष–कोई श्लाघा नहीं है, प्रकृति के नियम से नित नयी वस्तुएं बनती और मिटती हैं, पुराने में जो भली वस्तुएं हैं, उनका सम्मान और रक्षा हम अवश्य ही करेंगे, परन्तु बुरे को सदा त्यागने के साहस की कमी हम में कभी न हो, यह प्रार्थना मैं सदा ईश्वर से करती हूँ।"

"तो तुम इस नियम को खराब कहती हो?"

"हजार बार। आदमी आदमी को घृणा करेगा, यह निरीह पहेली ही नहीं, अपराध भी है।"

"मैं घृणा की बात नहीं कहता, केवल माँ के सम्मान के लिए तुम बच्चे को हटा दो सहाना।"–वह डर रहा था, क्योंकि स्वाधीन स्वभाव की पत्नी को वह भली-भाँति पहचानता था।

"नहीं।"–कुछ देर सोचने के बाद उसने कहा–"नहीं, यह असंभव है, तुम्हारे और मां के सन्तोष-सम्मान के लिए अपने प्राण न्यौछावर कर सकती हूँ, पर दूसरे के नहीं, और न उस वचन को तोड़ सकती हूँ, जो कि उसकी मरण-सेज पर दे चुकी हूँ।"

"सहाना, आज इस जीवन के अन्त में तुम मुझसे क्या कहना–क्या सुनना चाहती हो?"

"कुछ भी नहीं।"–उसने बालक को छाती से लगा लिया, जाते समय कहती गई–"यह भूखा है, दूध पिलाकर फिर तुम्हारी बातें सुनूँगी।"

माता-पुत्र स्तम्भित-से खड़े रह गये।

3

"सहाना, आलमारी की चाभी देना, कागज़ निकालना है।"–मन्दिर के द्वार पर केशव ने पुकारा।

कटोरे में चन्दन पोंछ कर शीला लौटी, दोनों एक-दूसरे की ओर देखने लगे, उन दृष्टियों में प्रश्न था—तुम कौन हो, कहां से आये?

उसी दिन से सहाना का मन्दिर में जाना तथा रसोई आदि में जाना—नर्मदा देवी ने बन्द कर दिया था, वे बातें केशव जानता नहीं था—ऐसा नहीं; फिर भी अभ्यास-वश वह मन्दिर-द्वार पर खड़ा हो गया। उसे स्मरण आया कि रात में इसी शीला की बात सहाना कह रही थी, वह नर्मदा की ज्ञाती कन्या थी, अविवाहिता थी। नर्मदा ने उसे बुला लिया था।

"चाभी तो मेरे पास नहीं है, मैं शीला हूँ, कल यहाँ आयी हूँ।"

इस तरुणी की संकोच-हीन बातों से केशव कम विस्मित न हुआ, वह उन आयत नयनों के सामने संकुचित हो रहा था।

"अच्छा तो मैं जाता हूँ।"—किसी तरह इन शब्दों को कहकर वह वहाँ से भागा।

भोजन के आसन पर बैठकर केशव विरक्ति से इधर-उधर निहारने लगा, शीला थाली और कटोरों को उसके आगे रखकर पंखे से मक्खी भगाने लगी।

रसोई ब्राह्मण बनाता था, परन्तु भोजन के समय सहाना सामने बैठती थी, दो-चार तरकारी भी पति के लिए वह अपने हाथ से बनाया करती थी, पर हलकू के आने के बाद से गृहिणी उसे दूर रखकर स्वयं उन कामों को कर लिया करती थीं, और आज उन्होंने अपना स्थान शीला को सौंप दिया था।

"भैया, करेले कैस बने हैं?" माता सामने आकर खड़ी हो गई।

"अच्छे।"

"शीला ने बनाये हैं, काम की लड़की है और वैसी ही नम्र-शान्त भी, मैं जिस काम को कह देती उसे जी-जान से करती है, आलू के बरे भी उसी ने बनाये हैं, अच्छे बने हैं न?"

"हाँ।"

"क्यों झूठ बोलते हैं, आपने तो छुआ तक नहीं।"—शीला हँस पड़ी।

अप्रस्तुत होने के साथ-ही-साथ शीला के सरल व्यवहार से केशव सन्तुष्ट भी हुआ।

"शीला सच कह रही है, भैया तुमने तो आज कुछ भी नहीं खाया।"

"खराब बना होगा।"

"नहीं-नहीं, चीजें अच्छी बनी हैं, मुझे भूख नहीं है।"

"फिर भी आप झूठ कहते हैं, मैं कहती हूँ कि मौसी, भौजी को बुला दीजिये, तभी ये पेट-भर भोजन कर लेंगे।"

इस तरुणी की मुँह पर सच कहने की शक्ति को देखकर केशव मन-ही-मन उसकी प्रशंसा करने लगा।

"ऐसा नहीं हो सकता शीला, कि मेरे जीते-जी इस घर में भङ्गी-बसोरों का निवास हो जाये। बहू घर की लक्ष्मी कहलाती है, वही यदि अनाचार करने लगे, तो उस घर

की भलाई कब तक हो सकती है? एक तो इस वंश का ही नाश होने बैठा है, एक बच्चा तक नहीं हुआ, वंश रक्षा करना एक जरूरी बात है, पर कोई सुनता नहीं, मुझे ऐसा लगता है कि अपने हाथों अपना सिर पीट लूँ।"

एक अनजान के सामने इन बातों के अवतारणा से केशव चिढ़ रहा था, फिर भी उसने हँसकर कहा–"तो अपना सिर पीटकर ही देख लो।"

"क्या दाँत निकालते हो भैया, मेरा तो जी जला जाता है, उसीकी बात सब-कुछ हो गई और मेरी बात को कोई पूछता तक नहीं।"

"ऐसा तो नहीं है, माँ।"

"फिर तू ब्याह क्यों नहीं करता?"

"मैं विवाहित हूँ।"

"इससे क्या हुआ, वंश रक्षा के लिए लोग न जाने कितने ब्याह करते हैं, पर इधर तो उसने सौगन्ध रख दी है, माँ की सौगन्ध को कौन मानता है।"

"उसने मुझसे कभी कुछ नहीं कहा, यह तुम्हारा गलत विचार है, उसका मन छोटा नहीं है माँ, वह तुम्हारे विरुद्ध कभी कुछ कहती ही नहीं।"

"अरे, मैं सब-कुछ जानती हूँ, आज वही तेरी सब कुछ है, एक दिन वह था, जब कि इसी बुढ़िया के बिना तेरा दिन कटना मुश्किल था। तेरी आँखों के सामने वह तेरी माँ का अपमान करे, जैसवारे के लड़के को घर में रखे, दिन-भर गोद में लिये रहे और तू औरतों-जैसा देखता रहे, धिक्कार है, ऐसी जिन्दगी पर।"

केशव आसन पर से उठ पड़ा।

"तुमने ऐसा क्यों कहा मौसी? उन्होंने खाया तक नहीं।"

"क्या मैं चुपचाप यह सब सह लूँ?"

"किन्तु तुमने मेरे सामने क्यों कहा? यही बात उन्हें खराब लगी।"

"तुमसे सच कहती हूँ शीला, केशव ऐसा नहीं था, बहू ने उस पर जादू किया है।"

इस बार शीला अपनी हँसी को रोक न सकी, वह हँसते-हँसते लोटने लगी।

"तू हँसती क्यों है? इसमें हँसने की कौन-सी बात है?"

"तुम अन्धेर करती हो मौसी, भला जादू भी कोई चीज है? फिर भौजी के लिए तो ऐसे विचार उठ ही नहीं सकते, उनकी बातचीत की रीति, उनकी शिक्षा ही निराले ढङ्ग की है, वे हज़ारों में एक स्त्री हैं।"

"तू भी ऐसा कहती है शीला! मैं तुझे अपना समझती थी, पर मेरा भाग्य ही ऐसा है।"

वह नर्मदा के गले से लिपट गई–"नाराज हो गई मौसी?"

"नहीं बेटी, मैं अपने भाग्य पर रोती हूँ।"

4

मल्लार रागिनी का आलाप लिये वर्षा तब पृथ्वी के सिरहाने उतर आई थी, घर-द्वार और तरु-पल्लवों में उसके पैर की हरियाली की छाप पड़ने लग गई थी, उस हरियाली ने बूढ़े बट के नीरस हृदय तक को सजीवता के साथ ही साथ रसपूर्ण भी कर दिया था। वर्षा की उस अलसायी हुई सन्ध्या ने केशव के निद्रालु चित्त में नवीनता का मोहिनी मन्त्र फूँक दिया, वह धीरे-धीरे सहाना के कमरे की ओर बढ़ा-बहुत दिनों के बाद।

द्वार की ओर पीठ किये आईने के सामने खड़ी वह बालों को संभाल रही थी, बालों के गुच्छे कमर पर लहरा रहे थे, ओठों पर हल्की-सी मुस्कान थिरक रही थी, वही-रूप यौवन की गर्वीली मुस्कान।

"सहाना!"- उसकी पीठ पर हाथ रखकर प्यार के साथ केशव ने पुकारा।

"आप!"-चञ्चल हरिणी की तरह वह सामने खड़ी हो गई।

"तुम तो शीला हो, सहाना-मेरी सहाना को तुम लोगों ने कहाँ भगा दिया?"

"मैंने?"- पर दूसरे ही क्षण शीला सहम कर बोली-"वे घर ही में है, नीचे कुछ कर रही हैं।"

"फिर तुम उसके कमरे में उसी की तरह, इस आईने के सामने क्यों खड़ी थीं?"

शीला के लिए यह एक अद्भूत प्रश्न तो था ही और जो कुछ था वह था-अपमान का रूखा तिरस्कार। फिर भी उसकी शिक्षा ने उसे आपे से बाहर होने से रोका। कौन-सी भयानक स्थिति ने केशव-जैसे गम्भीर प्रकृति के आदमी को इस तरह विचलित कर दिया है, इस बात को सोच कर शीला सिहर उठी। शीला हट गई।

केशव पत्नी के आगे जाकर खड़ा हो गया-एक दीर्घश्वास की तरह-"कहां थीं तुम?"

हलकू के उन प्यारे-छोटे हाथों को छोड़कर सहाना जरा हट आई। वह जानती थी कि उसी दुःखी असहाय शिशु को लेकर उसकी गृहस्थी में कैसा तूफान उठा हुआ है।

"तुम मेरे साथ-साथ रहा करो, सहाना।"-पति के उन व्याकुल बाहुओं में अपने को सौंप कर वह उसका मुँह निहारने लगी। समुद्र-सा अथाह विस्मय उसके सामने था।

बच्चा रोने लगा। इतनी देर के बाद केशव की दृष्टि हलकू पर पड़ी-"इसीके लिए तुम आज मुझे भूल रही हो, मेरी यह दशा हो रही है, सब अनिष्ट की जड़ यही है, अच्छा ठहरो।"

उसने बालक को उठा लिया, शायद उसे फेंकना चाहता हो। उन्मादिनी की भाँति सहाना ने बालक को छीन लिया। अपनी छाती से उसे लगा कर वह हाँफने लगी।

"उसे दे दो सहाना, वरना आज मुझे कठोर बर्ताव करना पड़ेगा।"

"नहीं-नहीं, मेरे बच्चे का खून मत करो; पहले मुझे मार डालो।" वह उसे गोद में लेकर जमीन में बैठ गई।

केशव को जिद्द-सी हो गई–"मैं उसे लेकर ही छोड़ूंगा।"–वह उसे छीनना चाहता था; परन्तु सहाना की उस दृष्टि को सह न सका–वह कैसी रिक्त सर्वशान्त दृष्टि है! वह सिहर उठा, उसके हाथ अपने-आप रुक गये, हृदय में प्रश्नों की झड़ी लग गई–वह जो गत-यौवना रूपवती नारी, मर्द के रूप की प्यास को बुझाने के लिए आज सब-कुछ खो बैठा है–उसके जीवन के वे लम्बे अनमोल दिन क्या योंही दीर्घ श्वास की नाई छोटे-से पल में उड़ जायेंगे? जिसके अणु परमाणु माता होने के लिए सृजे गये थे–उसे व्यर्थ करने का अधिकार क्या दुनिया में किसी को भी था? शायद जीवन के आरम्भ में ही वह पावन-दीप जलाये सन्तान की प्रतीक्षा में बैठी थी, उसकी उस प्रतीक्षा को निष्फल किसने किया? पति के अभिमान से अन्धे बन कर उसके शुद्ध-सुन्दर मातृत्व को छीन लेनेवाला राक्षस वह कौन था? कठोर तपस्या शेष कर जीवन की सन्ध्या में जो रमणी भिखारिन की तरह सन्तान की भीख मांग रही है, उसकी भिक्षा की झोली आज वह किस चीज से भरेगा? माता की उस मरुभूमि की-सी तृष्णा को वह किस तरह तृप्त करेगा? उसके उस जरा-सी शान्ति-सन्तोष, उस अभागे बच्चे को छीन कर पति-पूजा का पुरस्कार क्या वह इसी तरह देगा?

केशव की चिन्ता में बाधा पड़ी, सहाना ने बच्चे को उसके पैर-तले लिटा दिया–"लो, लेते जाओ, आज इसे तुम्हीं को सौंपती हूँ"–दोनों हाथों से सहाना ने अपना मुँह ढाँक लिया।

केशव ने एक बार पत्नी की ओर और दूसरी बार बच्चे को देखा, फिर हलकू को धीरे से उठा कर सहाना की गोद में डाल दिया।

5

जिस दिन उस बालक का अन्त हो गया, उस दिन सहाना की आँखों में पानी का एक छोटा-सा बूँद तक नहीं था। दिन एक-सा कटने लगा, सहाना के अन्तर का परिवर्तन बाहरी जगत् से छिपा ही रह गया, शायद जीवन-भर के लिए। वह सब कामों में योग देती और पति से हंसकर बात भी करती, केवल दिन में एक बार उस नन्हें बच्चे के चित्र को आँखों से लगा लेती।

जिस दिन उसकी वह चोरी पकड़ी गई उस दिन केशव ने विरक्त होकर कहा–"बुढ़ापे में क्या तुम पागल हो जाओगी? धूमकेतु यदि मरा भी, तो निशानी छोड़ गया।"

"छि:! मरे हुए का जरा-सा सम्मान करना सीखो, उसकी भी आत्मा थी।"–उसके कण्ठ में तिरस्कार था।

"ऐसा! तो उस कमीने के लिए आँसू भी बहाना पड़ेगा और सम्मान दिखाना पड़ेगा?"

"फिर इससे तुम छोटे न हो जाओगे।"

"और कुत्ते-बिल्लियों के लिए किस दिन आँसू बहाना होगा, सो भी कह देना।"

सहाना ने उत्तर नहीं दिया, इन बातों का वह जवाब ही क्या देती।

"अब जवाब क्यों नहीं देती?"

"क्या इन बातों का उत्तर भी देना है, और मुझी को?"

उन शब्दों में कौन-सी सम्मोहनी भरी थी, सो तो केशव ही जाने; परन्तु इसके बाद मारे लज्जा के उसकी आँखें झुक गईं, पिछली बातों के स्मरण से उसके मन में शायद कुछ अनुपात की छाया-सी पड़ी, किन्तु दूसरे ही क्षण वह जबरन् अस्वीकार करने लगा, मन-ही-मन कहने लगा होनहार था।

झूठ से समझौता करते-करते लोग अपने जीवन की न जाने कितनी अनमोल वस्तुओं को खो बैठते हैं, शायद इसीलिए वह फिर उसी मिथ्या से समझौता करने में लग गया।

"तुम बैठी फोटो देखती रहो और मैं भूखा-प्यासा तुम्हारा मुँह निहारता रहूं, यही कहना चाहती हो न?"

"मैं तुमसे कुछ भी नहीं कहना चाहती, तुम भोजन कर लो।"

"धन्यवाद, इतनी देर के बाद तुम्हें याद आया?"

वह कह सकती थी कि आजकल भोजन छूने का अधिकार उसे नहीं है। कह सकती थी, अब उसके बदले शीला उन कामों को किया करती है, पर नहीं, वह चुपचाप बाहर निकल गई।

"आइये।"—शीला ने पुकारा।

केशव के कानों में अमृत की वर्षा हो गई। कैसी दर्दीली पुकार है!—उसने अपने आप कहा।

आसन के आगे मिठाई की रकाबी रखे शीला बैठी थी, उसी की प्रतीक्षा में।

केशव का अन्तर-बाहर आनन्द, सन्तोष से भर उठा। सारे दिन परिश्रम के बाद घर में शान्ति नहीं मिलती थी, किन्तु उस तरुणी की सेवा, सहानुभूति से केशव बिछुड़े हुए दिनों की उसी खुशी के समुद्र में लहराने लगता था—थोड़ी देर के लिए।

गरम-गरम कचौरियाँ रकेबी में डाल कर शीला ने कहा—"इनमें से एक भी न बचे, वरना दण्ड भुगतना पड़ेगा।"

उसने शीला की ओर देखा, उस तरुणी के सारे अङ्गों से खुशी का झरना झर रहा था।

"कौन-सी सजा मिलेगी शीला?"—कौतुक के साथ केशव ने पूछा।

"फिर इतनी ही कचौरियाँ और भी खानी पड़ेगी।"

"यदि न खा सकूँ?"

"तो रात-भर इसी तरह बैठे रहना पड़ेगा।"

"तुम मेरे सामने रहोगी न?"

"जाइये। ये मीठे शब्द बहुत ही मीठे स्वर में कहे गये। केशव चौंक पड़ा, वह भागा—चोरों की तरह। आकुल विस्मय से शीला उसे निहारती ही रह गई।

सहाना ने धीरे से पति के सिर पर हाथ फेरकर पूछा—"इस समय तुम सोये क्यों,

कहीं तबीयत तो खराब नहीं है?"

"सहाना, तुम्हीं मेरी स्त्री हो और तुम्ही होगी।"–दोनों हाथों से सहाना का हाथ पकड़कर वह बार-बार कहने लगा।

सहाना धीरे-धीरे उसके सिर पर हाथ फेरने लगी।

"क्या वे पुराने दिन नहीं लौट सकते, सहाना?"

सहाना का हृदय व्यथा से विकल हो उठा।

"कहो सहाना जवाब दो।"

"तुम्हारे दर्द को मैं और भी बढ़ाना नहीं चाहती।"

"समझा नहीं।"

"जरा चुपचाप सोए रहो, तबीयत ठीक हो जायेगी।"

"नहीं-नहीं, मुझे कहने दो, सहाना–सहाना"

"मैं जानती हूँ।"

"तुम, तुम जानती हो! क्या जानती हो?"–विराट विस्मय से आँखें विस्फारित हो रही थीं।

"सभी बातें। किन्तु तुम्हारे मुँह से सुनना नहीं चाहती।"–वह हँसी। केशव का सिर अपने-आप झुक गया।

"कब से जानती हो?"–बहुत देर के बाद उसने पूछा।

"बहुत दिनों से।"

"तुमने मुझे सावधान क्यों न किया? मुझे अपने बाहुओं में खींच क्यों न लिया?"

"जबरन ही? किन्तु नहीं–मैं ऐसा नहीं कर सकती थी, वैसी भीख की झोली से घृणा करती हूँ, आन्तरिक घृणा। प्रेम, प्यार, आदर की वस्तु जरूर है, पर मांगने-जांचने की नहीं, उसके लिए दूसरे से झगड़ना-छिः, छिः"–वह घृणा से सिहर उठी।

"तुम पत्थर की बनी हो, सहाना।"

"होगा भी।"–उदास स्वर से उसने कहा।

"पर मैं अपना अधिकार इस अवहेलना के साथ नहीं छोड़ सकता था।"

"अवहेलना? नहीं, घृणा कह सकते हो। किन्तु मैं कहती हूँ, ये सब बातें तभी उठ सकती थीं, जब कि अधिकार को कोई छोड़ देता।"

"तो यह क्या है?"

"जो प्रेम एक बार किसी के द्वार पर लुट चुका था, वही प्रेम आज यदि प्रचारक की तरह दूसरे के द्वार पर झांकने लगे, तो उसके लिए सिर पीटने की जरूरत नहीं है। अधिकार मन की चीज है, वह अमर है, प्रेम के उस अधिकार को छीन लेने की शक्ति विधाता को भी नहीं है, फिर हम तो आदमी ही हैं।"–सहाना उठी–"अब मैं जाती हूँ, काम पड़ा है।"

6

काम करते-करते शिशु-कण्ठ के मधुर गीत से अनमनी-सी सहाना द्वार पर आकर खड़ी हो गई।

गीत गा-गा कर नन्हें-नन्हें बच्चे देश के लिए भीख मांग रहे थे। वह अपलक नेत्रों से उन्हें देखने लगी।

"माताजी!"-एक ने पुकारा।

"इन झोलियों में कुछ डाल दो माताजी!"-दूसरे ने कहा।

उसने एक सुन्दर शिशु को गले से लगा लिया-"क्या कहा भैया, फिर कहना।"

"इन झोलियों में कुछ डाल दीजिये।"

"उसी तरह फिर पुकारो।"

"माताजी!"

"और छोटे शब्द में।"

"माँ।"

"फिर पुकारो।"

"माँ-माँ-!"

वह कान लगाकर सुनने लगी, उस पुकार को। एक स्वप्न सा आँखों में छा गया। जैसे कि उसने अपने हृदय का खून-वह उस स्वप्न में देखने लगी-हाँ, हृदय का खून-प्यारे बच्चे को देश के काम में सौंप दिया हो, उसकी उस देश-सेवा के श्रेष्ठ दान से, उस दृष्टान्त से-प्रत्येक माता ने अपनी गोदी खाली कर दी। वह विस्मय के साथ देखने लगी-जल, वायु, आकाश शिशुओं से छा रहा है, तिल बराबर भी कहीं स्थान नहीं है। 'यह कैसा विराट् रूप है!'-उसने अपने-आप कहा।

"सहाना!"-पति की पुकार से वह स्वप्नलोक से लौट आयी।-"हाँ।" उसने उत्तर दिया। उस दृष्टि को केशव सह न सका-यहाँ वह किस उद्देश्य से किस के पास आया है! उसकी चिन्ता विकल हो पड़ी-माँ से आज वह प्रेयसी को माँग रहा था। गृहिणी के नयनों में वह तरुणी की प्यास को देखना चाहता था, सेविका से प्रेम-प्यार-सोहाग मांगता था, हाँ, इतने दिनों के बाद। वह समझ ही न सका कि उसी के अनादर, अवहेलना से उसकी प्रेयसी-नारी मर चुकी थी-बहुत दिन पहले। और उसी नारी के भीतर अब जो कुछ था, वह था केवल माँ का गम्भीर स्नेह और समुद्र सी प्यास।

कुछ विचारता हुआ केशव शीला के निकट जाकर खड़ा हो गया।

"आइये भूख लगी है क्या?"-नदी की भाँति तरल कण्ठ से उसने पूछा।

केशव की उस मुग्ध दृष्टि के आगे वह खिलखिला पड़ी।

"मैं तुम्हीं को ढूँढ़ रहा था।"-केशव का स्वर मृदु था।

नर्मदा ने पुकारा-"भैया, जरा सुन जाना।"

रात में सहाना ने केशव के कागजों को हटा कर, किसी प्रकार की भूमिका के बिना ही कहा–"शादी के लिए और तैयारियाँ तो मैंने कर ली हैं, केवल गहने तुम बनवा देना।"

"किस की शादी?"

"शीला की।"

"वर कहाँ मिला?"–उसका कण्ठ काँप रहा था।

कुछ देर तक पति के मुँह की ओर देख कर सहाना ने उत्तर दिया–"वर घर ही में है।"

"और मैंने उसे नहीं देखा?"

"मैंने जब देखा है, तब तुम भी देख चुके हो।"

"याने?"

"तुम हो।"

"मैं, मैं!"–वह पीछे हटा।

"हाँ, तुम।"

"यह दिल्लगी अच्छी नहीं लगती, सहाना।"

"दिल्लगी नहीं, सच ही कहती हूँ, इसी पन्द्रह तारीख को शादी होगी।"

"असम्भव है।"

"ऐसा मत कहो सभी तैयारियाँ हो चुकी हैं।"

"ऐसा तुमने क्यों किया, सहाना?"

"क्योंकि इसकी जरूरत थी।"

"फिर भी यह नहीं हो सकता, इसमें न तो मेरी भलाई है और न तुम्हारी, किसी के लिए कभी भी मैं तुम्हें दुःख नहीं दे सकता।"

"तुम भूल कर रहे हो,–तुम्हारे सुख के लिए मैं सब कुछ सह सकती हूँ, विशेषतः मेरे उस गत आनन्द की स्मृति को दुःख की शिखा जला नहीं सकती है, तुम विश्वास करो।"

"तुम कठोर हो–बहुत कठोर हो, सहाना, मैं ऐसा नहीं कर सकता था, जिसे मैं चाहता हूँ उसे अपने ही हाथों से किसी और को लुटा नहीं दे सकता था।"

"मैं लुटा रही हूँ या–"

"कहो-कहो, क्या कहना चाहती हो?"

"निर्लज्जता की भी सीमा रहती है,–हाँ–मैं कहती थी–तुम उस बात को सह न सकोगे।"

"क्यों?"

"क्योंकि सत्य कभी सुखद नहीं होता।"

"फिर भी मैं सुनना चाहता हूँ।"

"जिनको मैं चाहती हूँ, अपने उस देवता को मैं नहीं लुटा रही हूँ, वे मेरे हैं–मेरे ही रहेंगे, उन्हें छीनने की शक्ति दुनिया की किसी स्त्री में नहीं है, आज अपने-आप जो लुट रहे हैं वह हैं लालसा की जीवन्त मूर्ति, नूतनता की अनन्त प्यास, प्रतारण का अनोखा रूप और जीवन-सन्ध्या की स्वार्थी व असीम स्पर्धा।"

"सहाना-सहाना, चुप रहो, मैं और सुनना नहीं चाहता, क्या तुम वही सहाना हो?"

वह हँसी–"परिवर्तन–प्रकृति का नियम, आदमी का स्वभाव है।"

"आज क्या तुम अपने उस देवता की पहले की तरह पूजा नहीं कर सकती हो, सहाना?"

"मैं तो आजीवन उनकी पूजा करती हूँ, और करती ही रहूँगी।"–उसके नेत्रों में विस्मय था।

"नहीं, मैं कहता था– " वह संकोच के साथ बोला–"कहता था–अब क्या तुम मुझ से घृणा करती हो?"

"मैं तो कह चुकी–परिवर्तन आदमी का स्वभाव है, और नूतनत्व का आकर्षण है उसका मज्जागत रोग, फिर इसके लिए हाहाकर करना या मानाभिमान करना व्यर्थ है, आओ, यहाँ बैठ जाओ, उदास क्यों हो?"

"मैं और कुछ न तो सुनना चाहता हूँ और न कुछ पूछना, पर यह विवाह हो नहीं सकता। वर के लिए सोचने की आवश्यकता नहीं है, उसी दिन वर तुम्हें मिल जायेगा।"

शीला ने द्वार पर से पुकारा–"भौजी, मौसी तुम्हें बुला रही हैं।"

केशव ने सिर नीचा कर लिया, आज वह शीला की ओर देख तक नहीं सकता था।

7

उस धनी परिवार के नौकरों से लेकर मालिक तक उस दिन व्यस्त थे। बाहर से शहनाई मधुर स्वर से मिलन-सङ्गीत अलाप रही थी, गलीचे पर चादरें बिछ रही थीं, पानी के मटकों में गुलाब-जल मिलाया जा रहा था, बड़ी-बड़ी कड़ाहियों पर शाक-भाजी बन रही थी, हलवाई मिठाई बना-बना कर बूढ़े पुरानों को चखा रहे थे। सहाना और केशव घूम-घूम कर सब व्यवस्था कर रहे थे।

शीला की शादी थी–धनी वर के साथ। बच्चे आँगन में शोर मचा रहे थे। चहुँओर के उस आनन्द के भीतर लहराती हुई नदी की भाँति शीला हँस-हँस कर अपनी सखी-सहेलियों से मिल रही थी। स्त्रियों के बीच में उसकी समालोचना चल रही थी–"कैसी बेहया है।" "बहन, आजकल की लड़कियाँ ऐसी ही होती हैं।" "ठीक है, बूढ़ी हो जाती हैं तब कहीं वर मिलता है, इसलिए वे अपने आनन्द को छिपा भी नहीं सकती।"

शीला ने एक स्त्री को चिकोटी काटी।

"जाकर दूल्हे को चिकोटी काट, मुझे नहीं।"–उस स्त्री ने कहा।

"उन्हें तो रात में काटूँगी।"

"कैसी बेहया है तू शीला, तूझे लज्जा–हया कुछ भी नहीं!"–स्त्री की भौंहे चढ़ गईं, जिन्हें देखकर शीला खिलखिला कर हँसने लगी।

चलते-चलते केशव लौटा, पल-भर के लिए उस खुशी की दिवाली की ओर उसने देखा, फिर काम के अन्दर डूब गया। केवल सहाना उस हँसी को देखकर सिहर उठी।

सन्ध्या समय बनाव-शृङ्गार शेष कर शीला दबे पाँवों उस द्वार के बाहर जाकर खड़ी हो गई जहाँ कि केशव द्वार की ओर पीठ किये चुपचाप खड़ा कुछ विचार रहा था। वह कुछ देर तक खड़ी उसे देखती रही, इसके बाद उसने वहीं से केशव को प्रणाम किया। केशव लौटा, उसने देखा एक छाया सामने से हट रही है।

व्यथा के साथ केशव ने पुकारा–"शीला!" परन्तु उत्तर न मिला।

"भ्रम था!" दीर्घ श्वास के साथ ये शब्द उसके कंठ से निकले।

बड़ी धूम से बारात आई। कन्यादान के समय शीला को लोग ढूँढ़ने लगे। किन्तु उसका पता कहीं भी न था। घर, द्वार, हर एक सन्दूक देखी गई, शीला न मिली।

दो बूँद आँसू पोंछ कर सहाना ने अखबारों में विज्ञापन दिया–शीला बहन, तुम लौट आओ। इस घर में तुम्हारा निरादर न होगा। □

रेल की रात

इलाचंद्र जोशी
(जन्म : सन् 1902 ई.)

गाड़ी आने के समय से बहुत पहले ही महेन्द्र स्टेशन पर जा पहुँचा था। गाड़ी के पहुँचने का ठीक समय मालूम न हो, यह बात नहीं कही जा सकती; जिस छोटे शहर में वह आया हुआ था, वहाँ से जल्दी भागने के लिए वह ऐसा उत्सुक हो उठा था कि जान-बूझकर भी अज्ञात मन से शायद किसी अबोध बालक की तरह वह समझा था कि उसके जल्दी स्टेशन पर पहुँचने से संभवतः गाड़ी भी नियत समय से पहले ही आ जायेगी।

होल्डाल में बँधे हुए बिस्तरे और चमड़े के एक पुराने सूटकेस को प्लेटफ़ार्म के एक कोने पर रखवाकर वह चिंतित तथा अस्थिर-सा अन्यमनस्क भाव से टहलते हुए टिकट-घर की खिड़की के खुलने का इंतजार करने लगा।

महेन्द्र की आयु बत्तीस-तैंतीस वर्ष के लगभग होगी। उसके कद की ऊँचाई साढ़े पाँच फीट से कम नहीं मालूम होती थी। उसके शरीर का गठन देखने से उसे दुबला तो नहीं कहा जा सकता, तथापि मोटा वह नाम का भी न था। रंग उसका गेहुआँ था, कपोल कुछ चौड़ा, भौहें कुछ मोटी किन्तु तनी हुईं, आँखें छोटी पर लंबी, काली मूंछे घनी पर पतली और दोनों सिरों पर कुछ ऊपर को उठी थीं। वह खद्दर का एक लंबा कुरता और खद्दर की धोती पहने था। सर पर टोपी नहीं थी। पाँवों में घड़ियाल के चमड़े के बने हुए चप्पल थे। उसके व्यक्तित्व में आकर्षण अवश्य था, पर वह आकर्षण सब समय सब व्यक्तियों की दृष्टि को अपनी ओर नहीं खींचता था।

सूरज बहुत पहले डूब चुका था और शुक्ल पक्ष का अपूर्ण गोलाकार चन्द्रमा अपने किरण-जाल से दिग्-दिगंत को स्निग्ध आलोक-छटा से विभासित करने लगा था। स्टेशन पर अधिक भीड़ न थी। प्लेटफ़ार्म पर टहलते-टहलते पूर्व की ओर क़दम निकल जाने पर ऐसा मालूम होने लगता था कि चाँदनी दीर्घ-विस्तृत समतल भूमि पर अलस क्लांति की तरह पड़ी हुई है। झिल्ली-झनकार का एकांतिक मर्मर स्वर इस अलसता की वेदना

को निर्मम भाव से जगा रहा था, जिससे महेन्द्र के हृदय की गुप्त व्याकुलता तिलमिला उठती थी।

सिगनल डाऊन हो गया था। टिकट-घर खुल गया था। थर्ड क्लास का टिकट खरीदकर महेन्द्र गाड़ी का इन्तजार करने लगा। थोड़ी देर में दूर ही से सर्चलाइट के प्रखर प्रकाश से तिमिर-विदारण करती हुई गाड़ी दिखाई दी और झक्-झक् करती हुई स्टेशन पर आ खड़ी हुई।

सामने के कम्पार्टमेंट में केवल दो व्यक्ति बैठे थे और वे भी उतरने की तैयारी कर रहे थे। महेन्द्र एक हाथ में बिस्तर की गठरी और दूसरे हाथ से सूटकेस पकड़कर उसी में जा घुसा। जो दो व्यक्ति कम्पार्टमेंट में थे, उनके उतरते ही एक चश्माधारी सज्जन ने दो महिलाओं के साथ भीतर प्रवेश किया। कुली ने आकर नवागंतुक महाशय का सामान भीतर रख दिया और मजूरी के सम्बन्ध में काफ़ी हुज्जत करने के बाद पैसे लेकर चला गया। चश्माधारी सज्जन महिलाओं के साथ महेन्द्र के सामने वाले बेंच पर बड़े आराम से बैठ गए। मालूम होता था कि वह बड़ी हड़बड़ी के साथ गाड़ी के आने के कुछ ही समय पहले स्टेशन पहुँचे थे और घबराहट में थे, कि महिलाओं को साथ लेकर यदि किसी कम्पार्टमेंट में जगह न मिली, तो क्या हाल होगा। वह अभी तक हाँफ रहे थे, जिससे उनकी अब तक की परेशानी स्पष्ट व्यक्त होती थी। अब जब आराम से बैठने को खाली जगह मिल गई, तो एक लम्बी साँस लेकर चश्मा उतारकर रूमाल से मुँह का पसीना पोंछने लगे। पसीना पोंछते-पोंछते महेन्द्र की ओर देखकर उन्होंने प्रश्न किया, "शिकोहाबाद कै बजे गाड़ी पहुँचेगी, आप बता सकते हैं?"

महेन्द्र ने उत्तर दिया, "जहाँ तक मेरा ख्याल है, बारह बजे के करीब पहुँचेगी।"

महेन्द्र कनखियों से महिलाओं की ओर देख रहा था। महिलाएँ उसके एकदम सामने बैठी थीं और यदि वह दृष्टि सीधी करके स्वाभाविक रूप से उन्हें देखता रहता, तो भी शायद न तो चश्माधारी सज्जन को और न महिलाओं को कोई आपत्ति होती, पर उसे अपनी स्वाभाविक संकोचशीलता के कारण उनकी ओर स्थिर दृष्टि से देखने को साहस नहीं होता था। दोनों महिलाएँ बेपर्दा बैठी थी। उनमें एक की अवस्था प्रायः पैंतीस वर्ष की होगी, वह एक सफेद चादर ओढ़े खड़ी थी; दूसरी बाईस-तेईस वर्ष की जान पड़ती थी; वह एक गुलाबी रंग की सुन्दर, सुरुचिपूर्ण साड़ी पहने थी। दोनों यथेष्ट सभ्य और सुशील जान पड़ती थीं। ज्येष्ठा को देखने से ऐसा अनुमान लगाया जा सकता था कि किसी समय वह सुन्दर रही होगी, पर अब अस्वस्थता के कारण उसका मुखमंडल बिल्कुल निस्तेज जान पड़ता था। कनिष्ठा यद्यपि सौंदर्य-कला की दृष्टि से सुन्दरी नहीं थी, तथापि उसके मुख की व्यंजना में एक ऐसी सरल मधुरिमा वर्तमान थी, जो बरबस आँखों को आकर्षित कर लेती थी।

आज कई कारणों से महेन्द्र का जी दिन भर अच्छा नहीं रहा। गाड़ी में बैठने तक वह चिंतित, अन्यमनस्क तथा उदास था। पर गाड़ी में बैठते ही शिष्ट, सुशील तथा सुन्दरी

महिलाओं के साहचर्य से उसके खिन्न मन में एक सुखद सरलता छा गई। यद्यपि वह संकोच के कारण कुछ कम घबराया हुआ न था, तथापि चश्माधारी सज्जन की भोली आकृति तथा सरल भाव-भंगिमाओं से और महिलाओं की शालीनता से उसे इस बात पर धीरे-धीरे विश्वास होने लगा था कि उनके बीच किसी प्रकार का संकोच अनावश्यक ही नहीं बल्कि अशोभन भी है।

चश्माधारी सज्जन ने चश्मा उतारकर एक रूमाल से उसे पोंछते हुए पूछा, "आप क्या शिकोहाबाद जा रहे हैं?"

"जी नहीं, मैं दिल्ली जा रहा हूँ। क्या आप शिकोहाबाद में ही रहते हैं?"

"जी नहीं, मुझे टूंडला जाना है। मैं वहाँ कोर्ट में प्रेक्टिस करता हूँ। इधर कुछ दिनों के लिए घर आया हुआ था। अब अपनी 'वाइफ़' को और 'सिस्टर' को लेकर वापस जा रहा हूँ। 'सिस्टर' की तबीयत ठीक नहीं रहती, इसलिए उसे हवा-बदली के लिए ले जा रहा हूँ।"

एक साधारण से प्रश्न के उत्तर में इतनी बातों से परिचित होने पर महेन्द्र को नवपरिचित सज्जन की बेतकल्लुफ़ी पर आश्चर्य हुआ और वह मन ही मन मुस्कराने लगा। उसे अनुमान लगाया कि ज्येष्ठा महिला 'सिस्टर' होगी और कनिष्ठा 'वाइफ़'।

थोड़ी देर में गाड़ी चलने लगी। कोई दूसरा यात्री उस डिब्बे में न आया। चश्माधारी और बँधे हुए बिस्तर महाशय गाड़ी चलने के कुछ ही देर बाद ऊँघने लगे। वे रह न सके को तकिया बनाकर एक दूसरे बेंच पर लेट गये और लेटते ही खर्राटे लेने लगे। न जाने क्यों, महेन्द्र के मन में यह विश्वास जम गया कि इन नवपरिचित महाश्य का जीवन बड़ा सुखी है। उनकी बेतकल्लुफ़ी तथा उनके मुख का आत्म-संतोषपूर्ण भाव देखकर उनके मन में यह विश्वास जमने लगा था और जब उसने उन्हें निश्चिंत सोते हुए तथा खर्राटे भरते देखा, तो उसकी यह धारणा दृढ़ हो गई।

ज्येष्ठा महिला ने भी थोड़ी देर में ऊँघना शुरु कर दिया। वह ऊँघती जाती थी और बीच-बीच में जब जबर्दस्त हिचकोला खाती थी तो जाग पड़ती थी। केवल कनिष्ठा महिला पूर्णतः सजग थी। वह कभी खिड़की से बाहर झाँक कर चाँदनी के उज्ज्वल आलोक में शायद 'पलपल परिवर्तित' प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लेती थी, कभी ऊँगनेवाली महिला की ओर देखती थी, कभी खर्राटे भरने वाले महाशय, शायद अपने पति को एक बार सरसरी निगाह से देख लेती थी और कभी महेन्द्र को स्निग्ध किंतु विस्मय की उत्सुकता से पूर्ण आँखों से देखने लगती थी। उन आँखों की स्थिर दृष्टि जब महेन्द्र पर आकर पड़ती थी तो, उसे ऐसा मालूम होने लगता कि वह मोहाविष्ट हुआ जा रहा है और उसकी सारी आत्मा, यहाँ तक कि सारा शरीर भी अपना रूप बदल रहा है और यह किसी अव्यक्त तथा अतीन्द्रिय मायावी स्पर्श से कुछ का कुछ हुआ जा रहा है। वह उस स्थिर दृष्टि का तेज सहन कर सकने के कारण आँखें फिरा लेता था।

गाड़ी टटर-ट्ट-टटर-ट्ट शब्द से चली जा रही थी। जाग्रत महिला की गुलाबी साड़ी का अंचल हवा के झोंके से सर से नीचे खिसक कर उसके लहराते हुए घनकुंचित काले केशों की बहार दिखा रहा था। गुलाबी साड़ी भी हवा के जोर से फर-फर फहरा रही थी। महेन्द्र पूर्ण जाग्रत अवस्था में स्वप्न देखने लगा। उसे यह भी भ्रम होने लगा कि यह महिला, जो इसके पहले उसके लिये एकदम अज्ञात थी और निश्चय ही सदा अज्ञात रहेगी, न जाने किस चिदानंवमय लोक से अकस्मात् आविर्भूत होकर उसके पास आ बैठी है और गुलाबी रंग की पताका फहराकर विश्व-विजय को निकली है और वह उसका सारथी बनकर उस अनंतगामी रेल रूपी रथ पर चला जा रहा है। सारा विश्व, समस्त मानवी तथा मानसी सृष्टि उसके लिए उसे कम्पार्टमेंट के भीतर समा गई थी, जिसमें ऊँघने-वाली महिला तथा सोये हुये सज्जन का कोई अस्तित्व नहीं था, और उसके बाहर क्षण--क्षण में परिवर्तित होने वाले अस्थिर माया जगत् का चिर चंचल रूप एकदंम असत्य सत्ताहीन सा लगता था।

महेन्द्र सोचने लगा कि उसने जीवन में कितनी ही स्त्रियों को विभिन्न रूपों तथा विचित्र परिस्थितियों में देखा है, पर आज का यह बिल्कुल साधारण सा अनुभव उसे क्यों ऐसा अपूर्व तथा अनुपम लग रहा है। वह सोच ही रहा था कि फिर उस विश्व-विजयिनी ने अपनी सुन्दर विस्मित आँखों की रहस्यमयी उत्सुकता से भरी स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा। वह मन ही मन संबोधित करते हुए कहने लगा, चिर अज्ञाता, चिर अपरिचिता देवी! तुम मुझसे क्या चाहती हो। तुम्हारी इस मर्मभेदिनी दृष्टि का क्या अर्थ है? दैवयोग से महाकाल के इस नगण्यतम क्षण में, जिसकी सत्ता महासागर में एक क्षुद्रतम बुदबुदे के बराबर भी नहीं है, हम दोनों का आकस्मिक मिलन घटित हुआ है, और महासागर में बुदबुदे की तरह यह क्षण सदा के लिए विलीन हो जायेगा। तथापि इतने ही अर्से में क्या तुम हम दोनों के जन्मांतर के सम्बन्ध से परिचित हो गई अथवा यह सब कुछ नहीं है? तुम्हारी आँखों की उत्सुकता का कोई मूल्य नहीं है, मेरी विह्वल भावुकता का कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्वपूर्ण जो कुछ है, वह है तुम्हारे पास लेटे हुए व्यक्ति का खर्राटे भरना।

शिकोहाबाद पहुँचने तक चश्माधारी सज्जन की नींद न टूटी और ज्येष्ठा महिला ऊँघती रही। पर महेन्द्र की विश्व-विजयिनी की आँखों में एक क्षण के लिए भी निद्रा-रसावेश का लेश नहीं दिखाई दिया। वह बीच-बीच में अपनी मर्म-भेदिनी दृष्टि की प्रखर उत्सुकता से उसके हृदय को अकारण निर्मम रूप से बिद्ध करती चली जाती थी। फलस्वरूप महेन्द्र की गुलाबी मोहकता भी शिकोहाबाद पहुँचने तक अखंड बनी रही।

शिकोहाबाद पहुँचने पर विश्व-विजयिनी ने चश्माधारी सज्जन के किंचित् स्थूल शरीर को हाथ से हिलाते हुए जगाया। ऊँघती हुई महिला भी सँभलकर बैठ गई। कुलियों से सामान उतरवाकर चारों व्यक्ति उतर पड़े। दिल्लीवाली गाड़ी जिस प्लेटफार्म पर

लगनेवाली थी, वहाँ को जाने के लिए पुल पार करना पड़ा। पुल पार करके वे लोग जिस प्लेटफार्म पर आये, वहाँ कहीं एक भी बत्ती जली हुई नहीं थी। पर चूंकि सर्वत्र निर्मल चाँदनी छिटक रही थी, इसलिए बत्ती की कोई आवश्यकता न जान पड़ी। गाड़ी के आने में अभी डेढ़ घन्टे की देर थी। चश्माधारी महाशय एक बेंच पर बिस्तर फैलाकर लेट गए। दोनों महिलाएँ भी नीचे रखे हुए सामान के ऊपर बैठ गईं।

चश्माधारी सज्जन ने महेन्द्र से कहा, "आप भी किसी बेंच पर बिस्तर बिछाकर लेट जाइए।"

पर कोई बेंच खाली नहीं थी और न महेन्द्र सोने के लिए ही उत्सुक था। आज की रेलवे यात्रा की चन्द्रोज्ज्वल रात्रि उसे चिरजाग्रत तथा चिरजीवित स्वप्न-लोक में विचरण का अवसर दे रही थी। वह प्लेटफार्म पर टहलते हुए अपने अन्तर्मन में नवोद्घटित जीवन-वैचित्र्य की चहल-पहल देखकर विस्मित हो रहा था। उसे ऐसा अनुभव हो रहा था कि वह जीवन की मधुरिमा से आज प्रथम बार परिचित हो रहा था। रेलवे लाइन के उस पार दिगन्त विस्तृत ज्योत्स्ना-राशि अपने आवेश में स्वयं पुलकित हो रही थी और सामने काफी दूर पर दो रक्तरंजित गोलाकार प्रकाश-चिन्ह आकाश-दीप की तरह मानो आनन्दोज्ज्वल रंगीन जीवन का मार्ग उसके लिए इंगित कर रहे थे। रेलगाड़ी में होकर वह अनेक बार आया था और गया था और कितनी ही बार उसे रात के समय स्टेशनों पर गाड़ी के इन्तज़ार में ठहरना पड़ा था, पर आज की ऐन्द्रजालिक उल्लासपूर्ण अनुभूति उसके लिए एकदम नयी थी। इस बार इन्द्रजाल के उद्घाटन का श्रेय जिसको था, वह मायाविनी इस समय टीन की छत के नीचे की छाया में बैठी हुई थी और अंधकार में उसकी आँखों के जादू का चलना बन्द हो गया था। पर वहाँ पर केवल मात्र उसका अस्तित्व ही महेन्द्र की आत्मा में मायालोक की मोहकता का सृजन करने के लिए पर्याप्त था।

वह टहलते-टहलते न मालूम किन निरुद्देश्य स्वप्नों की माया के फेर में पड़ा हुआ था कि अचानक चश्माधारी महाशय ने बेंच पर से पुकारते हुए कहा, "अरे जनाब, कब तक टहलिएगा। अगर लेटना नहीं चाहते, तो यहाँ पर बैठ तो जाइए। नींद तो आवेगी नहीं। इसलिए गाड़ी के आने तक गप-शप ही करते हैं।" महाशयजी पहले ही काफी सो चुके थे इसलिए अब नींद नहीं आ रही थी। महेन्द्र मुस्कराता हुआ उनके पास अपने सूटकेस के ऊपर बैठ गया।

महाशयजी ने कहा, "आप दिल्ली में कहीं मुलाज़िम है?"

"जी नहीं।"

"तब आप क्या करते हैं, आप खद्दर पहने हैं, क्या आप राजनीतिज्ञ हैं?"

"पहले था, अब नहीं के बराबर हूँ।"

"वह कैसे?"

इस प्रश्न के उत्तर में महेन्द्र ने परम क्लान्ति का भाव दिखाते हुए कहा, "अरे साहब,

सुन के क्या कीजिएगा। व्यर्थ में आपके संस्कारों को आघात पहुँचेगा। इस चर्चा को हटाइए और किसी अच्छे विषय की चर्चा चलाइए।"

स्वभावत: चश्माधारी का कौतूहल बढ़ा। उन्होंने आग्रह के साथ कहा, "फिर भी जरा सुनें तो सही। आखिर कौन-सी ऐसी बात हो गई।"

महेन्द्र की सुप्त स्मृतियाँ तिलमिला उठी थीं। कनखियों से उसने देखा, प्राय: अंधकार में बैठी हुई मायाविनी महिला का ध्यान उसी की ओर था। पल में उसके मानसिक चक्षुओं के आगे उसके सारे विगत जीवन के व्यर्थता के दु:खद संस्मरणों की झाँकी चित्रपट पर से क्रम से परिवर्तित होनेवाले चित्रों की तरह भासमान होने लगी। भाव के आवेश में आकर उसने कहा, "अच्छा तो सुनिए। ग्यारह वर्ष से लेकर तीस वर्ष तक की अवस्था तक गान्धी के सिद्धान्तों के पीछे पागल होकर, भूखों रहकर, पग-पग ठोकरें खाकर, समाज तथा परिवार की फटकारें सहकर, जीवन के सब सुखों को अपने ध्येय के लिए तिलांजलि देकर, राष्ट्रीय आदर्श को ब्रह्मतत्त्व से भी अधिक महत्त्व देकर सच्ची लगन से अपनी सारी आत्मा को निमज्जित करके देश का काम किया। तीन बार काफ़ी अवधि के लिए जेल में सड़ता रहा, बार-बार पुलिस के डण्डे सर पर पड़ते रहे। जमीन-जायदाद कुर्क हो गई, माता-पिता अपनी कपूत संतान के कारण तबाह होकर मानसिक और शारीरिक पीड़ा की पराकाष्ठा भोग कर चल बसे, पत्नी तड़प-तड़पकर अपने भाग्य को कोसती हुई मर गई। फिर भी मैं राष्ट्र के कल्याण के परम ध्येय को स्त्री, परिवार, आत्मा और परमात्मा से बहुत ऊँचा मानता हुआ सच्ची लगन से काम करता रहा। जब अंतिम बार जेलखाने में बन्दी मियाद पूरी करने के बाद थका-माँदा मन तथा शरीर से विलष्ट और क्लान्त होकर मैं बाहर आया, तब एक-एक करके उन स्नेही जनों की स्मृतियाँ मेरे मन में उदित हो-होकर व्यक्त करने लगीं, जिनकी मैं सदा अवज्ञा करता आया था। अपनी पत्नी से मैंने जीवन में शायद दो दिन भी घनिष्ठता से बातें न की होंगी। जब मैं बाहर रहता था, तो उसके पत्र बराबर मेरे पास आते रहते थे और मैं सरसरी दृष्टि से पढ़कर अवज्ञा से फाड़कर फेंक देता था। एक या दो बार से अधिक मैंने उसके पत्रों का उत्तर नहीं दिया और दो बार जो उत्तर दिया था, वह भी चार पंक्तियों में बिल्कुल रूखे-सूखे ढंग से। अब जब मैं अपने को सारे संसार में अकेला, स्नेह तथा संवेदना से वंचित, असहाय तथा निरुपाय अनुभव करने लगा तो उसकी भोली-भाली सकरुण, स्नेह की वेदना से भरी, सहज सलोनी मूर्ति प्रतिपल मेरी आँखों के आगे भासित होने लगी। उसके पत्रों में सरल शब्दों में वर्णित कातर व्याकुलता के हाहाकार की पुकार मानो मेरी स्मृति के अतुल गह्वर में दीर्घ सुप्ति की घोर जड़ता के बाद अकस्मात् जागरित होकर मेरे हृदय पर जलते हुए अंगारों के गोलों से आघात करने लगी। अपने जीवन में कभी किसी बात पर नहीं रोया था। माता-पिता तथा पत्नी, किसी की मृत्यु पर आँसू की एक बूँद मेरी आँखों से न निकली थी। पर अब रह-रहकर उन लोगों की याद में बिलख-बिलखकर मैं बार-बार रो पड़ता। मेरी स्नेहशील

पतिपरायण पत्नी की करुण पुण्यच्छवि उज्ज्वल नक्षत्र की तरह मेरी आँखों के आगे स्पष्ट भासमान होने लगी। रह-रहकर मेरा जी विकल हो उठता था और मुझे ऐसा प्रतीत होने लगता, जैसे मेरे हृदय में किसी के निष्कलंक सुकुमार प्राणों की पैशाचित हत्या का अपराध पाषाण-भार की तरह पड़ा हो। बहुत दिनों तक इस नृशंस अपराध की भयंकर अनुभूति का भूत मेरी आत्मा को अत्यन्त निष्ठुरता से दबाता रहा। अब भी यह भौतिक आतंक कभी-कभी मेरे मन में जागरित हो उठता है। फिर भी अब मैंने अपने मन को बहुत समझा लिया है और जीवन को एक नयी दृष्टि से नये रूप में देखने लगा हूँ और साधारण से साधारण घटना भी कभी-कभी मेरे मन में एक अलौकिक आनन्द का आश्चर्य उत्पन्न करने लगती है। किसी स्त्री को देखते ही अब मेरे हृदय में एक श्रद्धापूर्ण उत्सुकता का भाव जाग पड़ता है। ऐसा मालूम होने लगता है, जैसे मैंने अपने जीवन में पहले स्त्री को देखा भी न हो, अब पहली बार इस आनन्ददायिनी रहस्यमयी जाति के अस्तित्व का अनुभव मुझे हुआ हो।"

महेन्द्र का लम्बा लेक्चर समाप्त होते ही चश्माधारी सज्जन 'हा: हा:' करके ठठाकर हँसते हुए बोले, "आप भी बड़े मजे के आदमी हैं। खूब!" यह कहकर वह बेंच पर आराम से लेट गए और उन्होंने आँखें बन्द कर लीं। थोड़ी देर बाद वह जोरों से खर्राटे लेने लगे।

एक लम्बी साँस लेते हुए महेन्द्र ने प्राय: अंधकार में अस्पष्ट झलकती हुई गुलाबी साड़ी की ओर देखा। दो आँखों की मार्मिक दृष्टि से तीव्र मोहकता उस अर्द्ध अंधकार में भी विस्मित वेदना की उत्सुक उज्ज्वल रेखाओं को विकीरित कर रही थीं। महेन्द्र पुलक-विह्वल होकर मंत्र-मुग्ध सा बैठा रहा।

घंटी बजी, दिल्ली को जानेवाली गाड़ी के आने की सूचना देते हुए सिगनल डाऊन हुआ। सामने रक्त आकाश-द्वीप के बदले हरे रंग का प्रकाश जल उठा। यह हरित आलोक महेन्द्र के मानस-पट में साड़ी के गुलाबी रंग के साथ मिलकर एक स्निग्ध-शुचि सौंदर्य-लोक का सृजन करने लगा।

थोड़ी देर में दूर ही से गाड़ी का सर्चलाइट दिखाई दिया। चश्माधारी महाश्य महेन्द्र के जगाने पर फड़फड़ाते हुए उठे। कुलियों ने सामान सँभाल लिया। भक-भक करती हुई गाड़ी प्लेटफ़ार्म पर आ लगी। बड़ी भीड़ थी। चश्माधारी सज्जन को महिलाओं के साथ कुली लोग इंजन की उल्टी ओर बहुत दूर तक ले गये। कहीं स्थान न पाकर अन्त में एक डिब्बे में ज़बर्दस्ती घुस गये। महेन्द्र भी उन लोगों के साथ-साथ जा रहा था पर जिस डिब्बे में वे लोग घुसे, उस डिब्बे में स्थान का निपट अभाव देखकर वह विवश होकर एक दूसरे डिब्बे में चला गया। वहाँ भी काफ़ी भीड़ थी। किसी प्रकार उसने अपने बैठने के लिए थोड़ा-सा स्थान बनाया।

गार्ड ने सीटी दी। गाड़ी चल पड़ी। महेन्द्र के मस्तिष्क में नाना अस्पष्ट भावनाएँ चक्कर काटने लगीं। दो दिन से उसे नींद नहीं आई थी। आज भी वह अभी तक सो

नहीं पाया। इसलिए सोचते-सोचते वह ऊँघने लगा। ऊँघते हुए उसने देखा कि गुलाबी रंग की साड़ी द्रौपदी के चीर की तरह फैलती हुई अकारण सारे आकाश में छा गई है। सहसा दो स्थानों पर वह गगनव्यापी साड़ी फटी और उन दो छिद्रों से होकर दो वेदनाशील, तीक्ष्ण, उज्ज्वल आँखें तीर की तरह प्रखर वेग से उसकी ओर धावित होकर एक रूप में मिलकर एक बड़ी आँख के आकार में परिणत हो गईं। वह बड़ी आँखें उसे शरीर को छेदकर उसके हृत्पिण्ड को छूकर फिर ऊपर आकाश की ओर तीर की तरह छूटी और आकाश में फैली हुई गुलाबी साड़ी में जा लगी और फटकर फिर से दो सुन्दर, किन्तु करुणा-विकल आँखों के आकार में विभक्त हो गईं।

टूँडला स्टेशन पर गाड़ी ठहरने पर महेन्द्र पूर्णतः सचेत होकर बैठ गया। चश्माधारी महाशय दोनों महिलाओं को साथ लेकर कम्पार्टमेंट से बाहर उतरे और सामान को कुलियों के हवाले करके उनके साथ बाहर फाटक की ओर चले। महेन्द्र ने अपने कम्पार्टमेंट से अपनी विश्वविजयिनी को देखा। वह इस उत्सुकता में था कि एक बार अंतिम समय के लिए दोनों की आँखें चार ही जावें, पर न हुई और गुलाबी साड़ी से आवृत सजीव प्रतिभा व्यस्त विह्वल सी आगे को निकल गई।

टूँडला से गाड़ी छूटने पर महेन्द्र के कानों में चश्माधारी सज्जन के ठठाकर हँसने का शब्द गूँजने लगा। उसके अदृष्ट की चिर व्यंग पुकार मानो बार-बार कहती थी—हाः हाः! आप भी बड़े मजे के आदमी हैं: खूब!

□

मुग़लों ने सल्तनत बख्श दी

भगवतीचरण वर्मा
(जन्म : सन् 1903 ई.)

हीरो जी को आप नहीं जानते, और यह दुर्भाग्य की बात है। इसका यह अर्थ नहीं कि केवल आपका दुर्भाग्य है दुर्भाग्य हीरो जी का भी है। कारण, वह बड़ा सीधा-सादा है। यदि आपका हीरो जी से परिचय हो जाए, तो आप निश्चय समझ लें कि आपका संसार के एक बहुत बड़े विद्वान् से परिचय हो गया। हीरो जी को जानने वालों में अधिकांश का मत है कि हीरो जी पहले जन्म में विक्रमादित्य के नव-रत्नों में एक अवश्य रहे होंगे और अपने किसी पाप के कारण उनको इस जन्म में हीरो जी की योनि प्राप्त हुई। अगर हीरो जी का आपसे परिचय हो जाए, तो आप यह समझ लीजिए कि उन्हें एक मनुष्य अधिक मिल गया, जो उन्हें अपने शौक से प्रसन्नतापूर्वक एक हिस्सा दे सके।

हीरो जी ने दुनिया देखी है। यहाँ यह जान लेना ठीक होगा कि हीरो जी की दुनिया मौज और मस्ती की ही बनी है। शराबियों के साथ बैठकर उन्होंने शराब पीने की बाजी लगाई है और हरदम जीते हैं। अफीम के आदी नहीं है; पर अगर मिल जाए तो इतनी खा लेते हैं, जिनती से एक खानदान का खानदान स्वर्ग की या नरक की यात्रा कर सके। भांग पीते हैं तब तक, जब तक उनका पेट न भर जाए। चरस और गाँजे के लोभ में साधु बनते-बनते बच गए। एक बार एक आदमी ने उन्हें संखिया खिला दी थी, इस आशा से कि संसार एक पापी के भार से मुक्त हो जाए; पर दूसरे ही दिन हीरो जी उसके यहाँ पहुँचे। हँसते हुए उन्होंने कहा-"यार, कल का नशा नशा था। रामदुहाई, अगर आज भी वह नशा करवा देते, तो तुम्हें आशीर्वाद देता।" लेकिन उस आदमी के पास संखिया मौजूद न थी।

हीरो जी के दर्शन प्रायः चाय की दुकान पर हुआ करते हैं। जो पहुँचता है, वह हीरो जी को एक प्याला चाय का अवश्य पिलाता है। उस दिन जब हम लोग चाय पीने पहुँचे, तो हीरो जी एक कोने में आँखें बंद किए बैठे कुछ सोच रहे थे। हम लोगों में बातें शुरू हो गईं, और हरिजन-आंदोलन से घूमते-फिरते बात आ पहुँची दानवराज बलि पर।

पंडित गोवर्धन शास्त्री ने आमलेट का टुकड़ा मुँह में डालते हुए कहा–"भाई, यह तो कलियुग है। न किसी में दीन है न ईमान। कौड़ी–कौड़ी पर लोग बेईमानी करने लग गए हैं। अरे, अब तो लिखकर भी लोग मुकर जाते हैं। एक युग था, जब दानव तक अपने वचन निभाते थे, सुरों और नरों की तो बात ही छोड़ दीजिए। दानवराज बलि ने वचनबद्ध होकर सारी पृथ्वी दान कर दी थी। पृथ्वी ही काहे को, स्वयं अपने को भी दान कर दिया था।"

हीरो जी चौंक उठे। खाँसकर उन्होंने कहा–"क्या बात है? ज़रा फिर से तो कहना!"

सब लोग हीरो जी ओर घूम पड़े। कोई नई बात सुनने को मिलेगी, इस आशा से मनोहर ने शास्त्री जी के शब्दों को दुहराने का कष्ट उठाया–"हीरो जी! ये गोवर्धन शास्त्री जो हैं, सो कह रहे हैं कि कलियुग में धर्मकर्म सब लोप हो गया। त्रेता में तो दैत्यराज बलि तक ने अपना सबकुछ केवल वचनबद्ध होकर दान कर दिया था।"

हीरो जी हँस पड़े, "तो यह गोवर्धन शास्त्री कहने वाले हुए और तुम लोग सुनने वाले, ठीक ही है। लेकिन हमसे सुनो, यह तो कह रहे हैं त्रेता की बात, अरे, तब तो अकेले बलि ने ऐसा कर दिया था। लेकिन मैं कहता हूँ कलियुग की बात। कलियुग में तो एक आदमी की कही हुई बात उसकी सात–आठ पीढ़ी तक निभाती गई और यद्यपि वह पीढ़ी स्वयं नष्ट हो गई, लेकिन उसने अपना वचन नहीं तोड़ा।"

हम लोग आश्चर्य में आ गए। हीरो जी की बात समझ में नहीं आई, पूछना पड़ा–"हीरो जी, कलियुग में किसने इस प्रकार अपने वचनों का पालन किया है?"

"लौंडे हो न!" हीरो जी ने मुँह बनाते हुए कहा–"जानते हो मुग़लों की सल्तनत कैसे गई?"

"हाँ! अँग्रेजों ने उनसे छीन ली।"

"तभी तो कहता हूँ कि तुम सब लोग लौंडे हो। स्कूली किताबों को रट–रट कर बन गए पढ़े लिखे आदमी। अरे, मुग़लों ने अपनी सल्तनत अँग्रेजों को बख्श दी।"

हीरो जी ने यह कौन–सा नया इतिहास बनाया? आँखें कुछ अधिक खुल गईं। कान खड़े हो गए। मैंने कहा–"सो कैसे?"

"अच्छा तो फिर सुनो!"–हीरो जी ने आरंभ किया–"जानते हो शहंशाह शाहजहाँ की लड़की शहजादी रौशनआरा एक दफे बीमार पड़ी थी, और उसे एक अँगरेज डॉक्टर ने अच्छा किया था। उस डॉक्टर को शहंशाह शाहजहाँ ने हिंदुस्तान में तिजारत करने के लिए कलकत्ते में कोठी बनाने की इजाजत दे दी थी।"

"हाँ, यह तो हम लोगों ने पढ़ा है।"

"लेकिन असल बात यह है कि शहजादी रौशनआरा–वही शहंशाह शाहजहाँ की लड़की–हाँ, वही शहजादी रौशनआरा एक दफे जल गई। अधिक नहीं जली थी। अरे, हाथ में थोड़ा–सा जल गई थी, लेकिन जल तो गई थी और थी शहजादी। बड़े–बड़े हकीम और वैद्य बुलाए गए। इलाज किया गया; लेकिन शाहजादी को कोई अच्छा न

कर सका—न कर सका। और शहजादी को भला अच्छा कौन कर सकता था? वह शहजादी थी न! सब लोग लगाते थे लेप, और लेप लगाने से होती थी जलन। और तुरंत शहजादी ने धुलवा डाला उस लेप को। भला शहजादी को रोकने वाला कौन था। अब शहंशाह सलामत को फिक्र हुई! लेकिन शहजादी अच्छी हो तो कैसे? वहाँ तो दवा असर करने ही न पाती थी।

उन्हीं दिनों एक अँगरेज घूमता-घामता दिल्ली आया। दुनिया देखे हुए, घाट-घाट का पानी पिए हुए पूरा चालाक और मक्कार! उसको शहजादी की बीमारी की खबर लग गई। नौकरों को घूस देकर उसने पूरा हाल दरियाफ्त किया। उसे मालूम हो गया कि शहजादी जलन की वजह से दवा धुलवा डाला करती है। सीधे शहंशाह सलामत के पास पहुँचा। कहा कि डॉक्टर हूँ। शहजादी का इलाज उसने अपने हाथ में ले लिया। उसने शहजादी के हाथ में एक दवा लगाई। उस दवा से जलन होना तो दूर रहा, उलटे जले हुए हाथ में ठंडक पहुँची। अब भला शहजादी उस दवा को क्यों धुलवाती। हाथ अच्छा हो गया। जानते हो वह दवा क्या थी? हम लोगों की ओर भेदभरी दृष्टि डालते हुए हीरो जी ने पूछा।

"भाई, हम दवा क्या जानें?" कृष्णानंद ने कहा।

"तभी तो कहते हैं कि इतना पढ़-लिखकर भी तुम्हें तमीज न आई। अरे वह दवा थी वेसलीन—वही वेसलीन, जिसका आज घर-घर में प्रचार है।"

"वेसलीन! लेकिन वेसलीन तो दवा नहीं होती।" मनोहर ने कहा।

हीरो जी संभलकर बैठ गए। फिर बोले—"कौन कहता है कि वेसलीन दवा होती है? अरे, उसने हाथ में लगा दी वेसलीन और घाव आप-ही-आप अच्छा हो गया। वह अँगरेज बन बैठा डॉक्टर—और उसका नाम हो गया। शहंशाह शाहजहाँ बड़े प्रसन्न हुए! उन्होंने उस फिरंगी डॉक्टर से कहा—"माँगो।" उस फिरंगी ने कहा—"हुजूर, मैं इस दवा को हिंदुस्तान में रायज करना चाहता हूँ, इसलिए हुजूर, मुझे हिंदुस्तान में तिजारत करने की इजाजत दे दें।"—बादशाह सलामत ने जब यह सुना कि डॉक्टर हिंदुस्तान में इस दवा का प्रचार करना चाहता है, तो बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—"मंजूर! और कुछ माँगो।" तब उस चालाक डॉक्टर ने जानते हो क्या माँगा? उसने कहा—"हुजूर मैं एक तंबू तानना चाहता हूँ, जिसके नीचे इस दवा के पीपे इकट्ठे किये जावेंगे। जहाँपनाह यह फरमा दें कि उस तंबू के नीचे जितनी जमीन आवेगी, वह जहाँपनाह ने फिरंगियों को बख्श दी।" शहंशाह शाहजहाँ थे सीधे-सादे आदमी, उन्होंने सोचा, तंबू के नीचे भला कितनी जगह आवेगी। उन्होंने कह दिया—"मंजूर।"

"हाँ, तो शहंशाह शाहजहाँ थे सीधे-सादे आदमी, छल-कपट उन्हें आता न था। और वह अँगरेज था दुनिया देखे हुए। सात समुद्र पार करके हिंदुस्तान आया था न! पहुँचा विलायत, वहाँ उसने बनवाया रबड़ का एक बहुत बड़ा तंबू और जहाज पर तंबू लदवाकर चल दिया हिंदुस्तान। कलकत्ते में उसने वह तंबू लगवा दिया। वह तंबू कितना ऊंचा था,

इसका अंदाज आप नहीं लगा सकते। उस तंबू का रंग नीला था। तो जनाब वह तंबू लगा कलकत्ते में, और विलायत से पीपे-पर-पीपे लद-लद कर आने लगे। उन पीपों में वेसलीन की जगह भरा था एक-एक अँगरेज जवान, मय बंदूक और तलवार के। सब पीपे तंबू के नीचे रखवा दिए गए। जैसे-जैसे पीपे जमीन घेरने लगे, वैसे-वैसे तंबू को बढ़ा-बढ़ाकर जमीन घेर दी गई। तंबू तो रबड़ का था न, जितना बढ़ाया, बढ़ गया। अब जनाब तंबू पहुँचा पलासी। तुम लोगों ने पढ़ा होगा कि पलासी का युद्ध हुआ था। अरे सब झूठ है। असल में तंबू बढ़ते-बढ़ते पलासी पहुँचा था, उस वक्त मुग़ल बादशाह का हरकारा दौड़ा था दिल्ली। बस यह कह दिया गया कि पलासी की लड़ाई हुई। जी हाँ, उस वक्त दिल्ली में शहंशाह शाहजहाँ की तीसरी या चौथी पीढ़ी सल्तनत कर रही थी। हरकारा जब दिल्ली पहुँचा उस वक्त बादशाह सलामत की सवारी निकल रही थी। हरकारा घबराया हुआ था। वह इन फिरंगियों की चालों से हैरान था। उसने मौका देखा न माहौल, वहीं सड़क पर खड़े होकर उसने चिल्लाकर कहा—"जहाँपनाह, गजब हो गया। ये बदतमीज फिरंगी अपना तंबू पलासी तक खींच लाए हैं, और चूँकि कलकत्ते से पलासी तक की जमीन तंबू के नीचे आ गई है, इसलिए इन फिरंगियों ने उस जमीन पर कब्जा कर लिया है। जो इनको मना किया तो इन बदतमीजों ने शाही फरमान दिखा दिया।" बादशाह सलामत की सवारी रुक गई थी। उन्हें बुरा लगा। उन्होंने हरकारे से कहा—"म्याँ हरकारे, मैं कर ही क्या सकता हूँ। जहाँ तक फिरंगियों का तंबू घिर जाए, वहाँ तक की जगह उनकी हो गई, हमारे बुजुर्ग यह कह गए हैं।" बेचारा हरकारा अपना-सा मुँह लेकर वापस आ गया।

"हरकारा लौटा, और इन फिरंगियों का तंबू बढ़ा। अभी तक तो आते थे पीपों में आदमी, अब आने लगा तरह-तरह का सामान। हिंदुस्तान का व्यापार फिरंगियों ने अपने हाथ में ले लिया। तंबू बढ़ता ही रहा और पहुँच गया बक्सर। इधर तंबू बढ़ा और उधर लोगों की घबराहट बढ़ी। यह जो किताबों में लिखा है कि बक्सर की लड़ाई हुई, यह गलत है भाई, जब तंबू बक्सर पहुँचा, तो फिर हरकारा दौड़ा।

"अब ज़रा बादशाह सलामत की बात सुनिए। वह जनाब दीवान खास में तशरीफ रख रहे थे। उनके सामने सैकड़ों, बल्कि हजारों मुसाहिब बैठे थे। बादशाह सलामत हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे—सामने एक साहब जो शायद शायर थे, कुछ गा-गाकर पढ़ रहे थे और कुछ मुसाहिब गला फाड़-फाड़कर 'वाह-वाह' चिल्ला रहे थे। कुछ लोग तीतर और बटेर लड़ा रहे थे। हरकारा जो पहुँचा तो यह सब बंद हो गया। बादशाह सलामत ने पूछा—"म्याँ हरकारे, क्या हुआ—इतना घबराए हुए क्यों हो?" हाँफते हुए हरकारे ने कहा—"जहाँपनाह इन बदजात फिरंगियों ने अँधेर मचा रक्खा है। वह अपना तंबू बक्सर खींच लाए।" बादशाह सलामत को बड़ा ताज्जुब हुआ। उन्होंने अपने मुसाहिबों से पूछा—"म्याँ, हरकारा कहता है कि फिरंगी अपना तंबू कलकत्ते से बक्सर तक खींच लाए। यह कैसे मुमकिन है?" इस पर एक मुसाहिब ने कहा—"जहाँपनाह ये फिरंगी जादू

जानते हैं, जादू!"–दूसरे ने कहा–जहाँपनाह, इन फिरंगियों ने जिन्नात पाल रक्खे हैं–जिन्नात सब कुछ कर सकते हैं।" बादशाह सलामत की समझ में कुछ आया नहीं। उन्होंने हरकारे से कहा–"म्याँ हरकारे तुम बतलाओ यह तंबू किस तरह बढ़ आया।" हरकारे ने समझाया कि तंबू रबड़ का है। इस पर बादशाह सलामत बड़े खुश हुए। उन्होंने कहा–"ये फिरंगी भी बड़े चालाक हैं, पूरे अकल के पुतले हैं।" इस पर सब मुसाहिबों ने एक स्वर में कहा–"इसमें क्या शक है, जहाँपनाह बजा फरमाते हैं।" बादशाह सलामत मुस्कराए–"अरे भाई, किसी चोबदार को भेजो, जो इन फिरंगियों के सरदार को बुला लावे। मैं उसे खिलअत दूँगा।" सब मुसाहिब कह उठे–"वल्लाह! जहाँपनाह एक ही दरियादिल हैं–इस फिरंगी सरदार को जरूर खिलअत देनी चाहिए।" हरकारा घबड़ाया। वह आया था शिकायत करने, यहाँ बादशाह सलामत फिरंगी सरदार को खिलअत देने पर आमादा थे। वह चिल्ला उठा–"जहाँपनाह! इन फिरंगियों ने जहाँपनाह की सल्तनत का एक बहुत हिस्सा अपने तंबू के नीचे करके उस पर कब्जा कर लिया है। जहाँपनाह, ये फिरंगी जहाँपनाह की सल्तनत छीनने पर आमादा दिखाई देते हैं।" मुसाहिब चिल्ला उठे–"ऐ, ऐसा गज़ब।" बादशाह सलामत की मुस्कराहट गायब हो गई। थोड़ी देर तक सोचकर उन्होंने कहा–मैं क्या कर सकता हूँ? हमारे बुजुर्ग इन फिरंगियों को उतनी जगह दे गए हैं, जितनी तंबू के नीचे आ सके। भला मैं कर ही क्या सकता हूँ, फिरंगी सरदार को खिलअत न दूँगा।" इतना कहकर बादशाह सलामत फिरंगियों की चालाकी अपनी बेगमात से बतलाने के लिए हरम के अंदर चले गए। हरकारा बेचारा चुपचाप लौट आया।

"जनाब! उस तंबू ने बढ़ना जारी रक्खा। एक दिन क्या देखते हैं कि विश्वनाथपुरी काशी के ऊपर वह तंबू तन गया। अब तो लोगों में भगदड़ मच गई। उन दिनों राजा चेतसिंह बनारस की देखभाल करते थे। उन्होंने उसी वक्त बादशाह सलामत के पास हरकारा दौड़ाया। वह दीवानखास में हाजिर किया गया। हरकारे ने बादशाह सलामत से अर्ज की कि वह तंबू बनारस पहुँच गया है, और तेजी के साथ दिल्ली की तरफ आ रहा है। बादशाह सलामत चौंक उठे। उन्होंने हरकारे से कहा–"तो म्याँ हरकारे, तुम्हीं बतलाओ, क्या किया जाए?" वहाँ बैठे हुए दो-एक उमराओं ने कहा–"जहाँपनाह, एक बड़ी फौज भेजकर इन फिरंगियों का तंबू छोटा करवा दिया जाए और कलकत्ते भेज दिया जाए। हम लोग जाकर लड़ने को तैयार हैं। जहाँपनाह का हुक्म भर हो जाए। इस तंबू की क्या हकीकत है, एक मर्तबा आसमान को भी छोटा कर दें।" बादशाह सलामत ने कुछ सोचा, फिर उन्होंने कहा–"क्या बतलाऊँ, हमारे बुजुर्ग शहंशाह शाहजहाँ इन फिरंगियों को तंबू के नीचे जितनी जगह आ जाए, वह बख्श गए हैं। बख्शीशनामा की रूह से हम लोग कुछ नहीं कर सकते। आप जानते हैं, हम लोग अमीर तैमूर की औलाद हैं। एक दफा जो ज़बान दे दी वह दे दी। तंबू का छोटा कराना तो गैरमुमकिन है। हाँ, कोई ऐसी हिकमत निकाली जाए, जिससे ये फिरंगी अपना तंबू आगे न बढ़ा सकें। इसके

लिए दरबारेआम किया जाए और यह मसला वहाँ पेश हो।"

"इधर दिल्ली में तो यह बातचीत हो रही थी और उधर उन फिरंगियों का तंबू इलाहबाद, इटावा ढँकता हुआ आगरे पहुँचा। दूसरा हरकारा दौड़ा। उसने कहा–"जहाँपनाह, वह तंबू आगरे तक बढ़ आया है। अगर अब भी कुछ नहीं किया जाता, तो ये फिरंगी दिल्ली पर भी अपना तंबू तान कर कब्जा कर लेंगे।" बादशाह सलामत घबराए–दरबारेआम किया गया। सब अमीर-उमरा इकट्ठा हो गए तो बादशाह सलामत ने कहा–"आज हमारे सामने एक अहम मसला पेश है। आप लोग जानते हैं कि हमारे बुजुर्ग शहंशाह शाहजहां ने फिरंगियों को इतनी जमीन बख्श दी थी, जितनी उनके तंबू के नीचे आ सके। इन्होंने अपना तंबू कलकत्ते में लगवाया था; लेकिन वह तंबू है रबड़ का, और धीरे-धीरे ये लोग तंबू आगरे तक खींच लाए। हमारे बुजुर्गों से जब यह कहा गया, तब उन्होंने कुछ करना मुनासिब न समझा; क्योंकि शहंशाह शाहजहाँ अपना कौल हार चुके हैं। हम लोग अमीर तैमूर की औलाद हैं और अपने कौल के पक्के हैं। अब आप लोग बतलाइए, क्या किया जाए।" अमीरों और मंसबदारों ने कहा–"हमें इन फिरंगियों से लड़ना चाहिए और इनको सजा देनी चाहिए। इनका तंबू छोटा करवाकर कलकत्ते भिजवा देना चाहिए।" बादशाह सलामत ने कहा–"लेकिन हम अमीर तैमूर की औलाद हैं। हमारा कौल टूटता है।" इसी समय तीसरा हरकार हाँफता हुआ बिना इत्तला कराए ही दरबार में घुस आया। उसने कहा–"जहाँपनाह, वह तंबू दिल्ली पहुँच गया। वह देखिए, किले तक आ पहुँचा।" सब लोगों ने देखा। वास्तव में हजारों गोरे खाकी वर्दी पहने और हथियारों से लैस बाजा बजाते हुए तंबू को किले की तरफ खींचते हुए आ रहे थे। उस वक्त बादशाह सलामत उठ खड़े हुए। उन्होंने कहा–"हमने तै कर लिया। हम अमीर तैमूर की औलाद हैं। हमारे बुजुर्गों ने जो कुछ कह दिया, वही होगा? उन्होंने तंबू के नीचे की जगह फिरंगियों को बख्श दी थी। अब अगर दिल्ली भी उस तंबू के नीचे आ रही है, तो आवे! मुगल सल्तनत जाती है, तो जाए, लेकिन दुनिया यह देख ले कि अमीर तैमूर की औलाद हमेशा अपने कौल की पक्की है।"–इतना कह बादशाह सलामत मय अपने अमीर उमरावों के दिल्ली के बाहर हो गए और दिल्ली पर अँगरक्ष्जों का कब्जा हो गया। अब आप लोग देख सकते हैं, इस कलियुग में भी मुगलों ने अपनी सल्तनत बख्श दी।"

हम सब लोग थोड़ी देर तक चुप रहे। इसके बाद मैंने कहा–"हीरो जी, एक प्याला चाय और पियो।"

हीरो जी बोल उठे–"इतनी अच्छी कहानी सुनाने के बाद भी एक प्याला चाय? अरे, महुवे के ठर्रे का एक अद्धा तो हो जाता।" ☐

मक्रील

यशपाल

(जन्म : सन् 1903 ई.)

गरमी का मौसम था। 'मक्रील' की सुहावनी पहाड़ी। आबोहवा में छुट्टी के दिन बिताने के लिए आयी सम्पूर्ण भद्र-जनता खिंचकर मोटरों के अड्डे पर-जहां पंजाब से आने वाली सड़क की गाड़ियां ठहरती हैं-एकत्र हो रही थीं। सूर्य पश्चिम में देवदारों से छायी पहाड़ी की चोटी के पीछे सरक गया था। सूर्य का अवशिष्ट प्रकाश चोटी पर उगे देवदारों से ढकी आग की दीवार के समान जान पड़ता था।

ऊपर आकाश में मोर-पूंछ के आकार में दूर-दूर तक सिन्दूर फैल रहा था। उस गहरे अर्गवनी रंग के पर्दे पर ऊंची, काली चोटियाँ निश्चल, शान्त और गंभीर खड़ी थीं। संध्या के झीने अंधेरे में पहाड़ियों के पार्श्व के वनों से पक्षियों का कलरव तुमुल परिमाण में उठ रहा था। वायु में चीड़ की तीखी गन्ध भर रही थी। सभी ओर उत्साह, उमंग और चहल-पहल थी। भद्र महिलाओं और पुरुषों के समूह राष्ट्र के मुकुट को उज्ज्वल करने वाले कवि के सम्मान के लिए उतावले हो रहे थे।

यूरोप और अमेरिका ने जिसकी प्रतिभा का लोहा मान लिया, जो देश के इतने अभिमान की सम्पत्ति है, वही कवि 'मक्रील' में कुछ दिन स्वास्थ्य सुधारने के लिए जा रहा है। मक्रील में जमी राष्ट्र-अभिमानी जनता, पलकों के पांवड़े डाल उसकी अगवानी के लिए आतुर हो रही थी।

पहाड़ियों की छाती पर खिंची धूसर लकीर-सी सड़क पर दूर धूल का एक बादल-सा दिखायी दिया। जनता की उत्सुक नजरें और उंगलियां उस ओर उठ गयीं। क्षण भर में धूल के बादल को फाड़ती हुई काले रंग की एक गतिमान वस्तु दिखायी दी। वह एक मोटर थी। आनन्द की हिलोर से जनता का समूह लहरा उठा। देखते-ही-देखते मोटर आ पहुंची।

जनता की उन्मत्तता के कारण मोटर को दस कदम पीछे ही रुक जाना पड़ा-'देश के सिरताज की जय!' 'सरस्वती के वरद पुत्र की जय!' राष्ट्र के मुकुट-मणि की जय!'

के नारों से पहाड़ियां गूंज उठीं।

मोटर फूलों से भर गयी। बड़ी चहल-पहल के बाद जनता से घिरा हुआ, मालाओं के बोझ से गर्दन झुकाए, शनैः शनैः कदम रखता हुआ मक्रील का अतिथि मोटर के अड्डे से चला।

उत्साह से बावली जनता जयनाद करती हुई आगे-पीछे चल रही थी। जिन्होंने कवि का चेहरा देख पाया, वे भाग्यशाली विरले ही थे। 'धवलगिरि' होटल में दूसरी मंजिल पर कवि को टिकाने की व्यवस्था की गयी थी। वहां उसे पहुंचा, बहुत देर तक उसके आराम में व्याघात कर, जनता अपने स्थान को लौट आयी।

क्वार की त्रयोदशी का चन्द्रमा पार्वत्य-प्रदेश के निर्मल आकाश में ऊंचा उठ अपनी शीतल आभा से आकाश और पृथ्वी को स्तम्भित किए था। उस दूध की बौछार में 'धवलगिरि' की हिमधवल दोमंजिली इमारत चांदी की दीवार-सी चमक रही थी। होटल के आंगन की फुलवारी में खूब चांदनी थी परन्तु उत्तरपूर्व के भाग में इमारत के बाजू की छाया पड़ने से अंधेरा था। बिजली के प्रकाश से चमकती खिड़कियों के शीशों और पर्दों के पीछे से आने वाली मर्मरध्वनि तथा नौकरों के चलने-फिरने की आवाज के अतिरिक्त सब शान्त था।

उस समय इस अंधेरे बाजू के नीचे के कमरे में रहने वाली एक युवती, फुलवारी के अन्धकारमय भाग में एक सरो के पेड़ के समीप खड़ी, दूसरी मंजिल में पुष्प-तोरणों से सजी उन उज्ज्वल खिड़कियों की ओर दृष्टि लगाए थी, जिनमें सम्मानित कवि को ठहराया गया था।

वह युवती भी उस आवेगमय स्वागत में सम्मिलित थी। पुलकित हो उसने भी 'कवि' पर फूल फेंके थे, जयनाद भी किया था। उस घमासान भीड़ में समीप पहुंच एक आंख कवि को देख लेने का अवसर उसे न मिला था। इसी साध को मन में लिए वह उस खिड़की की ओर टकटकी लगाए खड़ी थी। कांच पर कवि के शरीर की छाया उसे जब-तब दिखायी पड़ जाती।

स्फूर्तिप्रद भोजन के पश्चात् कवि ने बरामदे में आ काले पहाड़ों के ऊपर चन्द्रमा के मोहक प्रकाश को देखा। सामने संकरी धुंधली घाटी में बिजली की लपक की तरह फैली हुई मक्रील की धारा की ओर नजर गयी। नदी के प्रवाह की गम्भीर घरघराहट को सुन वह सिहर उठा। कितने ही क्षण मुंह उठाए वह मुग्धभाव से खड़ा रहा। मक्रील नदी के उद्दाम प्रवाह को उस उज्ज्वल चांदनी में देखने की इच्छा से कवि की आत्मा व्याकुल हो उठी। आवेश और उन्मेष का वह पुतला सौन्दर्य के रूप में आह्वान की उपेक्षा न कर सका।

सरो वृक्ष के समीप खड़ी युवती पुलकित भाव से देश-कीर्ति के उस उज्ज्वल नक्षत्र को प्यासी आंखों से देख रही थी। चांद के धुंधले प्रकाश में इतनी दूर से उसने जो भी देख पाया, उसी से सन्तोष की सांस ले उसने श्रद्धा से सिर नवा दिया। इसे ही अपना

सौभाग्य समझ वह चलने को थी कि लम्बा ओवरकोट पहले, छड़ी हाथ में लिए, दायीं ओर के जीने से कवि नीचे आता दिखायी पड़ा। पल भर में कवि फुलवारी में आ पहुंचा।

फुलवारी में पहुंचने पर कवि को स्मरण हुआ, ख्यातनामा मक्रील नदी का मार्ग तो वह जानता ही नहीं। इस अज्ञान की अनुभूति से कवि ने दाएं-बाएं सहायता की आशा से देखा। समीप खड़ी एक युवती को देख, भद्रता से टोपी छूते हुए उसने पूछा, "आप भी इसी होटल में ठहरी हैं?"

सम्मान से सिर झुकाकर युवती ने उत्तर दिया, "जी हां।"

झिझकते हुए कवि ने पूछा, "मक्रील नदी समीप ही किस ओर है, यह शायद आप जानती होंगी?"

उत्साह से कदम बढ़ाते हुए युवती बोली, "जी हां। यहीं सौ कदम पर पुल है।" और मार्ग दिखाने के लिए वह प्रस्तुत हो गयी।

युवती के खुले मुख पर चन्द्रमा का प्रकाश पड़ रहा था। पतली भवों के नीचे बड़ी-बड़ी आंखों में मक्रील की उज्ज्वलता झलक रही थी।

कवि ने संकोच से कहा, "न, न, आपको व्यर्थ कष्ट होगा।"

गौरव से युवती बोली, "कुछ भी नहीं, यही तो है, सामने!"

···उजली चांदनी रात में संगमरमर की सुघड़, सुन्दर सजीव मूर्ति-सी युवती ···साहसमयी, विश्वासमयी मार्ग दिखाने चली···सुन्दरता के याचक कवि को। कवि की कविता वीणा के सूक्ष्म तार स्पन्दित हो उठे ···सुन्दरता स्वयं अपना परिचय देने चली ···सृष्टि सौन्दर्य के सरोवर की लहर उसे दूसरी लहर से मिलाने ले जा रही है—कवि ने सोचा।

सौ कदम पर मक्रील का पुल था। दो पहाड़ियों के तंग दर्रे में से उद्दाम वेग और घनघोर शब्द से बहते हुए जल के ऊपर तारों के रस्सों में झूलता हल्का-सा पुल लटक रहा था। वे दोनों पुल के ऊपर जा खड़े हुए। नीचे तीव्र वेग से लाखों-करोड़ों पिघले हुए चांद बहते चले जा रहे थे, पार्श्व की चट्टानों से टकराकर वे फेनिल हो उठते। फेनराशि से दृष्टि न हटा कवि ने कहा, "सौन्दर्य उन्मत्त हो उठा है।" युवती को जान पड़ा, मानो प्रकृति मुखरित हो उठी है।

कुछ क्षण पश्चात् कवि बोला, "आवेग में ही सौन्दर्य का चरम विकास है। आवेग निकल जाने पर केवल कीचड़ रह जाता है।"

युवती तन्यमयता से उन शब्दों को पी रही थी। कवि ने कहा, "अपने जन्म-स्थान पर मक्रील न इतनी बेगवती होगी, न इतनी उद्दाम। शिशु की लटपट चाल से वह चलती होगी, समुद्र में पहुंच वह प्रौढ़ता की शिथिल गम्भीरता धारण कर लेगी।"

"अरी मक्रील! तेरा समय यही है। फुल न खिल जाने से पहले इतना सुन्दर होता है और न तब जब उसकी पंखुड़ियां लटक जाएं। उसका असली समय वही है, जब वह स्फुटोन्मुख हो। मधुमक्खी उसी समय उस पर निछावर होने के लिए मतवाली हो उठती है।" एक दीर्घ निःश्वास छोड़, आंखें झुका, कवि चुप हो गया।

मिनिट पर मिनिट गुजरने लगे। सर्द पहाड़ी हवा के झोंके से कवि के वृद्ध शरीर को समय का ध्यान आया। उसने देखा, मक्रील की फेनिल श्वेतता, युवती की सुघड़ता पर विराज रही है। एक क्षण के लिए कवि 'घोर शब्दमयी प्रवाहमयी' युवती को भूल मूक युवती का सौन्दर्य निहारने लगा। हवा के दूसरे झोंके से सिहरकर वह बोला, "समय अधिक हो गया है, चलना चाहिए।"

लौटते समय मार्ग में कवि ने कहा, "आज त्रयोदशी के दिन यह शोभा है। कल और भी अधिक प्रकाश होगा। यदि असुविधा न हो तो क्या कल भी मार्ग दिखाने आओगी?" और स्वयं ही संकोच के चाबुक की चोट खाकर वह हंस पड़ा।

युवती ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया, "अवश्य।"

सर्द हवा से कवि का शरीर ठिठुर गया था। कमरे की सुखद ऊष्णता से उसकी जान में जान आयी। भारी कपड़े उतारने के लिए वह परिधान की मेज (ड्रेसिंग टेबल) के सामने गया। सिर से टोपी उतार उसने ज्यों ही नौकर के हाथ में दी, बिजली की तेज रोशनी से सामने आईने में दिखायी पड़ा, मानों उसके सिर के बालों पर राज ने चूने से भरी कूची का एक पोत दे दिया हो और धूप में सुखाए फल के समान झुर्रियों से भरा चेहरा!

नौकर को हाथ के संकेत से चले जाने को कह वह दोनों हाथों से मुंह ढक कुर्सी पर गिर-सा पड़ा। मुंदी हुई पलकों में से उसे दिखायी दिया–चांदनी में संगमरमर की उज्ज्वल मूर्ति का सुघड़ चेहरा, जिस पर यौवन की पूर्णता छा रही थी, मक्रील का उन्माद भरा प्रवाह! कवि की आत्मा चीख उठी–यौवन! यौवन!

ग्लानि की राख के नीचे बुझती चिनगारियों को उमंग के पंखे से सजग कर, चतुर्दशी की चांदनी में मक्रील का नृत्य देखने के लिए कवि तत्पर हुआ। 'घोषमयी' मक्रील को कवि के यौवन से कुछ मतलब न था, और 'मूक मक्रील' ने पूजा के धूप-दीप के धूम्रावरण में कवि के नखशिख को देखा ही न था इसलिए वह दिन के समय संसार की दृष्टि से बचकर अपने कमरे में ही पड़ा रहा। चादंनी खूब गहरी हो जाने पर मक्रील के पुल पर जाने के लिए वह शंकित हृदय से फुलवारी में आया। युवती प्रतीक्षा में खड़ी थी।

कवि ने धड़कते हुए हृदय से उसकी ओर देखा–आज शाल के बदले वह शुतरी रंग का ओवरकोट पहने थी परन्तु उस गौर, सुघड़ नख-शिख को पहचानने में भूल हो सकती थी!

कवि ने गद्गद स्वर से कहा, "ओहो! आपने अपनी बात रख ली, परन्तु इस सर्दी में, कुसमय! शायद उसके न रखने में ही अधिक बुद्धिमानी होती। व्यर्थ कष्ट क्यों कीजिएगा? ··· आप विश्राम कीजिए!"

युवती ने सिर झुका उत्तर दिया, "मेरा अहोभाग्य है, आपका सत्संग पा रही हूं।"

कंटकित स्वर से कवि बोला, "सो कुछ नहीं, सो कुछ नहीं।"

पुल के समीप पहुंच कवि ने कहा, "आपकी कृपा है, आप मेरा साथ दे रही हैं।··· संसार

में साथी बड़ी चीज है।" मक्रील की ओर संकेत कर, "यह देखिए, इसका कोई साथी नहीं इसीलिए हाहाकार करती साथी की खोज में दौड़ती चली जा रही है।"

स्वयं अपने कथन की तीव्रता के अनुभव से संकुचित हो, हंसने का असफल प्रयत्न कर, अप्रतिभ हो वह प्रवाह की ओर दृष्टि गड़ाए खड़ा रहा। आंखें बिना ऊपर उठाए ही उसने धीरे-धीरे कहा, "पृथ्वी की परिक्रमा कर आया हूं··· कल्पना में सुख की सृष्टि कर जब मैं गाता हूं, संसार पुलकित हो उठता है। काल्पनिक वेदना के मारे आर्तनाद को सुन संसार रोने लगता है, परन्तु मेरे वैयक्तिक सुख-दुख से संसार को कोई सम्बन्ध नहीं। मैं अकेला हूं, मेरे सुख को बंटाने वाला कहीं कोई नहीं, इसलिए वह विकास न पा तीव्र दाह बन जाता है। मेरे दुःख का दुर्दम वेग असह्य हो जब उछल पड़ता है, तब भी संसार उसे विनोद का ही साधन समझ बैठता है। मैं पिंजरे में बन्द बुलबुल हूं। मेरा चहकना संसार सुनना चाहता है। मैं सुख से पुलकित हो गाता हूं, या दुख से रोता हूं इसकी चिन्ता किसी को नहीं··· ।

"काश। जीवन में मेरे सुख-दुख का कोई एक अवलम्ब होता। मेरा कोई साथी होता! मैं अपने सुख-दुख का एक भाग उसे दे, उसकी अनुभूति का भाग ग्रहण कर सकता! मैं अपने इस निस्सार यश को दूर फेंक संसार का जीव बन जाता।"

कवि चुप हो गया। मिनिट पर मिनिट बीतने लगे। ठंडी हवा से जब कवि का बूढा शरीर सिहरने लगा, दीर्घ निःश्वास ले उसने कहा, "अच्छा, चलें।"

द्रुतवेग से चली जाती जलराशि की ओर दृष्टि किए युवती कम्पित स्वर में बोली, "मुझे अपना साथी बना लीजिए।"

मक्रील के गम्भीर गर्जन में विडम्बना की हंसी का स्वर मिलाते हुए कवि बोला, "तुम्हें?" और चुप रह गया।

शरीर कांप उठने के कारण पुल के रेलिंग का आश्रय ले युवती ने लज्जा-विजड़ित स्वर में कहा, "मैं यद्यपि तुच्छ हूं···"

"न-न-न, यह बात नहीं।" कवि सहसा रुककर बोला, "उल्टी बात···हां, अब चलें।"

फुलवारी में पहुंच कवि ने कहा, "कल···" परन्तु बात पूरी कहे बिना ही वह चला गया। अपने कमरे में पहुंचकर सामने आईने की ओर दृष्टि न करने का वह जितना ही यत्न करने लगा, उतना ही स्पष्ट अपने मुख का प्रतिबिम्ब उसके सम्मुख आ उपस्थित होता। बड़ी बचैनी में कवि का दिन बीता। उसने सुबह ही एक तौलिया आईने पर डाल दिया और दिन भर कहीं बाहर न निकला।

दिन भर सोच और जाने क्या निश्चय कर संध्या समय कवि पुनः तैयार हो फुलवारी में गया। शुतरी रंग कोट में संगमरमर की वह सुघड़ मूर्ति सामने खड़ी थी। कवि के हृदय की तमाम उलझन क्षण भर में लोप हो गयी। कवि ने हंसकर कहा, "इस सर्दी में···? देश, काल, पात्र देखकर ही वचन का भी पालन किया जाता है।" पूर्णिमा के

प्रकाश में कवि ने देखा, उसकी बात के उत्तर में युवती के मुख पर संतोष और आत्म-विश्वास की मुस्कराहट फिर गयी। पुल पर पहुंच हंसते हुए कवि बोला, "तो साथ देने की बात सचमुच ठीक थी?"

युवती ने उत्तर दिया, "उसमें परिहास की तो कोई बात नहीं।"

कवि ने युवती की ओर देख साहस कर पूछा, "तो जरूर साथ दोगी?"

"हां।" युवती ने हामी भरी, बिना सिर उठाए ही।

"सब अवस्था में, सदा?"

सिर झुकाकर युवती ने दृढ़ता से उत्तर दिया, "हां।"

कवि अविश्वास से हंस पड़ा। "तो आओ," उसने कहा, "यहीं साथ दो, मक्रील के गर्भ में?"

"हां, यहीं सही।" युवती ने निर्भीक भाव से नेत्र उठाकर कहा।

हंसी रोककर कवि ने कहा, "अच्छा, तो तैयार हो जाओ–एक दो–तीन!" हंसकर कवि अपना हाथ युवती के कन्धे पर रखना चाहता था। उसने देखा, पुल के रेलिंग के ऊपर से युवती का शरीर नीचे मक्रील के उद्दाम प्रवाह की ओर चला गया।

भय से उसकी आंखों के सामने अंधेरा छा गया। हाथ फैलाकर उसे पकड़ने के विफल प्रयत्न में बड़ी कठिनता से वह अपने आपको सम्भाल सका।

मक्रील के घोर गर्जन में एक दफे सुनायी दिया–'छप' और फिर केवल नदी का गम्भीर गर्जन।

कवि को ऐसा जान पड़ा–मानो मक्रील की लहरें निरन्तर उसे 'आओ! आओ!' कहकर बुला रही हैं। वह अचेत ज्ञान-शून्य पुल का रेलिंग पकड़े खड़ा रहा। जब पीठ पीछे से चलकर चन्द्रमा का प्रकाश उसके मुंह पर पड़ने लगा, उन्मत्त की भांति लड़खड़ाता वह अपने कमरे की ओर चला गया।

कितनी देर तक वह निश्चल आईने के सामने खड़ा रहा। फिर हाथ की लकड़ी को दोनों हाथों से थाम उसने पड़ापड़ आईने पर कितनी ही चोटें लगायीं और तब सांस चढ़ जाने के कारण वह हांफता हुआ आईने के सामने की ही कुर्सी पर धम से गिर पड़ा–

प्रातःकाल हजामत के लिए गरम पानी लाने वाले नौकर ने देखा–कवि आईने के सामने कुर्सी पर निश्चल बैठा है, परन्तु आईना टुकड़े-टुकड़े हो गया है और उसके बीच का भाग गायब है। चौखट में फंसे आईने के लम्बे-लम्बे भाले के से टुकड़े मानो दांत निकालकर कवि के निर्जीव शरीर को डरा रहे हैं।

कवि का मुख कागज की भांति पीला और शरीर काठ की भांति जड़ था। उसकी आंखें अब भी खुली थीं, उनमें से जीवन नहीं, मृत्यु झांक रही थी। बाद में मालूम हुआ, रात के पिछले पहर कवि के कमरे से अनेक बार–'आता हूं, आता हूं' की पुकार सुनायी दी थी। □

सुरेन्द्र तिवारी

कहानी, नाटक तथा उपन्यास के क्षेत्र में समान रूप से लेखन। अनेक कहानियों के अनुवाद अन्य भारतीय भाषाओं में हो चुके हैं। रंगमंच के लिए कई नाटक लिखे तथा हिन्दी और पंजाबी में कई नाटकों का निर्देशन किया।

मौलिक लेखन के अतिरिक्त बांगला और पंजाबी से कुछ कहानियों और उपन्यासों का अनुवाद किया तथा हिन्दी के कुछ उपन्यासों का नाट्य रूपांतर भी।

कुछ प्रमुख पुस्तकें : 'दूसरा फुटपाथ', 'इसी शहर में', 'आशंकित अंधेरा', 'अनवरत तथा अन्य कहानियां' (कहानी संग्रह); 'दीवारें', 'एक और राजा', 'शेष नहीं', 'चबूतरा तथा अन्य नाटक' (नाटक); 'फिर भी कुछ', 'अंततः', 'अग्निपथ' (उपन्यास); 'कथारंग' (साक्षात्कार); मील का पहला पत्थर', 'नोबेल पुरस्कार विजेताओं की श्रेष्ठ कहानियां', 'काला नवम्बर', 'कथा-धारा' (संपादित) आदि। कुछ बाल पुस्तकें भी प्रकाशित।

संप्रति : भारतीय सूचना सेवा से सम्बद्ध!

ISBN 81-87368-65-9 (Set)
ISBN 81-87368-66-7 (i)
ISBN 81-87368-67-5 (ii)
ISBN 81-87368-68-3 (iii)
ISBN 81-87368-69-1 (iv)

मूल्य : 1600/- रुपये

नमन प्रकाशन

4378/4B, अंसारी रोड, दरिया गंज,
नई दिल्ली- 110002
फोन : 3261839, 3254306